ISBN 5-03-000419-X

वि॰ देमीदोव

दृश्य और दृष्टि

В. Демидов

КАК МЫ ВИДИМ ТО, ЧТО ВИДИМ

Издательство «Знание», Москва

वि॰ देमीदोव

दृश्य और दृष्टि

मीर प्रकाशन, मास्को

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
५ ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली-११००५५

V. Demidov
How We See What We See

на языке хинди
सोवियत संघ में मुद्रित

ISBN 5-03-000419-x

विषय-सूची

परिचय

दर्शनशास्त्र में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त विचेस्लाव देमीदोव (जन्म – 1930) इंजीनियर एवं पत्रकार हैं और सोवियत पत्रकार-संघ के सदस्य भी हैं। आपकी लेखनी विज्ञान के लोक-प्रचार को अर्पित है। मुख्य विषय हैं: रेडियो-ऐलेक्ट्रोनिकी, मशीन-निर्माण, और्जिकी, दृष्टि का मनोशरीरलोचन। अंतिम से संबंधित पुस्तक दृश्य और दृष्टि में देखने की प्रक्रिया का रोचक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इसमें परिवेश के दृश्य बिंबों और उनके मानसिक प्रतिरूपों, इनसे संबंधित शरीर-लोचनी एवं सामाजिक संवृत्तियों (दृष्टिभ्रम, फैशन, कला, सौंदर्य) आदि से संबंधित समस्याओं पर नर्वशरीरलोचन, मनोलोचन, चालिकी तथा आयुर की खोजों का वर्णन किया गया है।

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

इस पुस्तक के लेखक पत्रकार ही नहीं, इंजीनियर भी हैं। और स्वयं पुस्तक लेनिनग्राद के निकट एक स्थान कोल्तुशी में स्थित इ. पाव्लोव शरीरलोचनी संस्थान (सोवियत विज्ञान अकादमी) में दृष्टि-शरीरलोचन की प्रयोगशाला के वैज्ञानिकों के साथ पाँच वर्ष तक मिल कर सृजनात्मक काम करते रहने का प्रतिफल है। इस सारी अवधि लेखक प्रयोगशाला के सह-कर्मियों की सफलताओं-असफलताओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करते रहे और समय-समय पर उनके बारे में निबंध भी प्रकाशित करते रहे।

पुस्तक में उठायी गयी समस्याओं का वर्णन विचेस्लाव देमीदोव होलोग्राफिक परिकल्पना के प्रकाश में करते हैं। यह मस्तिष्क की कार्य-पद्धति को समझाने के लिये एक नयी परिकल्पना है, जिसके विकास में विश्व के अनेक वैज्ञानिक जुटे हुए हैं (फिर भी यह बता दें कि सभी अन्वीक्षक इससे सहमत नहीं हैं)। सोवियत वैज्ञानिकों, विशेषकर पाव्लोव शरीरलोचनी संस्थान में कार्यरत वैज्ञानिकों, की कृतियों को इस नयी परिकल्पना के विकास में एक विशेष स्थान प्राप्त है। और चूँकि होलोग्राफी इंजीनियरों की खोज है, इसलिये आप समझ सकते हैं कि बाह्यतः परस्पर असंबद्ध दिखने

वाले वैविध्यपूर्ण सूचनाओं के सागर पर होलोग्राफी रूपी कंपास के साथ यात्रा करना एक इंजीनियर के लिये इतना सरल क्यों रहा। वैसे, वास्तविकता में ये सूचनाएं विश्व के भौतिक अस्तित्व का आंतरिक एकत्व ही दर्शाती हैं।

बिल्कुल भिन्न समस्याओं के प्रति एकीकृत अभिगम (अध्ययन-पद्धति) का प्रयोग इस कृति में पूर्णतया सफल रहा है। दृश्य-बिंबों को पहचानने, फैशन की परिवर्तनशीलता, रंगों की अनुभूति और दृष्टि-उपकरणों के भिन्न उपतंत्रों की बनावट, दृष्टि-भ्रम तथा बाहरी दुनिया के आंतरिक (मानसिक) प्रतिरूपों की उत्पत्ति आदि से संबंधित प्रश्नों का एकल दृष्टिकोण से विश्लेषण करते हुए देमीदोव अनेक 'रहस्यमय' संवृत्तियों की सफल व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, विश्वसनीय परिकल्पनाएं विकसित करते हैं। फैशन की परिवर्तनशीलता, पेनरोज (Penrose) के त्रिभुज और 'असंभव' चित्रों के रहस्य को समझाने के लिये दी गयीं परिकल्पनाएं इसी श्रेणी में आती हैं। विविक्ति (ऐब्स्ट्रैक्शन) के अस्तित्व और सौंदर्य की अवधारणा की समस्याओं से संबंधित लेखक के विचार मौलिक तथा रोचक हैं। दृष्टिभ्रम वास्तव में दृष्टि-उपकरण की स्वचल कार्य-शुद्धता को प्रतिबिंबित करते हैं, आदमी के विगत अनुभवों से उत्पन्न मानसिक प्रतिरूपों के सही होने की पुष्टि करते हैं – इस सिद्धांत का पुस्तक में बहुत अच्छा निरूपण हुआ है, यद्यपि बाह्यतः यह विरोधाभासी लगता है।

अभिव्यक्ति की स्पष्टता, सुगमता और साथ ही वैज्ञानिक परिशुद्धता इस पुस्तक की असंदिग्ध खूबियां हैं। लेखक ने दृष्टि की समस्याओं के अध्ययन में रत अनेक देशी-विदेशी वैज्ञानिकों की कृतियों का उपयोग किया है। कइयों से देमी-

दोव स्वयं परिचित हैं, उनकी प्रयोगशालाओं में घूम चुके हैं, उनके प्रयोगों के साक्षी रह चुके हैं। इसीलिये तो वैज्ञानिक खोज-कार्यों के वातावरण का वर्णन रोचक एवं विश्वसनीय है। नर्वशरीरलोचन और मनोलोचन, चालिकी और आयुर जैसे विज्ञानों की अति जटिल समस्याओं का वर्णन सुंदर भाषा और उपयुक्त उपमाओं के माध्यम से किया गया है और सरलीकरण के अपने इस प्रयास में लेखक ने कहीं भी फूहड़पन नहीं आने दिया है। वे अनेक विज्ञानों की अवधारणाओं का उपयोग समान कुशलता से करते हैं, अनेक अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, अतः विचारों का विकासक्रम समझना पाठकों के लिये निस्संदेह सरल भी होगा और रोचक भी। होलोग्राफी की समस्या मुख्यतः गणितीय समस्या है, इसीलिये यह विशेष अच्छा लगता है कि उसे सूत्रों की सहायता के बिना ही समझाया जा सका है और वह भी इस तरह कि सभी स्तर के पाठक समझ सकें। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि देमीदोव ने विषय पर नवीनतम प्रकाशनों के भी निष्कर्षों का उपयोग किया है; इससे पुस्तक अभिनव, अद्यतन और ज्वलंत लगती है।

दृष्टि-उपकरण की कार्य-प्रणाली के अभिज्ञान का इतिहास प्रत्ययवाद के विरुद्ध विज्ञान के संघर्ष का इतिहास है। आधुनिक अन्वीक्षणों के परिणाम इस भौतिकवादी सिद्धांत को बार-बार सिद्ध करते हैं कि प्रकृति की सभी वस्तुएं, यहां तक कि दृष्टि और चिंतन भी, अभिज्ञेय हैं। 'आत्मा' की जगह विज्ञान ने मस्तिष्क में न्युरोनों के जाल के सहारे चलने वाली विद्युरसायनिक प्रक्रियाओं को मान्यता दी है, जिनकी पूर्णता हमें आश्चर्यचकित करती है। प्रयोग की तकनीक दिन ब दिन

सूक्ष्म होती जा रही है और वस्तुओं के सार को हम और भी गहराई से देख सकते हैं। आदमी स्वयं के ज्ञान को विकसित करता जा रहा है और ऐसे-ऐसे रहस्यों का उद्घाटन कर रहा है, जिनके सामने अंतरिक्ष और महासागरों के रहस्य भी कुछ नहीं हैं। लेकिन इसके साथ-साथ विज्ञान की भाषा भी जटिलतर होती जा रही है, वह इतने संकीर्णतर विषयों में विभक्त होता जा रहा है कि एक प्रयोगशाला में कार्यरत वैज्ञानिक बगल के कमरे में स्थित प्रयोगशाला की समस्याओं को मुश्किल से समझ पाता है। सूचनाओं का ढेर बरसात में पहाड़ी नदी की तरह उफनता हुआ बढ़ता जा रहा है। इसीलिये विज्ञानों, विशेष कर परस्पर संबंधित एवं संलग्न विषयों की उपलब्धियों को सर्वसुलभ बनाने का काम, विज्ञान-प्रचार का काम हमारे दिनों में बहुत महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है। ऐसी कृतियों से अक्सर वैज्ञानिकगण भी अपने लिये अनेक लाभदायक सूचनाएं प्राप्त करते हैं। देमीदोव की पुस्तक भी एक ऐसी ही कृति है, इसके माध्यम से बिल्कुल भिन्न ज्ञान-क्षेत्रों के विशेषज्ञों द्वारा प्राप्त परिणामों के व्यापकीकरण का प्रयास सफल हुआ है। इसमें व्यापकीकरण का प्रयास ही नहीं है, परिणामों को दैनंदिन जीवन की छोटी-बड़ी समस्याओं के साथ जोड़ने का भी प्रयास है, जिनसे हर आदमी परिचित होता है। और लेखक ने निश्चय ही इस कार्य को वैज्ञानिक की गंभीरता और साहित्यकार की सरसता के साथ संपन्न किया है।

– अकादमीशियन ओलेग गाजेन्को

द्वितीय संस्करण का प्राक्कथन

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण को अखिल सोवियत समाज 'ज्ञान' की ओर से लोकप्रिय वैज्ञानिक साहित्य की प्रतियोगिता में विशेष पुरस्कार मिला था। साथ-साथ इसे से. कीरोव सैन्य-आयुर अकादमी में नेत्रलोचन विभाग के विद्यार्थियों के लिये पठन-सामग्री के रूप में भी स्वीकार किया गया।

ये दो परस्पर असंबद्ध तथ्य एक ही बात की पुष्टि करते हैं: परिवेशी दुनिया की दृश्य अनुभूति जैसे कठिन और जटिल विषय पर पुस्तक लिखने में लेखक सफल रहे हैं। विषय अपने-आप में तो रोचक है ही। क्या हमारी दृष्टि प्रकृति का एक 'चमत्कार' नहीं है?! लेकिन वह इसलिये भी रोचक है कि इस प्राकृतिक संवृत्ति का रहस्योद्घाटन आधुनिक वैज्ञानिक व तकनीकी प्रगति की एक सबसे ज्वलंत समस्या – कृत्रिम मेधा की समस्या – के हल में सहायक होगा।

नये संस्करण में वैज्ञानिक और दार्शनिक दिग्ग्रह पहले से विस्तृत और गहन हुआ है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि तब से अनेक नये तथ्य और आँकड़े ज्ञात हुए हैं, जो पुस्तक के आधारभूत विचारों की और भी पुष्टि करते हैं। मस्तिष्क की सामान्य रचना, परिवेश को प्रतिबिंबित करने में मस्तिष्क के गोलार्धों की भूमिका और दृष्टि-उपकरण के कार्य में उसके विभिन्न हिस्सों की भूमिका के बारे में ज्ञान-वृद्धि हुई है। सोवियत विज्ञान अकादमी के इ. पाव्लोव शरीरलोचन-संस्थान की दृष्टि-शरीरलोचनी प्रयोगशाला के परिणामों को पहले की तरह आधार मानते हुए लेखक ने अन्य सोवियत एवं विदेशी वैज्ञानिकों द्वारा प्राप्त सूचनाओं का भी विस्तृत उपयोग किया

है, अतः नया संस्करण आम पाठकों के लिये ही नहीं, वरन् विशेषज्ञों के लिये भी रुचिकर होगा, उन्हें अनेक लाभदायक सूचनाएं प्राप्त होंगी।

—अकादमीशियन ओलेग गाजेन्को

हर चीज में इच्छा है मेरी,
देखूं सत्त्व उसका....

—बोरिस पास्तेरनाक

...मेरी आँखों के सामने, या और सही कहें, तो सिर्फ दायीं आँख के सामने, क्योंकि बायीं काले कागज से ढकी है, रंध्र से एक प्रकाशमान आयत दिख रहा है, जिसपर लहरदार रेखाओं की एक अजीब-सी जाली बनी हुई है। क्लिक! रेखाएं लुप्त होती हैं, आयत पल भर को सफेद हो जाता है; रेखाओं का ताना-बाना पुनः सामने आ जाता है।

—क्या देखा आपने?

—कुछ भी नहीं, —मैं ईमानदारी से जवाब देता हूँ।

—ठीक है। ऐसा ही होना था। और अब?

क्लिक। इस बार लगा कि किसी चौपाये की परिरेखा दिखी है।

—कुत्ता—मैं कहता हूँ।—या कोई दूसरा जानवर। ठीक से नहीं दिखा।

फिर से क्लिक होता है। रेखाओं की बनावट गायब होती है और इस बार साफ लगता है: बकरा! या हो सकता है कि बकरी: थन के बारे में शंका रह गयी थी....

—बकरी, —अलेक्सांद्रा नेव्स्काया बताती हैं।—आपको अभ्यास नहीं है, इसीलिये आपको एक सौ पचास मिलिसेकेंड लगे। आपको यह थोड़े पता था कि किसका चित्र दिखाऊंगी!

—और यदि मुझे अभ्यास होता और पता होता, तो?
—तब सौ या हो सकता है सिर्फ साठ मिलिसेकेंड लगते।
—ऐसा क्यों?
—इससे आपका दृष्टि-उपकरण 'लक्षण-वृक्ष' का चक्कर जल्द पूरा कर लेता...

इस तरह दृष्टि-शरीरलोचन की प्रयोगशाला के साथ मेरा परिचय शुरू हुआ था। इसके अध्यक्ष प्रोफेसर वादिम ग्लेजेर हैं; आगे मैं इसे सिर्फ प्रयोगशाला कहूँगा।

अध्याय 1

प्राग्चेतना

मनुज है जिज्ञासु
आस्था से
अज्ञेय की ज्ञेयता में।

—गेटे

शिशु लगभग प्रथम वर्ष के अंत में पहली बार 'माँ' शब्द का उच्चारण करता है। यह उच्च विविक्तियों के अनुबोधन का आरंभ है, क्योंकि शब्द एक विविक्ति है। लेकिन फिलहाल विविक्त की कोटि—शब्द और उससे द्योतित वस्तु के बीच की खाई—नगण्य है। 'माँ' शिशु के लिये सिर्फ एक है, जो उसकी है, अन्य नहीं है। हर गुड़िया का अपना नाम है, 'व्यापक अर्थ में गुड़िया' अस्तित्व नहीं रखती।

एक वर्ष और बीतता है; और शब्द 'गुड़िया' उसको भी द्योतित करता है, जिसे गोद में लेकर शिशु खिलाता है, और उसको भी, जिसके साथ अन्य बच्चे खेलते हैं, और उसको भी, जो दुकान के आले पर सजी होती है। शब्द सभी सदृश वस्तुओं को अपने में समाविष्ट करने लगता है और विविक्ति एक सीढ़ी ऊपर उठ जाती है।

एक-डेढ़ साल और बाद बच्चा 'खिलौना' शब्द का प्रयोग शुरू करता है, जिसमें गुड़िया भी आती है, प्लास्टिक का

सुग्गा भी और टिन का रंगीन जहाज भी। शब्द में 'विविक्ति की शक्ति' बहुत तेजी से बढ़ जाती है, वह ऐसी वस्तुओं को भी अपने में समेटता है, जो रूप, गुण तथा कार्य में बहुत भिन्न होती हैं। मस्तिष्क में संप्रेषित दृश्य-बिंब और वस्तु को द्योतित करने वाले शब्द के बीच कोई संबंध ढूंढ़ना मुश्किल होने लगता है।

अंत में, पाँच साल का होने पर बच्चा विविक्ति के उस स्तर का अनुबोध प्राप्त कर लेता है, कि उसे वयस्क व्यक्ति की बराबरी का दर्जा दिया जा सकता है। शब्द 'वस्तु' चीजों को ही नहीं द्योतित करता, उसमें निम्न कोटि की विविक्तियां भी शामिल हैं, जैसे—'खिलौना', 'बरतन', 'वस्त्र'।... शब्द का मूर्त्त बिंब के साथ संपर्क नगण्य हो जाता है।

मनोलोचक लोग बच्चे के विकास का यही वर्णन प्रस्तुत करते हैं।

नार्वशरीरलोचक बताते हैं कि लगभग इसी चार-पाँच वर्ष की उम्र से बच्चे के मस्तिष्क में एक ऐसी विशेषता स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगती है, जो बारह से चौदह साल के बीच हावी होने लगती है और सतरह वर्ष की उम्र तक पूर्णतया विकसित हो जाती है। यह विशेषता है: मस्तिष्क के बायें और दायें गोलार्धों के उच्च कार्यों की असममिति, उनकी असमानता। दायां गोलार्ध कलात्मक योग्यताओं के भंडार में परिणत होने लगता है, जिससे आदमी परिवेशी दुनिया को अखंड रूप में अनुभूत करता है, उसके सभी विवरणों एवं आभाओं का प्रत्यक्ष करता है। बायां गोलार्ध तर्क, तर्कसंगत कार्यों, सूत्रों और सभी प्रकार की विविक्तियों का निवास बनता है; शब्दों का भी, क्योंकि वे भी विविक्तियां ही हैं
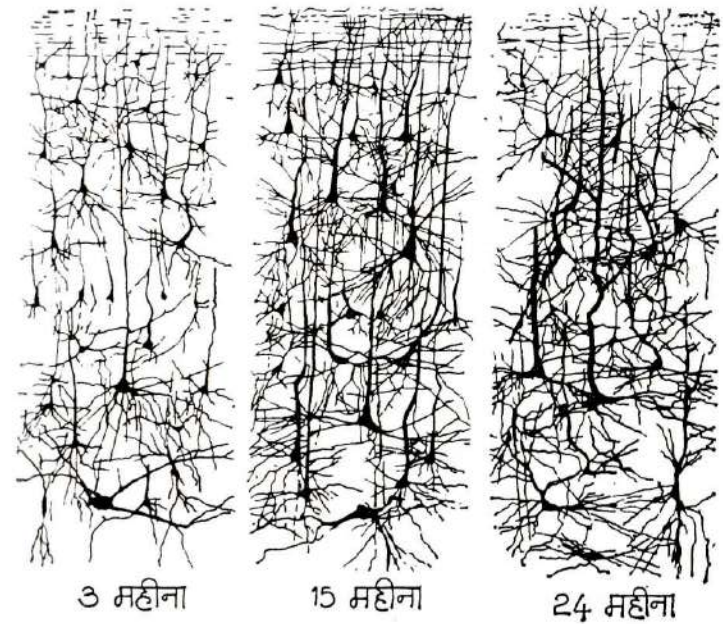
विकासशील जीव के प्रमस्तिष्क वल्कुट का संगठन दिन ब दिन जटिल होता जाता है।

(मस्तिष्क का ऐसा विभाजन कहां तक सही है, यह देखने का अवसर हमें आगे मिलेगा)।

एक उम्र तक दोनों ही गोलार्ध वाणी-बोध और वाणी-संचालन में सक्षम होते हैं। बाल-मस्तिष्क बहुत सुनम्य होता है: बायां गोलार्ध (जो वयस्क में 'शब्दों का निवास' है) यदि बीमारी या चोट से क्षतिग्रस्त हो जाता है, तो वाक्-क्रिया दाहिने गोलार्ध में स्थानांतरित हो जाती है। लेकिन यह एक निश्चित उम्र तक ही संभव है (मस्तिष्क के बारे में ठीक-ठीक कोई सीमा बता सकना कठिन है, पर सात वर्ष

से आगे वह शायद ही बढ़ती हो)। इसके बाद सुनम्यता लुप्त होने लगती है, दायां गोलार्ध पुनर्गठित होने की क्षमता खोकर सदा के लिये मूक हो जाता है। स्पष्ट है कि यह सब एक-बारगी से नहीं बल्कि धीरे-धीरे होता है, पर परिणाम ये ही मिलते हैं।

शब्द की 'विविक्ति-क्षमता' में वृद्धि और एक गोलार्ध का शब्दों के लिये विशेष पुनर्गठन – ये दो प्रक्रियाएं साथ-साथ चलती हैं। क्या यह संयोग है या इनके बीच कोई गंभीर संबंध है?

तीन शती पूर्व अंग्रेज दार्शनिक और शिक्षा-प्रवर्तक जोन लौक (Locke, 1632-1704) ने 'मानव-बुद्धि की परख' (Assay Concerning Human Understanding) नामक एक पुस्तक लिखी। यह उनके 20 वर्ष के चिंतन का फल था, जिसमें उन्होंने पूरे विश्वास के साथ लिखा था कि आत्मा में कोई जन्मजात विचार नहीं होता। उनका कहना था कि मानव-मस्तिष्क 'कोरा कागज' है जिसपर इंद्रियानुभूत जगत अपने चित्र बनाता है। अनुभव ही गुरू है। अनुभव से ऊपर कुछ नहीं है, उसका स्थान लेने वाला कोई नहीं है। यह थी लौक की शिक्षा।

वस्तु निकट है या दूर, छोटी है या बड़ी – यह चिंतन से नहीं, अनुभव और प्रयोग से ही जाना जा सकता है; इसके लिये निकट जाना चाहिये, नापना चाहिये, छू कर देखना चाहिये...

18—19-वीं शति के मध्य इसी विचार का समर्थन विख्यात जर्मन भाषाविद् एवं शिक्षा-प्रवर्तक विल्हेल्म फोन हुंबोल्ट (Humboldt, 1767-1835) कर रहे

थे (इनके भाई अलेक्जांड्र भी कम ख्यातिप्राप्त नहीं हैं और विज्ञान को दोनों पर गौरव है)। विल्हेल्म फोन हुंबोल्ट ने लिखा है: "आँख से प्रत्यक्ष देखने पर सिर्फ रंगीन धब्बे और उनकी सीमाएं अनुभूत होती हैं, वस्तुओं की परिरेखाएं नहीं। अंतिम का निर्धारण या तो ठोस पिंड को स्पर्श करने वाले हाथ की सहायता से संभव है या एक वस्तु को दूसरी से दूर करने वाली गति से।" वैज्ञानिक को लगता था कि आँख का कोई गुरू जरूर होना चाहिये और यह गुरू अन्य ज्ञानेंद्रियों को बनना चाहिये, जिन्हें पता नहीं क्यों स्वयं गुरू की आवश्यक्ता नहीं थी... कुछ अन्वीक्षक आज भी इसी मत के अवलंबी हैं।

इसमें कोई शक नहीं है कि परिवेशी दुनिया का सर्वांगीन ज्ञान प्राप्त करने के लिये एक चीज अत्यावश्यक है, जिसे दार्शनिक लोग अनुशीलन (अभिप्रेत तथा श्रमपूर्ण प्रयोग) कहते हैं, लेकिन अनुशीलन का अर्थ सिर्फ हाथ से स्पर्श और यांत्रिक गति संपन्न करना ही नहीं है। 'कोरा कागज' ज्ञानेंद्रियों से प्राप्त सिग्नल (संकेत) अनुभूत करने के लिये पर्याप्त नहीं है; इसके लिये जरूरी है कि इस कागज में अनुभव की क्षमता हो, वह विशेष रूप से संगठित हो। तभी तो महान जर्मन गणितज्ञ गोटफ्रीड विल्हेल्म लेइबनिट्स (Leibniz, 1646-1716) ने लौक का विरोध करते हुए कहा था कि हां, ज्ञानेंद्रियों की पहुँच से परे कुछ भी नहीं है, सिर्फ विवेक है, प्रज्ञा है। और विवेक के संगठन में केंद्रीय भूमिका दृष्टि की होती, जिसे अपने काम के लिये किसी अन्य सूचना-स्रोत की आवश्यकता नहीं होती (यद्यपि वह उसकी उपेक्षा नहीं करती)।

उदाहरण के लिये पक्षियों को ही लें: भेद करने ग्रौर पहचानने की क्षमता उन्हें जन्म से ही प्राप्त होती है। एक दिन का चूजा, जिसे कुछ सीखने का समय भी नहीं मिला है, गोल दानों को दस गुना ग्रधिक चुगता है, बनिस्बत कि पिरामिड की ग्राकृति के दानों को (जिन्हें प्रयोगकर्त्ता छींटता है)। इसी तरह वह समतल वृत्ताकार टुकड़ों की तुलना में ठोस गोलियों को ग्रधिक पसंद करता है। यदि उसे नन्हे वृत्तों ग्रौर गोलियों में से एक को चुनना पड़ता है, तो उसका ध्यान बिना किसी दुविधा के ठोस ग्राकृतियों पर ही जाता है, न कि समतल ग्राकृति पर। तात्पर्य यह है कि उसके लिये रोचक वस्तु वही होती है, जो उसे खाद्य पदार्थ की याद दिलाती है।

जन्म लेते ही चुगने की क्षमता को हम सहज वृत्ति कहते हैं। लेकिन क्या चुगना है, यह समझने की क्षमता? क्या यह भी सहज वृत्ति है? होने दीजिये। ग्रधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि चूजे का दृष्टि-उपकरण ठोस ग्रौर गोल (उनके लिये जीवनावश्यक) रूपों को पहचानने की क्षमता को जन्म के क्षण से ही प्रदर्शित करने लगता है।

लेकिन क्या सिर्फ खाद्य-ग्रखाद्य का ज्ञान ही विरासती होता है? प्रयोगकर्त्ता मुर्गी के चूजों को छोड़ कर सफेद समुद्री गल (gull, एक पक्षी) के नीड़-शावकों की ग्रोर उन्मुख होता है। घोंसले में माँ बच्चों को चोंच से खाना खिलाती है। प्रयोग के वक्त गल-शावक उन्हीं वस्तुग्रों को चुगने की कोशिश करते हैं, जो माँ की चोंच की याद दिलाती हैं।

कहीं ऐसा तो नहीं है कि दोनों ही उदाहरणों में हमारा वास्ता वस्तुग्रों में भेद करने की क्षमता के किसी विशेष रूप

से पड़ रहा है, जिसमें ग्राँख सिर्फ निकट की वस्तुग्रों को ग्रनुभूत कर सकती है? मिल्न-दंपति ग्रपनी पुस्तक "ग्रादमी ग्रौर जंतुग्रों की ग्रनुभूतियां" में लिखते हैं: एक दिन के चूजे ग्राकाश में उड़ते बतख ग्रौर बाज को पहचानने में कभी गलती नहीं करते, यद्यपि इनमें से किसी को भी पहले नहीं देखे होते हैं। बतख ग्रौर बाज में ग्रंतर बहुत छोटा सा है: बतख 'बाज का उल्टा' है। उसकी गरदन लंबी है ग्रौर दुम छोटी है, बाज की गरदन छोटी है ग्रौर दुम लंबी है। शायद मुख्य बात यह है कि ग्रागे की ग्रोर निकला हुग्रा भाग कैसा है – छोटा या लंबा। चूजों के बाड़े के ऊपर ग्रार-पार तने तार के सहारे भूसा भरी बाज की खाल को ग्रागे की ग्रोर खिसकाते ही चूजे डर के मारे पर्दे के पीछे छिपने लगते हैं, लेकिन उसी खाल को उल्टा (पीछे की ग्रोर) खिसकाने पर वे बिल्कुल शांत रहते हैं। इसीलिये इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता की चूजों का दृष्टि-तंत्र ग्रंडे से निकलते वक्त ही इतना विकसित होता है कि वे भिन्न वस्तुग्रों की ग्राकृति में भेद ग्रौर उनकी गति के ग्रनुरूप प्रतिक्रिया करने में समर्थ होते हैं। लेकिन ग्रन्वीक्षक के मन में दूसरी शंका उठती है: कहीं ऐसा तो नहीं है कि चूजों की दृष्टि इन्हीं वस्तुग्रों के लिये समंजित है, ग्रन्य के लिये नहीं?

यह शंका दूर हो जाती है, जब हम ग्रवछाप से परिचित होते हैं। इस ग्राश्चर्यजनक मनोलोचनी ग्रौर नर्वशरीरलोचनी युक्ति का सार एक उदाहरण से समझाया जा सकता है: बत्तख का बच्चा ग्रंडे से निकलने के बाद तेरहवें से सतरहवें घंटे के बीच ग्रपने पास किसी भी गतिशील वस्तु को 'माँ' समझ लेता है ग्रौर हमेशा उसी के पीछे लगा रहता है, जैसे

वह सचमुच उसकी 'माँ' हो; यह वस्तु कुछ भी हो सकती है, जैसे उष्मायित्र का कोई सहकर्मी, फूटबौल, या हरे रंग का डिब्बा, जिसके भीतर टेबुल घड़ी टिक-टिक कर रही हो। इस तथ्य के पीछे न तो रूप का अंतर्वृत्तिक (सहज) ज्ञान है और न प्रशिक्षण ही, क्योंकि वस्तुओं के रूप कल्पनातीत भिन्न हैं और जन्म लेने तथा 'आदत बनने' के बीच समय का अंतराल (अर्थात् प्रशिक्षण के लिये समय) बहुत कम है। इसके अतिरिक्त, अवछाप उत्पन्न होने की एक श्रेष्ठ (अनुकूलतम) अवधि होती है, जिसके बाद (चाहे कुछ घंटे ही क्यों न बीते हों) उसे उत्पन्न करना संभव नहीं होता। तब बतख के बच्चे के लिये सगी माँ भी परायी बतख ही रह जायेगी। इसका मतलब है कि वह वस्तुओं को स्पष्ट रूप में देखता है, उन्हें हमेशा के लिये याद कर लेता है और आँख के सामने उपस्थित अनगिनत वस्तुओं के बीच इसी दृश्य-बिंब को अलग करता है (दृश्य-बिंब क्या है, इस प्रश्न को हम फिलहाल अनुत्तरित छोड़ देते हैं)।

उच्च जंतुओं (विकास की सीढ़ी पर ऊँचे स्थित जंतुओं) में अवछाप की संवृत्ति नहीं होती। अन्वीक्षक बिल्ली के बच्चों की एक पलक जन्म के तुरंत बाद सी देते थे, फिर कुछ महीनों बाद सीयन खोल कर उनके साथ आचरण-संबंधी विभिन्न प्रयोग करते थे। जिस आँख से उन्होंने पहले कभी दुनिया नहीं देखी थी, उस आँख से वे उस व्यक्ति को भी नहीं पहचान पाते थे, जो उनके साथ काम करता था। सामान्य आँख हमेशा सही-सही पहचान लेती थी। यही नहीं, अस्थाई तौर पर बंद (अपवंचित) आँख इसमें भी अंतर नहीं कर पाती थी कि उसे दिखाये गये त्रिभुज का शीर्ष ऊपर है या नीचे। अनुभवहीन आँख के लिये समस्या बहुत कठिन होती थी! लेकिन अनुभाव-प्राप्त आँख के लिये यह समस्या बहुत ही सरल सिद्ध होती थी। लेकिन यह तथ्य कि दूसरी आँख समस्या हल कर लेती थी, इस बात का साक्षी है कि प्रयोग से मस्तिष्क के उच्च कार्यों को हानि नहीं पहुँची है। क्षति सिर्फ मस्तिष्क की ओर के मार्गों को पहुँची है। कौन से मार्ग हैं ये?

उत्तर तब मिला, जब यह स्थापित किया गया कि बिल्ली के बच्चों में स्थानांतरण नामक क्षमता लुप्त हो जाती थी। सामान्य ढंग से विकसित होने वाले जंतुओं में यह क्षमता बनी रहती है; इसका सार निम्न है: यदि एक आँख पर पट्टी बांध दी जाये और दूसरी से उन्हीं त्रिभुजों की पहचान से संबंधित परिस्थितिज प्रतिवर्त उत्पन्न किये जायें, तो पट्टी दूसरी आँख पर स्थानांतरित करने से आचरण में कोई परिवर्तन नहीं होता। पट्टी के स्थानांतरण का अर्थ है प्रशिक्षण का भी स्थानांतरण। अन्य शब्दों में, प्रशिक्षण किसी ऐसी चीज की होती है, जो हर आंख से प्राप्त संकेतों (सिग्नलों) को एक साथ एक पूर्ण चित्र में मिलाने वाली मस्तिष्क-कोशिकाओं (न्युरोनों) से परे होती है। सिग्नलों के ग्रहण और स्थानांतरण के लिये उत्तरदायी संरचना की अनुपस्थिति का अर्थ है संप्रेषण (या प्रवहण) के मार्ग की अनुपस्थिति। या और भी शुद्धता से कहा जाये, तो: न्युरोनों के बीच सिनाप्सिक संपर्कों की कमी या पूर्ण अनुपस्थिति।

सिनाप्स क्या है? यह नर्व-कोशिका से निकलने वाले रेशों (आक्सोनों; शब्दशः – अक्षाणु) के सिरों पर स्थित नन्ही सी उत्तल सतह को कहते हैं। क्षोभ का सिग्नल नर्व-कोशिका

के रेशे पर चलता हुआ सिनाप्स पर पहुँचता है और फिर एक विशेष रसायनिक द्रव्य (माध्यक) के सहारे अगली नर्व-कोशिका (न्युरोन ; शब्दशः – नर्वाणु) को संप्रेषित होता है। माध्यक को न्युरोन का मुख्य काय उत्पन्न करता है और बुलबुलों में भर कर उन्हें आक्सोनों पर सिनाप्स की ओर भेजता है ; हर बुलबुले में माध्यक के 10 से 100 हजार तक अणु हो सकते हैं। अब कोई तीस-एक प्रकार के माध्यक ज्ञात हो चुके हैं। इनमें से कुछ तो ग्राहक-न्युरोनों को उद्दीपित करते हैं, अन्य उनकी क्रियाशीलता को मंदित करते हैं। मस्तिष्क में हर न्युरोन औसतन हजारों अन्य न्युरोनों से सिग्नल प्राप्त करता रहता है और धनात्मक एवं ऋणात्मक अभिक्रियाओं के बीजगणितीय योगफल के अनुसार प्रतिक्रिया करता है। यदि दृष्टि-अभ्यास नहीं होगा, तो सिनाप्सिक संबंध बहुत ही विपन्न रहेंगे, यद्यपि आनुवंशिक युक्तियों द्वारा इस बात का पूर्वप्रबंध रहता है कि ऐसे संबंधों की संख्या कम न हो। तीन सप्ताह उम्र वाले बिल्ली के बच्चे को (उसकी उम्र तीन सप्ताह ही होनी चाहिये) तीन दिनों के लिये देखने की क्षमता से वंचित कर दीजिये। परिणाम में उसका नुकसान उतना ही होगा, जितना जन्म से नवें सप्ताह तक उसे दृष्टि से वंचित करने के प्रयोग में होता है। "विपरीत इंप्रिंटिंग"! और इसका कारण यह है कि ये तीन दिन ही ऐसे हैं, जिनमें दृष्टि-वल्कुट के न्युरोनों में सक्रिय सिनाप्सों का विरचन शुरू होता है।

यदि चिंपैंजी के बच्चे को अंधेरे में पाला जाये, और सिर्फ अत्यल्प काल के लिये क्षीण प्रकीर्णित प्रकाश किया जाये, तो उसकी दृष्टि ही नहीं खराब होगी, उसके मस्तिष्क में भी

परिवर्तन उत्पन्न हो जायेंगे। उनमें परिस्थितिज प्रतिवर्त बहुत धीमे उत्पन्न होंगे, बनिस्बत कि सामान्य परिस्थितियों में पले हुए उनके मित्रों में। प्रकाश की अनुपस्थिति का फल यह होता है कि प्रकाश में आने पर वे अन्य व्यक्तियों के बीच उस व्यक्ति को नहीं पहचान पाते, जो उनकी देख-भाल करता है। यहां तक कि दूध की बोतल भी, जो बंदरों के नन्हे बच्चों के लिये इतना आकर्षक होती है, शुरू-शुरू उनमें कोई भावावेग नहीं उत्पन्न करती। कई बार विशेष रूप से दिखाने के बाद ही वे मुश्किल से उसे पहचानना सीख पाते हैं। चटकदार खिलौने के साथ भी यही बात होती है। लेकिन सामान्य परिस्थितियों में पले उसी उम्र के बंदरों को (जिनके साथ प्रयोगाधीन बंदरों की तुलना की जाती है) कोई भी चीज एक बार दिखा देना काफी होता है, उनकी स्मृति पर उसकी छाप हमेशा के लिये पड़ जाती है।

कारण यही है कि "दृष्टि-संवेदनाओं से वंचित जंतु में तदनुरूप न्युरोन जीवरसायनिक दृष्टि से विकसित नहीं हो पाते" – यह नर्वशरीरलोचक खोसे देल्गादो की व्याख्या है, जो मस्तिष्क के कार्यों के अध्ययन के लिये विख्यात हैं। सूक्ष्मदर्शी में मस्तिष्क-कोशिकाएं सिकुड़ी सी और असामान्य लगती हैं, उनके रसायनिक विश्लेषण से पता चलता है कि उनमें प्रोटीन और रीबोनुक्लेइक अम्ल की मात्रा बहुत कम है ; अंतिम द्रव्य वही RNA (संक्षेप में : रीनु अम्ल) है, जो शरीर की जीवन-क्रिया के लिये एकमात्र महत्त्वपूर्ण चीज है। पूरे मस्तिष्क (प्रमस्तिष्क-वल्कुट) का भार 'सूचना-उपवास' के कारण सामान्य से कुछ कम रहता है।

1931 में जर्मन डाक्टर माक्स फोन जेंडेम ने कुछ बच्चों

की ग्राँखों से कैट्राक्ट दूर किया, जो जन्म से ग्रंधे थे। उनका बाकी दृष्टि-मार्ग ठीक-ठाक था। फिर भी "ग्रापरेशन के बाद प्रथम कुछ दिनों तक उनके लिये दृश्यजगत बिल्कुल निरर्थक रहा, यहां तक कि छड़ी या ग्रपनी प्रिय कुर्सी जैसी सुपरिचित वस्तुग्रों को भी वे छू कर ही पहचान पाते थे"। लंबे ग्रभ्यास के बाद ही वे वस्तुग्रों को देखना सीख पाये, फिर भी उनकी दृष्टि उतनी ग्रच्छी तरह काम नहीं करती थी, जैसी उस उम्र में होनी चाहिये थी। वे वर्ग ग्रौर षटकोण में भी मुश्किल से ग्रंतर कर पाते थे। ग्रंतर ज्ञात करने के लिये वे उंगलियों पर कोण गिनते थे ग्रौर उसमें भी गिनती से ग्रक्सर भटक जाते थे। साफ पता चलता था कि यह उनके लिये कठिन ग्रौर गंभीर समस्या थी। मुर्गा ग्रौर घोड़ा वे एक ही तरह ग्रनुभूत करते थे, क्योंकि दोनों ही के दुम होती थी। कहने का ग्रर्थ यह कि उनका निर्णय किसी एक लंछक (विशिष्ट) चिन्ह पर ग्राधारित होता था, सारे चिन्हों के संकुल की ग्रनुभूति पर नहीं। ग्रागे चल कर हम देखेंगे कि यह स्थिति शीर्ष-वल्कुट (चांद की हड्डी के नीचे मस्तिष्क के द्रव्य) के न्युरोनों के ठीक से काम नहीं करने का परिणाम है। इन्ही कारणों से मछली ऊँट लगती थी, क्योंकि उसका ऊपरी डैना कूबड़ की याद दिलाता था...

इस प्रकार नर्वशरीरलोचक निम्न निष्कर्ष पर पहुँचते हैं: "प्रिमातों (ग्रंग्रेजी: प्राइमेट्स; बंदर, मानव सरीखे उच्च श्रेणी के स्तनपायी जंतुग्रों) में देख कर शीघ्रता से सीखने की जो विशिष्ट क्षमता होती है, वह ऐसी जन्मजात नहीं होती कि ग्रनुभव पर निर्भर न करे"। इसीलिये एक विरोधाभास-युक्त तीखा विचार प्रस्तुत किया जाता है: जंतु (ग्रौर

ग्रादमी की ग्राँख।
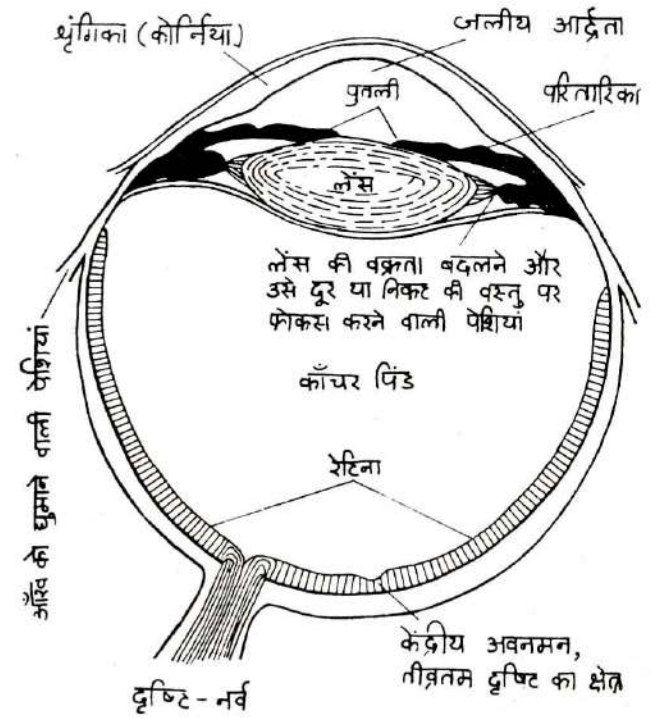
शायद ग्रादमी भी) वही कुछ देखते हैं (ग्रौर सही कहा जाये तो: पहचानते हैं) जो पहले कभी देख चुके होते हैं। जंतु जन्म से ही देखने का ग्रभ्यास करता है, भिन्न से भिन्न प्रकार की वस्तुग्रों ग्रौर दृश्यों को देखने के हर मौके का उपयोग करता है। सिर्फ इसी स्थिति में दृष्टि-मार्ग ऐसे संचार-मार्ग में परिणत होता है, जिसके सहारे मस्तिष्क में हमारे ज्ञानेंद्रियों से ग्रनुभूत नब्बे प्रतिशत सूचनाएं पहुँचती हैं।

यही मार्ग धीरे-धीरे ग्रन्य ज्ञानेंद्रियों के लिये भी शिक्षक का काम करने लगता है।

अल्पनाकार (डिजाइनर) निम्न तथ्य प्रस्तुत करते हैं: कुछ विशेषज्ञों की आँख पर पट्टी बांध कर उन्हें नौ कुर्सियों को उनके आरामदेह होने के क्रम में रखने को कहा गया। इसके बाद यही काम खुली आँखों से करने को कहा गया। बंद आँख से मूल्यांकन करने पर जिस कुर्सी को दूसरा स्थान प्राप्त हुआ था वह अंतिम स्थान प्राप्त हुआ और जो कुर्सी छठे स्थान पर थी, प्रथम स्थान पर आ गयी!

मनोलोचकों (मनोवैज्ञानिकों) के पास भी उदाहरण हैं: जब प्रयोगकर्ता दो भागों में कटी आकृति को छू कर जोड़ने को कहता है और फिर टेबुल पर बिखरी अन्य आकृतियों के बीच उसे ढूंढ़ने को कहता है, तो आँखों पर पट्टी बांधे लोग (जो सामान्य स्थितियों में देख सकते हैं) यह काम बहुत अच्छी तरह कर लेते हैं, बनिस्बत कि जन्म से दृष्टि-हीन लोग; जिनलोगों की दृष्टि बचपन में खो चुकी है, उनकी सफलता इन दोनों ग्रुपों के बीच होती है। लकड़ी के विभिन्न ज्यामितिक आकृतियों के टुकड़ों से बिना देखे सिर्फ छू कर विभिन्न व्यौम बनावटें खड़ी करने के काम में भी यह बात देखी जाती है। फ्रांसीसी मनोलोचक निष्कर्ष निकालते हैं कि "इस तथ्य को दृष्टि-अनुभव की उपस्थिति से ही समझाया जा सकता है"। आगे वे कहते हैं: टटोलने से प्राप्त सूचनाएं (जो निस्संदेह दृष्टिहीन लोगों में अधिक सूक्ष्म होती हैं, बनिस्बत कि दृष्टिक्षम लोगों में) सिर्फ एक 'ढाँचे' की भूमिका निभाती हैं, जो दृश्य-स्मृति को सक्रिय करती हैं; दृष्टिक्षम आदमी इसी के सहारे काम करने लगता है।

अतः बात दृष्टि-अनुभव पर रुकती है। किस चीज पर वह अंकित होता है? क्या उसके लिये कोई 'कोरा रेकार्ड' पहले

से तैयार होता है या उसे विरचित होना पड़ता है, ताकि दृष्टि काम करने लगे? प्रयोगकर्ताओं के हाथ में अन्वीक्षण का अब एक सशक्त साधन है–आँख की गति का चलचित्र प्राप्त करना। खिलौने का दृश्य-निरीक्षण करते वक्त (उदाहरणार्थ) पूरे मस्तिष्क की वैद्युत सक्रियता–वैद्युत विभवों–का अभिलेख भी चिंतन के लिये कम मसाला नहीं प्रस्तुत करता। इससे ज्ञात हुआ कि जन्म के आठ-दस घंटे बाद नव-जात शिशु चितकबरी काली-सफेद तालिकाओं को अधिक रूचि से देखता है, बनिस्बत कि किसी एक रंग से रंगी तालिका को। त्रिभुज या वर्ग दिखाने पर शिशु की दृष्टि कम बेतरती-बी से घूमती है, निगाहें अक्सर शीर्षों पर आ टिकती हैं। देखने की प्रक्रिया में उत्पन्न वैद्युत विभवों का अभिलेख यह दर्शाता है कि छे से आठ दिन की उम्र से ही बच्चा शतरंज के काले-सफेद घरों के आकार में परिवर्तन के अनुसार प्रति-क्रिया करता है। इससे भी पहले, चार दिन की ही उम्र से वह अंडाकार आकृति पर अधिक ध्यान देता है, जिसमें खुशमि-जाज आदमी का चेहरा बना होता है, बनिस्बत कि ऐसे चित्र पर, जिसमें आदमी के चेहरे के भाग बेतरतीबी से बिखरे होते हैं। लेकिन इससे भी सनसनीखेज खबर बिल्कुल हाल में आयी है: सिर्फ बयालिस मिनट का बच्चा जीभ दिखाने वाले बड़े आदमी की नकल करता है।

निस्संदेह, इतनी कम उम्र में दृष्टि-उपकरण की पूर्णता बहुत ही सापेक्षिक बात है, आँखों को और भी वर्षों तक सीखने की जरूरत पड़ती है, फिर भी वह कहीं ज्यादा अच्छी तरह काम करता है, बनिस्बत कि जैसा पहले सोचा जाता था। इसका पता तब चला, जब वैज्ञानिक लोगों ने शिशुओं की

क्षमताओं का गंभीरता से अध्ययन शुरू किया। और जब हमारे मस्तिष्क की असीम दृश्य-स्मृति के साथ परिचय होता है, तो दृष्टि के रहस्यों को जानने की उत्कंठा और भी बढ़ती है।

आपको कुछेक हजार (हजार ही, कम नहीं) सीन-सीनरी के चित्र दिखाये जायेंगे, फिर एक महीने बाद दुहरा कर दिखाये जायेंगे, लेकिन चालाकी से कुछ चित्र बदल कर। दस में सात बार या अक्सर इससे भी अधिक बार आप अपरिचित चित्रों को तुरंत पहचान लेंगे और कहेंगे: "लगता है, पिछली बार इसे नहीं देखा था..."। 'लगता है' का क्या मतलब है? प्रयोगकर्ता स्पष्ट करने के लिये पूछता है। आप सोचते रहेंगे, अंतर याद करने की कोशिश करेंगे, लेकिन कोई फल नहीं मिलेगा...

"स्मृति में चित्र शब्दों के रूप में नहीं रहते"—प्राकृतिक दृश्यों को पहचानने से संबंधित प्रयोगों के बारे में अपने निबंध में अमरीकी शरीरलोचक रोनैल्ड हैबर लिखते हैं। यह उन लोगों पर एक जोरदार चोट है, जो यह सोचते हैं कि मस्तिष्क का काम वाक् (शब्दों) के आधार पर होता है। ("वस्तुओं की आत्मगत अनुभूति से संबंधित सारा काम भाषा बनाने और उसके उपयोग में साकार होता है"—ये शब्द हुंबोल्ट ने हैबर के प्रयोगों से कोई डेढ़ सौ वर्ष पूर्व लिखे थे, जिन्हें कभी-कभी बाइबिल की निम्न प्रस्थापना को सिद्ध करने के लिये उद्धृत किया जाता है: आरंभ में शब्द था।) लेकिन बात उल्टी है: लोग अक्सर शब्दों को ही मन में दृश्य-रूपों के साथ संबंधित कर के याद करने (रटने) की कोशिश करते हैं; इसका उदाहरण म्नेमोनिक्स (स्मरणविद्या) है, जिसका

उपयोग प्राचीन ग्रीस में भी करते थे। यह माना जाता है कि इसके सिद्धांतों को पीथागोरस ने निरूपित किया था। वैसे तो इसके प्रथम प्रवर्तक होने का दावा बहुत से लोग कर सकते हैं, लेकिन लगता है कि यह पीथागोरस ही थे। उनका प्रकृति के संचालन में संख्याओं के सुसामंजस्य का सिद्धांत ही स्मरण कीजिये... स्मरणविद्या में पटु लोग गणित और ज्यामिति के एक विशेष मिश्रण के उपयोग की सलाह देते थे: कमरों, घरों, गलियों की नियमित बनावट वाले एक शहर की कल्पना कीजिये; हर कमरे, घर, गली आदि में कोई वस्तु, अवधारणा या साध्य रखा हुआ है, जिसे याद करना है। हर गली विज्ञान की किसी एक शाखा के लिये रखी जा सकती है (उदाहरणार्थ), उसपर स्थित सभी घरों में उस विज्ञान-शाखा का सारा ज्ञान वितरित किया जा सकता है। इस मानसिक चित्र की सहायता से जरूरत पड़ने पर आवश्यक तथ्य स्मरण कर लिया जा सकता है, उसका उपयोग किया जा सकता है।

आजकल स्मारिकी (स्मरणविद्या) में कोई रुचि नहीं लेता, क्योंकि अभी तक किसी ने विश्वस्त रूप से यह सिद्ध नहीं किया है कि इससे याद्दाश्त सुधरती है। बात यही नहीं है कि इसमें वस्तुओं को बिंबों के रूप में देखना पड़ता है; यह अपेक्षाकृत सरल काम है। कठिनाई यह है कि इसमें विविक्त (अमूर्त्त) अवधारणाओं (जैसे संख्याओं) को भी मूर्त्त बिंबों का रूप देना पड़ता है। इसके लिये कल्पनाशक्ति बहुत तीव्र होनी चाहिये। फिर भी ऐसे लोग मिल जाते हैं, जो 'स्मारिकी के नगर' में अपने को पानी में मछली की तरह महसूस करते हैं।

ऐसे एक आदमी का रोचक वर्णन आप विख्यात सोवियत शरीरलोचक अकादमीशियन अ. लूरिया द्वारा लिखित 'विशाल स्मृति के बारे में एक नन्ही सी पुस्तक' में पढ़ सकते हैं। इसमें एक पेशेवर स्मृतिवीर क. पर लेखक द्वारा संपादित प्रेक्षणों का इतिहास है, जो कई दशाब्दियों तक चले थे। क. की स्मृति सचमुच असीम भी: "उसके लिये कोई फर्क नहीं पड़ता कि याद करने के लिये उसे शब्दों का कतार दिया जा रहा है या अक्षरों, संख्याओं अथवा कोरी ध्वनियों का, और ये अर्थहीन हैं या अर्थवान, लिखित रूप में हैं या मौखिक रूप में; उसके लिये इतना ही महत्त्वपूर्ण है कि कतार के सदस्यों के बीच कम से कम दो-तीन सेकेंड का अंतराल हो। फिर तो पूरी कतार दुहराने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती थी। स्मृति का आयतन नापना मनोलोचक के लिये सबसे सरल काम है, लेकिन क. के केस में वह निस्सहाय था।"

क. को जो भी कतार दी जाती थी, उसे वह कई-कई वर्षों के बाद भी दुहरा दिया करता था; कभी कोई गलती नहीं होती थी। कैसे वह याद करता था? दृष्टि की सहायता से! जो भी सारणी उसे दिखायी जाती थी, उसकी वह दृष्टि से 'फोटोग्राफी' कर लेता था और वह उसके मस्तिष्क में अमिट छाप छोड़ जाती थी। यदि कतार उसे बोल कर सुनाया जाता था, तो याद करने की युक्ति दूसरी होती थी, यद्यपि वह भी दृष्टि से ही संबंधित होती थी। वह शब्द-बिंबों को किसी सड़क के किनारे-किनारे स्थापित कर देता था (अक्सर मास्को के गोर्की पथ पर)। उसकी कल्पना में अंक लोगों की आकृतियों में परिणत हो जाते थे: सात का अंक मुछैल में, आठ का अंक गोल-मटोल औरत में; इस
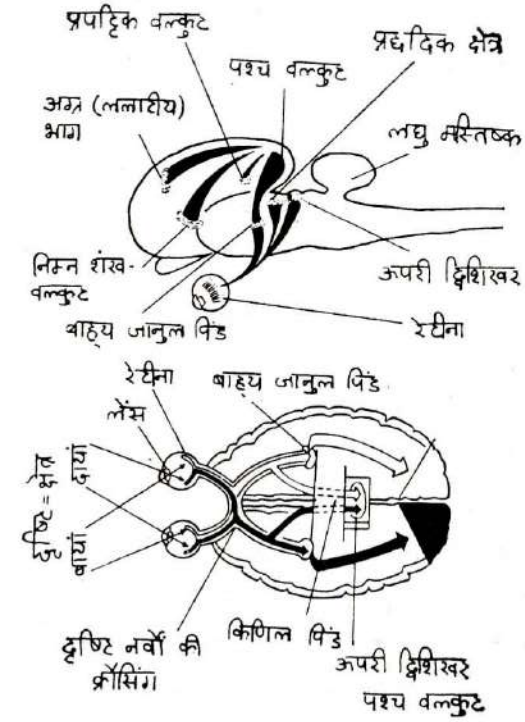
स्तनपायी जंतुओं का दृष्टि-तंत्र। नीचे: दृश्य-सूचनाएं बाह्य जानुल पिंड से हो कर वल्कुट के पश्च भाग में भी पहुँचती हैं और मध्य मस्तिष्क में भी (जो प्राचीनतर अंग है)।

तरह संख्या 87 मुँछ वाले के साथ गोल-मटोल औरत के रूप में खड़ी हो जाती थी। शब्द 'घुड़सवार' को वह एक घुड़सवार के ही रूप में देखता था, लेकिन जब वह पेशेवर स्मृतिवीर के रूप में मंच पर आने लगा, तो एड़ लगे बूट की आकृति से ही काम चला लेता था।

जब बिंब अपनी जगहों पर स्थित हो जाते थे, तो क. सड़क पर (अपनी कल्पना में) घूमता हुआ उनके क्रम को

याद कर लेता था – किसी भी स्थान से, किसी भी दिशा में। भूलें बहुत विरल होती थीं। जैसे, कभी-कभी किसी शब्द से संबंधित आकृति सड़क पर किसी खंभे की ओट में खड़ी हो जाती थी, तो क. उसे ठीक से देख नहीं पाता था। एक बार शब्दों के क्रम में वह 'पेंसिल' शब्द को भूल गया; जब उसे बताया गया, तो उसने इस भूल का कारण निम्न शब्दों में समझाया: "पेंसिल को मैंने बाड़े के पास खड़ा कर दिया था, लेकिन वह बाड़े के खंभों से इतना हिल-मिल गया कि मैं उसे देख ही नहीं पाया"।

बहुत समय से यही माना जाता था कि सोचने की क्षमता का आधार यही है कि आदमी बोल सकता है। भौतिकविदों और गणितज्ञों से बात-चीत करने के बाद पता चला कि बात कहीं अधिक जटिल है। अल्बर्ट आइंस्टीन, जिनके चिंतनशील होने में कोई संदेह नहीं हो सकता, कहते हैं: "यह स्पष्ट है कि चिंतन की प्रक्रिया में लिखित या बोलित भाषा के शब्दों का कोई भी महत्त्व नहीं है। मानसिक विधाएं, जो शायद चिंतन के तत्त्व हैं, नियत प्रतीक और कमोबेश रूप से स्पष्ट बिंब हैं, जिन्हें स्वेच्छा से उत्पन्न किया जा सकता है और आपस में विभिन्न प्रकार से मिलाया जा सकता है।... साधारण शब्द तथा अन्य प्रतीक दूसरे चरण पर बहुत कठिनाई से ढूंढ़े जाते हैं, जब बिंबों के मेल का खेल एक अंतिम रूप प्राप्त कर लेता है और उसे इच्छानुसार दुहराया जा सकता है"। यदि अन्य शब्दों में कहा जाये, तो वाक् (भाषा) और कुछ नहीं, चिंतन के एक निश्चित चरण पर मस्तिष्क से सूचना निकालने और दूसरे के मस्तिष्क में उसे भरने की एक युक्ति है, जहां विशेष प्रकार की संरचनाएं उसका

संसाधन करती हैं; ये संरचनाएं संभवतः दृष्टि से संबंध रखती हैं। निस्संदेह, "भाषा से ही चेतना का सामाजिक जीवन के आत्मिक (अभौतिक) उत्पाद के रूप में विरचन एवं विकास होता है, मानवीय कार्यकलापों और विचारों के आदान-प्रदान का विरासतन होता है"। 'वृहत सोवियत विश्वकोष' के इन शब्दों को काटना मुश्किल है। लेकिन आविष्कारक, वास्तुकार, अल्पनाकार आदि ऐसी घटनाएं बता सकते हैं, जब किसी जटिल प्रश्न का हल स्वप्न में चित्र के रूप में प्राप्त हो जाता है। इसीलिये दार्शनिक-गण निम्न निष्कर्ष पर पहुँचते हैं: "वागातीत (वागितर) विचारों का अस्तित्व है और वे अभिज्ञान-प्रक्रिया के अनिवार्य घटक हैं"।

यदि उपरोक्त बात सही है, तो एक अजीब समस्या उत्पन्न होती है: नर्वशरीरलोचकों को प्रमस्तिष्क-वल्कुट की उच्चतम संरचनाओं तक भी दृष्टि-तंत्र एवं वाक्-तंत्रों के बीच कोई निकट का संबंध नहीं दिखता। इसका मतलब है कि यदि आदमी से पूछा जाये कि देखने में 'प' और 'पा' के बीच क्या अंतर है, तो उसके पूर्णतया तर्कसंगत उत्तर से (कि एक में आ-कार या पाई का चिन्ह है) हम प्रक्रिया की गहराई तक नहीं जा सकेंगे। इस रीति से हम यह नहीं ज्ञात कर सकेंगे कि दृष्टि-तंत्र किस प्रकार से अक्षरों में भेद कर के वाक्-उपकरण को इसकी सूचना देने में सक्षम बनाता है। विभेदक लक्षण या चिन्ह तर्क द्वारा नहीं निर्धारित होते (जिससे परे सार्थक वचन का अस्तित्व ही नहीं है), वरन् किसी और चीज से निर्धारित होते हैं। किस चीज से?

यह जानने के लिये पहले कोडों के बारे में बात करनी होगी। आँख की रेटीना पर साढ़े बारह करोड़ प्रकाश-संवेदी

कोशिकाएं – प्रकाश-ग्रभिग्राहक – हैं, लेकिन दृष्टि-नर्व में सिर्फ 80 हजार तंतु (रेशे) हैं। ग्रतः प्रथम चरण पर ही दृष्टि-संकेतों का कोई रूपांतरण हो जाता है। इसके बाद एक-एक कर जानुल पिंड, पश्च वल्कुट ग्रादि की बारी ग्राती है ग्रौर इन सभी स्थलों पर ग्रलग-ग्रलग रूपांतरण होते हैं।

एक समय था, जब लोग सोचते थे कि दृष्टि ग्रौर मस्तिष्क के कार्यों का गहराई से ग्रध्ययन 'काली पेटी' के ग्रध्ययन की मनोलोचनी रीति से संभव है (सरल वस्तुग्रों के ग्रध्ययन में यह रीति ग्रबतक पर्याप्त विश्वसनीय रही है)। काली पेटी की संज्ञा प्रयोगकर्त्ता हर उस वस्तु को देते हैं, जिसकी ग्रांतरिक बनावट वे नहीं जानते। भीतर ग्रंधेरा होता है ग्रौर बाहर परिकल्पनाग्रों की घुड़दौड़ के लिये विस्तृत दुनिया होती है। परिकल्पनाएं रचने ग्रौर उनकी सत्यता जाँचने का काम बहुत कुछ कोज्मा प्रुत्कोव की विधि से मिलती-जुलती होती है : "घोड़े की नाक पर थपकी दो, तो वह दुम हिला देगा"। ग्रादमी काली पेटी पर थपकियां देता है (किस तरह – प्रकृति को प्रश्न देने की कुशलता इसी में व्यक्त होती है) ग्रौर प्रत्युत्तर में प्राप्त प्रतिक्रिया को दर्ज कर लेता है। कुछ समय तक तो ग्रन्वीक्षक शरीर की प्रतिक्रिया की ग्रखंडता से संतुष्ट थे ; जो सबसे निर्भीक थे, वे ग्रांतरिक बनावट के सभी संभव ग्रारेख भी खींचने लगे। लेकिन जब तंत्र के तत्त्वों (ग्रंगों) के बीच संबंधों की संख्या ब्रह्मांड में ग्रणुग्रों की संख्या से ग्रधिक होने लगती है (मस्तिष्क के लिये यही लंछक है), तो "काली पेटी" की विधि से प्राप्त ग्रारेखों का कोई मूल्य नहीं रह जाता। "यही तो मुख्य कारण है, जिससे शुद्ध विज्ञान की दृष्टि में शुद्ध मनोलोचन निष्फल होने लगता है"

– नोबेल पुरस्कार के विजेता, जीवभौतिकी के ग्रंग्रेज विद्वान फ्रैंसिस क्रीक के ये शब्द बिल्कुल निराधार नहीं हैं। संरचना को स्पष्ट करना चाहिये। नर्वशरीरलोचक यही कर भी रहे हैं, लेकिन वे पूरे शरीर की प्रतिक्रिया नहीं, ग्रलग-ग्रलग न्युरोनों की प्रतिक्रिया दर्ज करते हैं ग्रौर इस तरह ग्रध्ययन करते हैं कि नर्व-कोशिकाग्रों के बीच ग्रादान-प्रदान होने वाले संकेत किस प्रकार कोडित होते हैं।

दृष्टि-तंत्र तीन प्रकार के कार्य संपन्न करता है :

प्रथमतः, यह देखता है कि दृष्टि-क्षेत्र में कुछ ग्राया है ; इसके संकेत देता है।

दूसरे, इस कुछ को पहचानने का काम करता है, उसे निश्चित वर्ग से संबंधित करता है, जैसे – ग्रचल, गतिमान, सजीव, निर्जीव, मित्र, शत्रु, ग्रादि। इस प्रकार हम बिल्कुल सतही तौर पर देख कर भी बिल्ली को मोटर-कार से विभेदित कर लेते हैं या झाड़ी को खुंखार भेड़िया मान लेते हैं (जो निश्चय ही ग्रधिक लाभप्रद है, बनिस्बत कि यदि हम भेड़िये को झाड़ी मान बैठते, यद्यपि ऐसा भी होता है)।

तीसरे, देखी हुई वस्तु का सविस्तार वर्णन करता है, जिससे ग्रादमी की ग्राकृति हमारे निर्देशक इवान इवानोविच में ग्रौर उड़ती चिड़िया मैना में परिणत हो जाती है।

कोई भी वर्गीकरण एक विविक्ति (ग्रमूर्त्तिकरण) ही है। 'विविक्ति' शब्द को कुछ लोग दर्शन की देन मानते हैं ग्रौर समझते हैं कि वास्तविक दैनंदिन जीवन की समस्याग्रों से इसका कोई लेन-देन नहीं है। लेकिन पता चलता है कि हमारी दृष्टि इस तरह के 'दार्शनिक काम' में हर क्षण लगी रहती है, खास कर भीड़-भाड़ वाली सड़क पर, जहां चाहें, न

चाहें, कार और ट्राम के बीच भेद करना ही पड़ता है।

इस तरह प्रश्न उठता है: दृष्टि द्वारा विविक्ति और मूर्त्तिकरण की कला हम कब और कैसे सीखते हैं? क्या यह जन्मजात गुण है या इसकी उत्पत्ति इसलिये होती है कि बच्चा बोलना सीखता है? वास्तविक दर्शन के साथ तो सब साफ है – उसके लिये कम से कम पढ़ना और लिखना जरूर आना चाहिये। लेकिन क्या दृष्टि भी दार्शनिकता बघारती है?

पिछले वर्षों में नर्वशरीरलोचकों ने जो खोजें की हैं, उनके आधार पर हम एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठा सकते हैं: दृष्टि और वाक् मस्तिष्क की किसी एक ही प्रयुक्ति के उत्पाद तो नहीं हैं, जिसमें प्रथम चरण दृष्टि की क्रिया है? यह निर्भीक विचार उस प्रयोगशाला के दीर्घकालीन खोज-कार्यों का प्रतिफल है, जिसका नेतृत्व ग्लेजेर कर रहे हैं, यह उनकी अपनी और देश-विदेश के हजारों अन्य प्रयोगशलाओं की खोजों के व्यापकीकरण का प्रतिफल है। आइये, इन खोजों से हम भी परिचित हो लें, ताकि हम भी अपना तर्क प्रस्तुत कर सकें, सिर्फ सुनी-सुनायी बातों पर विश्वास के भरोसे न छोड़ दें।

तो आगे बढ़ा जाये? या क्षण भर को रुक कर पीछे भी एक दृष्टिपात कर लिया जाये। "अतीत के प्रति आदर-भाव ही तो शिक्षित को जंगली से विभेदित करता है" – महाकवि पुश्किन के इन शब्दों को स्मरण करते हुए कुछ पीछे लौट ही लें, ताकि उस मंजिल का आभास हो सके, जहां हमें पहुँचना है।

अध्याय 2

गालेन की दुरदर्शिता

और जो व्यक्ति इन संवृत्तियों की संतोषजनक व्याख्या प्रस्तुत कर सकेगा, वह सचमुच आविष्कारक होगा, इन जैसी अनाटोमिक मशीनों की आंतरिक संरचना और संचालन का बहुत अच्छा जानकार होगा।

– जी. पावर.

'प्रायोगिक दर्शन', 1664.

आँख क्यों देखती है? स्मृति में अतीत के सजीव चित्र क्यों सुरक्षित रहते हैं? ये 'बचकाने' प्रश्न आदमी ने शायद उस क्षण से देना शुरू किया होगा, जब वह अपने-आपको आदमी समझने लगा होगा।

आत्मा के बारे में बातें, जो आँख की पुतलियों से झाँक कर दुनिया देखती रहती है, प्राचीन काल में भी उन्हीं लोगों की उत्सुकता शांत करती थीं, जो सोचने की परेशानी उठाना पसंद नहीं करते थे। आलोचनात्मक बुद्धि के लोग हमेशा वास्तविक प्रमाण की खोज में रहते थे। टीट लुक्रेशी कार (Titus Lucretius Carus) ने व्यंग्य किया था:

यदि आँखें दरवाजा हैं,
आत्मा और भी अच्छा देखती
उन्हें बिल्कुल दूर करने पर,
क्योंकि चौखट भी तो बाधा है।

जिस दार्शनिक कृति से ये पंक्तियां ली गयी हैं, वह 'वस्तुओं की प्रकृति' नामक महाकाव्य की कहीं अधिक सुंदर छंदों में बंधी है। ईसा पूर्व 1-ली शती में लुक्रेशी ने एक तरह से प्राच्य विज्ञान की उपलब्धियों का सार प्रस्तुत किया है। एंपेदोक्ल (Empedocles) की ही तरह, जो लुक्रेशी से कोई चार शती पूर्व हुए थे, कवि यह मानते थे कि –

वस्तुओं में कुछ है जरूर, जिसे हम प्रेत उनका कहते हैं,
झिल्ली जैसी पतली, या छाल उन्हें हम कहते हैं,
क्योंकि ये प्रतिबिंब उन पिंडों का रूप वहन करते हैं,
जिनसे अलग होकर वे दर-दर भटकते रहते हैं।

अपने विचार की पुष्टि के लिये वे उपमाओं का सहारा लेते हैं। आपने धूनी से उमड़ते हल्के धुएं को देखा होगा, आग की अदृश्य गर्मी को अनुभव किया होगा, साँप के केंचुल को आश्चर्य से देखा होगा कि वह साँप के शरीर को कितनी सूक्ष्मता से दुहराता है। वस्तुओं के 'प्रेत' ऐसे ही हैं – हल्के, अदृश्य और तबतक अनुभवातीत, जबतक उनपर निगाह नहीं पड़ती :

अब स्पष्ट होता है तुझे कि पिंडों की सतह से निरंतर
बहता है वस्तुओं की सूक्ष्म बनावट और सूक्ष्म आकृति
का निर्झर।

'वस्तुओं के प्रेतों या बिंबों' की आवश्यकता प्राच्य दार्शनिकों को इसलिये पड़ी थी कि दृष्टि-प्रक्रिया को समझाया जा सके। एंपेदोक्ल कहते थे कि आँख में बिंब आँख के आंतरिक प्रकाश से जुड़ते हैं ('आँखों की रोशनी' जैसे मुहावरों की उम्र का अंदाज लगा लें!)। इस स्पर्श से अनुभूति का जन्म होता है – आदमी वस्तुओं को देखता है। इस तरह, आत्मा को पुतलियों से झाँकने की आवश्यकता नहीं है: एंपेदोक्ल के अनुसार, दृष्टि का कार्य (यदि आज के शब्दों में कहें) एक सामान्य शरीरलोचनी प्रक्रिया है।

प्राच्य ग्रीक विद्वानों के लिये ये 'बिंब' पूरी तरह से वास्तविक एवं भौतिक थे। डेमोक्रिट (Democritus, 460--370 वर्ष ईसा पूर्व) विश्व में परमाणुओं के अतिरिक्त और किसी चीज के अस्तित्व को नहीं मानते थे, वे यह कहते थे कि ये 'प्रेत' और कुछ नहीं परमाणुओं की सूक्ष्म परतें हैं, जो वस्तुओं की सतह से अलग हो कर उड़ने लगती हैं। ये ही आँखों में प्रविष्ट होती हैं। आँख भी परमाणुओं से बनी है और उनके बीच ऐसे परमाणु भी अवश्य होते हैं, जैसे उड़ कर आये होते हैं, उनके मिलन से 'अनुभूति की छाप' मिलती है, जो आत्मा के परमाणुओं को गतिशील करती है; आत्मा मस्तिष्क में रहती है। पशुओं की आत्मा से, जो हृदय में निवास करती है, और वनस्पतियों की आत्मा से, जो पेट में निवास करती है, भिन्न है मेधावी आत्मा ...

लेकिन चक्कर में डालने वाली बात क्या थी? यदि मस्तिष्क 'महसूस करने वाली आत्मा' है, तो उसे महसूस करना चाहिये। लेकिन आयुर इस बात का साक्षी था कि मस्तिष्क

का आपरेशन करते वक्त वह पीड़ा अनुभव नहीं करता। इसी-लिये अरस्तू ने, जो डेमोक्रिट के विचारों का विरोध करते थे, ई. पू. 4-थी शती के अंत में निम्न निष्कर्ष दे दिया: "यह मानने का कोई विवेकसंगत आधार नहीं है कि बुद्धि शरीर के साथ जुड़ी होती है"। इसीलिये मस्तिष्क को बुद्धि का स्थान मानने का भी कोई कारण नहीं हैं। अरस्तू कहते थे कि शरीर के साथ आत्मा जुड़ी होती है; वही "सभी सजीव पिंडों का मूल कारण है" और उसका निवास स्थल हृदय है ("हार्दिक प्रेम" जैसी अभिव्यंजनाओं का स्रोत शायद यही है)। मस्तिष्क को इस दार्शनिक ने फ्रीज की भूमिका दे दी, जो हृदय की आग को शीतल करता है। अनाटोमिक ज्ञान उस समय बहुत शुद्ध नहीं था और इतने प्रसिद्ध व्यक्तित्व के विचारों का खंडन करने का साहस किसी में नहीं हुआ। और इसके बाद... इसके बाद अरस्तू के विचार अपनी सभी भूलों समेत कोई डेढ़ हजार वर्ष तक ज्ञान-विज्ञान पर अपना दबदबा बनाये रहे।

इन 15 शतियों के दौरान अरस्तू के शरीरलोचनी विचारों की सिर्फ एक बार आलोचना हुई थी, जो सफल भी रही थी। यह आलोचना क्लाउडी गालेन (Claudius Galen, 129-190 ई.) ने की थी, जो हिप्पोक्रेट (Hippocrates) के बाद प्राच्य आयुर के प्रकांड पंडित थे।

ग्रीक मूल के गालेन का जन्म रोम के पेर्गामि नामक नगर में हुआ था, जो पेर्गामम राज्य की राजधानी था। इस घटना की सही तिथि ज्ञात नहीं है, पर अक्सर इसे सन् 130 ई. माना जाता है। गालेन के पिता वास्तुकार होने के नाते समृद्ध

थे, अतः पुत्र को वे उत्कृष्ट शिक्षा दे सके थे। पेर्गामि के पुस्तकालय में करीब दो सौ हजार पुस्तकें थीं (अलेक्सांद्रिया के पुस्तकालय के बाद इसी का नाम आता है); गालेन इसी पुस्तकालय में अफलातून (प्लेटो) और अरस्तू की कृतियों से परिचित हुए, इनके विरोधी दार्शनिकों – एपीकूरवादियों – की भी कृतियों से अवगत हुए। आयुर का अध्ययन उन्होंने पेर्गामि के उत्तम चिकित्सकों के अधीन किया, फिर चार वर्ष तक यात्राएं करते रहे। वे स्मिर्ना और कोरिंफ गये, अलेक्सांद्रिया भी गये, जहां के चिकित्सक हेलेनिक चिकित्सा-कला के अनुयायी थे। यहां ई. पू. 3-री शती में ही हेरोफिल (Herophilus) और एराजिस्त्रात (Erasistratus) ने शव का परीक्षण और जंतुओं पर सरल प्रयोग शुरू किया था...

यात्रा से लौटने के बाद गालेन को ग्लैडिएटरों के स्कूल में चिकित्सक का स्थान दिया गया। उन्हें यह पद देना युवा चिकित्सक की प्रतिभा का ही प्रमाण है। योद्धा (गुलाम योद्धा, जिन्हें ग्लैडिएटर कहते थे) काफी कीमती होते थे और हिंसक पशुओं या अपनी ही श्रेणी के किसी अन्य योद्धा के साथ द्वंदयुद्ध में घायल होने के बाद उन्हें पुनः स्वस्थ करना मालिक के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण बात होती थी, इसीलिये वे खराब चिकित्सक नहीं रखते थे।

वैसे, ग्लैडिएटरों के स्कूल में गालेन ने बहुत अधिक समय तक काम नहीं किया। पेर्गामि एक 'बोर' जगह थी और उसकी तुलना में रोम भव्य था, यहां कलाकारों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों आदि की जमात थी। प्रतिभाशाली लोग रोम की ओर ही आकर्षित होते थे, इसीलिये गालेन भी वहीं चले

आये। वहां उन्हें जल्द ही ख्याति मिली, उन्हें आयुर के सिद्धांतविद और व्यावहारिक चिकित्सक दोनों ही के रूप में प्रसिद्धि मिली। उनके व्याख्यान सुनने के लिये ढेरों लोग आया करते थे। वे इतने विख्यात हो गये कि जब वे पेर्गाम वापस आ गये, तो सम्राट मार्क आव्रेली ने उन्हें पुनः रोम बुला लिया और राजवैद्य के पद पर आसीन किया। उस समय उन्हें सिर्फ 40 वर्ष हुए थे।

सम्राट खुद भी दार्शनिक थे (वे अंतिम विख्यात स्टोइक थे, उनकी 'एकांत में स्वयं के साथ' नामक पुस्तक को लोग उनके युद्धों और राजाज्ञाओं से कहीं अधिक याद रखते हैं) और उनका यथोचित आदर करते थे। गालेन को वैज्ञानिक अध्ययन में कोई बाधा नहीं डालता था। विज्ञान के इतिहास में वे शरीरलोचन के क्षेत्र में प्रथम प्रयोगकर्त्ता थे। वे जंतुओं के कपाल की हड्डी दूर कर के मस्तिष्क का अध्ययन करते थे, उसे पूरी तरह या अंशों में निकाल कर आँखों तथा अन्य ज्ञानेंद्रियों के साथ उसका संपर्क ज्ञात करने की कोशिश करते थे, नर्वों का कार्य स्पष्ट करने के लिये उन्हें काटते थे। जंतुओं की चीराई से गालेन ने पहली बार सात जोड़े नर्वों का वर्णन किया, जो मस्तिष्क से निकल कर नाक, कान तथा शरीर के अन्य अंगों तक जाते हैं, उन्होंने ही मस्तिष्क में दृष्टि-पर्वतिकाओं (थैलम, दृक्-चेतक) का पता लगाया (वे सोचते थे कि ये दृष्टि से संबंधित हैं, पर कई शतियों बाद सिद्ध किया जा सका कि यह सही है, लेकिन आंशिक तौर पर ही)। आँखों में रेटीना को भी पहली बार उन्होंने ही देखा, जिससे दृष्टि-नर्व सीधे मस्तिष्क तक पहुँचते हैं।

गालेन यह मानते थे कि दृष्टि 'धवल वायु' (light

pneuma की सहायता से उत्पन्न होती है, जो लेंस (क्रिस्टलीन) और परितारिका (झिल्ली) के बीच स्थित होती है। वह इस स्थल पर दृष्टि-नर्वों के सहारे मस्तिष्क से निरंतर आती रहती है और प्रकाश-किरणों को ग्रहण करती है, जिसके फलस्वरूप 'केंद्रीय दृष्टि-इंद्रिय' में (जिसे गालेन थैलम कहते थे) प्रकाश की अनुभूति होती है।

"अनुभूति उत्पन्न होने के लिये आवश्यक है कि, – गालेन लिखते हैं, – हर अनुभूति में एक निश्चित परिवर्तन हो, जिसे मस्तिष्क ग्रहण करता है। दृष्टि के अतिरिक्त अन्य कोई अनुभूति प्रकाश की अभिक्रिया से परिवर्तित नहीं हो सकती, क्योंकि दृष्टि की अनुभूति ग्रहण करने वाला इंद्रिय – लेंस में स्थित आर्द्रता – अत्यंत स्वच्छ एवं संवेदी है। लेकिन परिवर्तन निरर्थक ही रह जाता, यदि वह संचालन-केंद्र – चेतना – तक नहीं पहुँचता (चेतना ही कल्पना, स्मृति और बुद्धि का निवास-स्थल है)। इसीलिये मस्तिष्क अपने अंशों को लेंस-स्थित आर्द्रता में निरंतर भेजता रहता है, ताकि उसमें उत्पन्न छाप को जान सके। यदि मस्तिष्क ऐसा केंद्र नहीं होता, जिससे हर अंग में होने वाले परिवर्तन निकलते हैं और वहीं लौटते हैं, तो जंतु अनुभूतिहीन होते। आँखों में [...] रंगों की अनुभूतियां आँख में स्थित मस्तिष्क-अंश – जालीवत झिल्ली – में शीघ्र पहुँचती हैं।"

कैसा दूरदर्शितापूर्ण निष्कर्ष है! अरस्तू के 'वात' को एक ओर छोड़ दें, जिसे (उनके अनुसार) मस्तिष्क आँखों को भेजते रहता है (वैसे, हमारे चंद आधुनिक शरीरलोचक मानते हैं कि केंद्रिय नर्वतंत्र रेटीना को संकेत भेजता रहता है, जो कोशिकाओं की संवेदिता को नियंत्रित करते हैं)। इस बात

की भी उपेक्षा करें कि प्रकाश-संवेदी अंग रेटीना को नहीं, वरन् लेंस को माना गया है (गालेन के पूर्व के सभी चिकित्सकों और उनके बाद के अधिकांश चिकित्सकों ने यही गलती की है)। उस प्रतिभाशाली अन्वीक्षक की कृतियों में सभी प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ना भी कोई अर्थ नहीं रखता। उपरोक्त शब्दों में मोहक बात यह है कि मस्तिष्क को उसकी वास्तविक भूमिका लौटा दी गयी है और जिसपर अब अरस्तूवादी पंडितों को छोड़ कर शायद ही कोई अन्य व्यक्ति शंका कर सकता है। इस साहसपूर्ण कथन की प्रशंसा किये बिना हम नहीं रह सकते कि आँख मस्तिष्क का अविभाज्य अंग है। हमारे दिनों के सभी विश्वकोषों में इस प्रकार का वाक्य अवश्य मिल जायेगा : "आँख मस्तिष्क का एक परिसरीय भाग है (जो परिसर पर स्थित है)।"

गालेन एक साहसी व्यक्ति थे, जैसा कि सभी सच्चे वैज्ञानिक हुआ करते हैं। रहस्यमय तथा अज्ञेय शक्तियों का संदर्भ दिये बगैर सजीव अंग की क्रिया समझाने के लिये वे 'सामान्य बुद्धि' की दृष्टि से बिल्कुल असंभव विचार भी प्रस्तुत करने और उसके लिये संघर्ष करने को तैयार हो जाते थे। इस तरह की एक परिकल्पना उन्होंने निम्न पहेली सुलझाने के लिये प्रस्तुत की थी : यदि वस्तुओं के विंब (बाह्य रूप) आकार में वस्तुओं के बराबर होते हैं, तो वे आँख की नन्ही सी पुतली में कैसे प्रविष्ट हो जाते हैं? यदि आँख से हो कर आत्मा बाहर को झाँकती है, तो फिर यह प्रश्न निरर्थक हो जाता है ; आत्मा उन्हें देखती है। लेकिन यदि आत्मा नहीं है, तो बिंब क्या करें? गालेन 'बिंबों' और आत्मा दोनों ही के विचारों को तिलांजली दे देते हैं। उनकी

हस्तलिपियों में आरेख मिलते हैं, जो विज्ञान के इतिहास में पहली बार आँख के कार्य को एक वैज्ञानिक की दृष्टि से समझाते हैं। इन आरेखों में आँख को आधुनिक रेडियोलोकेटर से मिलती-जुलती वस्तु के रूप में दिखाया गया है।

हाँ,–गालेन कहते थे–एंपेडोक्ल और अफलातून सही थे : आँख से सचमुच किरणें निकलती हैं, लेकिन इसलिये नहीं कि वस्तुओं से उड़ कर निकलने वाले 'बिंबों' से संयुक्त हो जायें। किरणें वस्तु को टटोलती हैं, मानों सूक्ष्म अदृश्य सींकें हों। मीनार या पहाड़ जितना भी बड़ा हो, आँख की नन्ही पुतली अपनी 'किरणों' से टटोल कर उनकी आकृति को अनुभूत कर ले सकती है। आपको गालेन की ये बातें बचकाने-सी लग रही हैं? लेकिन हवाई जहाज में लोकेटर पायलट को पृथ्वी इसी विधि से दिखाता है...

गालेन की मृत्यु के कोई चौथाई सहस्राब्दी बाद पश्चिमी रोमन साम्राज्य का पतन हो गया। प्राच्य ज्ञान-विज्ञान यूरोप में करीब 10 शतियों के लिये भुला दिया गया। सौभाग्यवश फारसियों तथा उनके अधीनस्थ सीरियाइयों ने, और फिर अरबों ने (विशेषकर जिन्होंने 7-वीं सदी में फारसी साम्राज्य पर विजय प्राप्त की) ग्रीक एवं रोमन ज्ञान-विज्ञान को उचित सम्मान दिया। 5-वीं शती में पहले अरस्तु की कुछेक कृतियां सीरियाई भाषा में अनूदित हुईं, फिर प्लीन की हुईं। सीरिया की भाषा में गालेन की कृतियां आयीं।

धीरे-धीरे शताब्दियां बीतती गयीं, शासक बदलते रहे, नगरों का और उनके साथ-साथ दार्शनिक स्कूलों का उत्थान-पतन होता रहा। 9-वीं शती में पूर्वी ज्ञान-विज्ञान का केंद्र बगदाद हुआ, जो परिकथाओं के खलीफों का शहर था। वहाँ

एक विख्यात विचारक, भौतिकविद्, गणितज्ञ और हकीम अबू अली इब्न-अल-हैसाम हुए थे, जो मध्ययुगीन यूरोपीय देशों में (वहां के अपने-अपने उच्चारण के अनुसार) अलहैथाम, अलहासेन, अलहाजेन आदि नामों से विख्यात हुए। उनका जन्म बसरा में सन् 965 ई. में हुआ था। उनका वंश अज्ञात है, हम यह भी नहीं जानते कि उनकी शिक्षा-दीक्षा किस प्रकार हुई थी, जिसकी बदौलत उनकी पुस्तकें हमारे लिये इतनी बहुमूल्य साबित हुई हैं। खेद की बात है कि इनमें से कई पुस्तकें लुप्त हो चुकी हैं, लेकिन उनकी "प्रकाशिकी" कई सदियों तक मध्ययुगीन यूरोप के वैज्ञानिकों का पथ-प्रदर्शन करती रही।

अलहाजेन का कथन था कि आँख से कोई भी किरण नहीं निकलती। उल्टा, वस्तु अपने हर कण से आँख की ओर किरणें भेजती है! और हर किरण लेंस के तदनुरूप बिंदु को उद्दीपित करती है (यहां अलहाजेन गालेन के साथ पूरी तरह सहमत हैं और क्रिस्टलीन लेंस को प्रकाश-संवेदी अंग मान रहे हैं)।

किरणें असंख्य हैं और पुतली (कनीनिका) एक है... ये किरणें आपस में उलझ नहीं सकतीं? अलहाजेन ने एक प्रयोग किया: डब्बे की दीवार में छेद के सामाने कई मोमबत्तियां जला कर खड़ी कर दीं। फिर क्या हुआ? विपरीत ओर की दीवार पर हर मोमबत्ती का बिंब उभर आया, उनमें कोई भी विकृति नहीं थी, अतः किरणें परस्पर उलझी नहीं थीं। उस विद्वान प्रयोगकर्त्ता ने निम्न निष्कर्ष निकाला: छेद से होकर हर किरण स्वतंत्र रूप से गुजरती है तथा वे एक-दूसरी की राह में बाधा नहीं पहुँचातीं; यह सिद्धांत हर

पारदर्शक पिंड पर लागू होता है, जिसमें आँख का पारदर्शक द्रव्य भी आता है।

इस प्रकार, अलहाजेन ने अंध-कैमरे का आविष्कार किया (यह नाम कई सदियों बाद छिद्रयुक्त डब्बों के रूप में बनाये गये कैमरों को दिया गया), लेकिन जैसा कि अक्सर होता है, वैज्ञानिक ने अपने इस आविष्कार पर कोई ध्यान नहीं दिया, अपने प्रयोग के व्यावहारिक महत्त्व का कोई मूल्यांकन नहीं किया। अलहाजेन सैद्धांतिक समस्या हल कर रहे थे। क्या होता, यदि वे छेद को एक बार मोमबत्तियों की ओर नहीं, खिड़की के पार सड़क की ओर निर्दिष्ट कर देते... इब्न-अल-हैसाम ने ऐसा नहीं किया और इसीलिये आँख का प्रतिरूप बनाने की ख्याति उन्हें नहीं मिल सकी।

प्रतिरूप नहीं बन सका, इसका कारण यह भी हो सकता है कि अन्वीक्षक एक अजीब सी परिस्थिति के चक्कर में फँस गया: डब्बे की पिछली दीवार पर चित्र उल्टा बनता था। आँख में बिंब उल्टा बने, यह कैसे हो सकता था? देखते तो हम सीधा ही हैं। अलहाजेन यूक्लिड की 'प्रकाशिकी' से परिचित थे, प्रकाश का अपवर्तन भी अच्छी तरह जानते थे। कहीं ऐसा तो नहीं था कि नेत्र-गोलक का पारदर्शक द्रव्य किरणों का पथ इस प्रकार बदलता था कि आँख में बिंब सीधा हो जाये? यह उत्तर उन्होंने पहले से तैयार कर लिया और जब किरणों के पथ का आरेख बनाया, तो इसी के अनुसार। लेकिन आप तो जानते ही हैं कि उत्तर के अनुसार हल प्रस्तुत करने से क्या होता है। इससे स्कूली छात्र को भी कोई सफलता नहीं मिलती। अलहाजेन ने प्रयोग के परिणामों पर विश्वास भी नहीं किया। यही नहीं, आँख का जो प्रति-

रूप और किरणों का जो पथ उन्होंने आरेखित किया, वह एक बोझ बन कर रह गया, अन्य अन्वीक्षक भी उसी के चक्कर में पड़े रह गये।

इब्न-अल-हैसाम की बातों में इंजीनियरी कला की लेओनार्दो दे वींची जैसी मेधावी प्रतिभा भी फँसी रह गयी, जिनका तकनीकी चिंतन अपने समय से कई युग आगे बढ़ गया था। उल्टे बिंब और 'सीधी' अनुभूति के बीच विरोधाभास लेओनार्दो ने भी अलहाजेन की तरह ही हल किया: आँख में किरणों के पथ का आरेख इस प्रकार प्रस्तुत किया कि लेंस की पिछली दीवार पर बिंब सीधा बने।

यहां हम बीच के अनेक वर्षों का इतिहास छोड़ देते हैं और सीधे जिआंबातिस्ता देल्ला पोर्ता से आपका परिचय कराते हैं। ये इटली के समृद्ध अभिजात थे, जो निश्चय ही एक प्रतिभाशाली और अंतर्विरोधपूर्ण व्यक्तित्व के आदमी थे (भौतिकी के जर्मन इतिहासविद एफ. रोजेनबेर्गेर ने उनका निम्न शब्दों में चरित्र-चित्रण किया है: "अधकचरा, अधबुध और बहुत हद तक ढोंगी"। लेकिन अन्य अन्वीक्षक इससे सहमत नहीं हैं और इस मूल्यांकन को कुटिल अतिशयोक्ति की संज्ञा देते हैं)। उनमें ज्ञान की अभूतपूर्व उत्कंठा थी, नयी वैज्ञानिक सूचनाओं की खोज में वे अथक परिश्रम करते थे, विविध प्रकार के प्रयोग करने में भी वे बड़े कुशल थे; कुछ प्रयोगों के कारण तो उन्हें काले जादूगर की मोहक (और साथ ही खतरनाक!) ख्याति मिल गयी थी। अंध-कैमरा तबतक काफी मशहूर हो चुका था और जिआंबातिस्ता उसे अच्छी तरह बनाना जानते थे। एक बार उसे बनाते वक्त वे अनायास ही एक उत्कृष्ट खोज पर पहुँच गये। "मैं एक रहस्य खोलना

चाहता हूँ, जिसके बारे में अबतक चुप रहना अच्छा माना जाता था, – 1570 ई. में उन्होंने लिखा। – यदि आप छेद में दोनों तरफ से उत्तल लेंस रख देंगे, तो वस्तुएं अधिक स्पष्ट दिखेंगी, इतनी अधिक स्पष्ट कि आप सड़क पर चलते आदमी को यूं पहचानेंगे, जैसे वह आपके सामने बैठा हो।"

इसके बाद आविष्कारक ने अपने अंध-कैमरे की तुलना आँख से करते हुए बिल्कुल सही बात बतायी कि नेत्र-गोलक की पिछली दीवार पर बिंब प्रक्षिप्त करने के लिये आँख में क्रिस्टलिक द्रव्य उसी प्रकार आवश्यक है, जैसे कैमरे में लेंस। लेकिन यहीं पर अपूर्ण शिक्षा का भी प्रभाव शुरू हो जाता है: देल्ला पोर्ता बिना किसी तार्किक आधार के यह कथन प्रस्तुत करते हैं कि आँख का संवेदी अंग रेटीना नहीं, क्रिस्टलिक द्रव्य ही है!...

लेकिन ऐसे आदमी के लिये, जो तर्कसंगत रूप से विचार कर सकता है और आँख की अनाटोमी को देल्ला पोर्ता से कहीं अधिक अच्छी तरह जानता है, सारी बात स्पष्ट हो जाती है। अनाटोमीविद् फेलिक्स प्लाटेर को इस नये अंध-कैमरे का पता इसकी खबर छपने के 13 वर्ष बाद लगा (वह जमाना कुछ ज्यादा ही धीमा था)। प्लाटेर को कोई संदेह नहीं रहा कि यह कैमरा आँख का बिल्कुल शुद्ध सदृशरूप है। उन्होंने पुनः गालेन के विचार को उभारना चाहा कि नेत्र-गोलक में स्थित रेटीना मस्तिष्क का संवेदी उपांग है। प्लाटेर क्रिस्टलिक लेंस में प्रकाश-किरणों का पथ नहीं दर्शा सके, क्योंकि इस काम के लिये उनका गणितीय ज्ञान पर्याप्त नहीं था। यह काम केप्लेर ने पूरा किया और पोर्ता एवं प्लाटेर के विचारों का समन्वयन कराया (यह भी बता दें कि केप्लेर

ने सन् 1600 ई. के सूर्य-ग्रहण का प्रेक्षण करने के लिये लिंट्स में एक बहुत बड़ा अंध-कैमरा बना रखा था)।

आप शायद पूछेंगे कि केप्लेर जैसे खगोलविद को दृष्टि के शरीरलोचन से क्या सरोकार था। बात यह है कि उस जमाने में हर गंभीर वैज्ञानिक एक दार्शनिक होता था, विज्ञान में उसकी विस्तृत रुचि रहती थी, वह विज्ञान के किसी सीमित क्षेत्र में बंधा नहीं रहता था। अपना अंध-कैमरा बनाने के कोई चार वर्ष बाद केप्लेर ने एक शोध-प्रबंध प्रकाशित किया: "विटेलो का अनुपूरक: प्रकाशिकीय खगोलिकी के बारे में"। इस कृति के चौथे तथा पाँचवे अध्याय में उन्होंने आँख के कार्य के बारे में अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है। प्रकाश-किरणों की ज्यामितिक बनावट से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु के बायें भाग का बिंब रेटीना के दायें हिस्से पर बनाता है और दायें भाग का – बायें हिस्से पर।

अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के विपरीत केप्लेर इस निष्कर्ष से जरा भी परेशान नहीं हुए। खगोलविद के लिये विश्व वैसा ही बना है, जैसा वह बना हुआ है, न कि जैसा हम चाहते हैं। केप्लेर ने आँख में बिंब को उलटने के लिये कोई कृत्रिम रीति ढूंढ़ने की कोशिश नहीं की। इससे लाभ ही क्या है? केप्लेर के अनुसार, नेत्र-गोलक की पिछली दीवार पर उत्पन्न बिंब से "देखने की प्रक्रिया पूरी नहीं होती, जबतक कि रेटीना द्वारा अभिग्रहित बिंब उसी रूप में मस्तिष्क को नहीं संप्रेषित हो जाता।"

विज्ञान ने गालेन के विचारों को पुनः अपना लिया, ताकि आगे बढ़ सके।

लेकिन 17-वीं शति के आरंभ में उस महान चिकित्सक की दूरदर्शिता की किसी ने भी प्रशंसा नहीं की। उस समय का एक भी प्रगतिशील वैज्ञानिक गालेन के विचारों का उल्लेख नहीं कर सकता था, क्योंकि इसका अर्थ होता कि वह वैज्ञानिक प्रतिक्रियाशील शक्तियों के साथ मिला हुआ है। बात यह थी कि मध्ययुगीन धार्मिक वितंडावादियों ने गालेन की कृतियों को धर्मग्रंथ का दर्जा दे रखा था, जो भी गालेन की गलतियों को सुधारने की कोशिश करता था, उस पर वे पूरे आक्रोश के साथ टूट पड़ते थे (और गलतियां तो होनी ही थीं; दृष्टि जैसी जटिल संवृत्ति को समझने की कोशिश में गलतियां कैसे नहीं होतीं!)। गालेन द्वारा लिखी गयीं पुस्तकें अंधवाद के हाथ एक "अमोघ अस्त्र" बनी हुई थीं। आयुर के विकास के लिये उनके गलत विचारों का खंडन आवश्यक था, लेकिन वितंडावादियों के साथ इस अनोखे संघर्ष के कारण पूरे गालेन का ही खंडन करना पड़ता था...

सिर्फ अनेक वर्षों के बाद ही, जब वितंडावाद पूर्णतया पराजित हो गया और उसकी याद मध्ययुगीन इतिहास का एक दुखद अध्याय बन कर रह गयी, विज्ञान उस चिकित्सक की कृतियों से वह सब बकवास दूर करने में सफल हुआ, जो धर्मगुरुओं को आकर्षित किया करता था। क्योंकि, जैसा 19-वीं शती के अंग्रेज प्रकृतिविद हक्सले ने कहा है, उनकी कृतियों को "जिसने भी पढ़ा है, वह उनके विस्तृत ज्ञान को और जिस मार्ग पर शरीरलोचन का विकास होगा, उसके बारे में उनकी सही समझ को देख कर दंग हुए बिना नहीं रहता।"

अध्याय 3

यह दायां और बायां मस्तिष्क...

ब्रह्मांड एक असममित समारोह है। मैं यह मानता हूँ कि जीवन, जिस रूप में हम उसे जानते हैं, विश्व की असममिति का फलन है, या उससे निष्कर्षित परिणाम है।

—लूइ पास्टर

हमें लगता है कि हमारी आँखों के सामने विश्व का जो चित्र उभरता है वह सतत है, अविछिन्न है। लेकिन वास्तव में वह दो खंडों में बँटा हुआ है: एक खंड तो हर आँख की रेटीना के दायें भाग पर प्रक्षिप्त होता है और मस्तिष्क के बायें गोलार्ध में पहुँचता है; दूसरा खंड रेटीना के बायें भाग से मस्तिष्क के दायें गोलार्ध में पहुँचता है। इस संवृत्ति को शरीरलोचन में व्युत्क्रमण कहते हैं। इसके बाद दोनों अर्ध-चित्र मिलकर एक होते हैं, जिसके लिये हमें दोनों गोलार्धों के बीच उपस्थित संपर्क का ऋणी होना चाहिये।

आदमी का श्रवण-उपकरण भी ध्वनि मस्तिष्क के दोनों अर्धों को इसी व्युत्क्रमण-रीति से भेजता है। शरीर की पेशियों का संचालन और स्पर्शानुभूति का ग्रहण भी इसी व्युत्क्रमण-रीति से होता है। कैसी अनोखी सममिति है! —आप आश्चर्य करेंगे। लेकिन पता चलता है कि हमारे मस्तिष्क और हमारे शरीर में असममितियां भी कुछ कम नहीं हैं।

120 वर्ष से भी कुछ पूर्व फ्रांसीसी नृलोचक एवं अनाटोमक पोल ब्रोका ने यह खबर दी थी: वाग्भंग से पीड़ित दो व्यक्तियों के शवोच्छेदन से उन्होंने देखा कि दोनों के बायें गोलार्धों में समान प्रकार का क्षेत्र आक्रांत हुआ था; यह था—इस गोलार्ध का पश्चाग्र क्षेत्र। कई वर्षों के चिंतन और प्रेक्षण के पश्चात ब्रोका ने "नृलोचक समाज के बुलेटिन" (1865, खंड 6) में एक निबंध प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने निम्न घोषणा की: "हम मस्तिष्क के बायें गोलार्ध से बोलते हैं"।

इसके कोई दस वर्ष बाद उन्हीं के देशवासी क्लोड वेर्निके ने ज्ञात किया कि उसी गोलार्ध में कनपटी के पास वाले क्षेत्र में रक्तस्राव होने पर रोगी बातचीत समझने में असमर्थ हो जाता है: लोग जो कुछ उससे कहते हैं, उसके लिये निरर्थक शोर ही होता है। लेकिन रोगी में वाग्भंग नहीं होता, उसमें बोलने की क्षमता सुरक्षित रहती है। इसीलिये वाक् जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्मान देने के लिये 'बोलने वाले' गोलार्ध को प्रबल या उच्चतर कहा गया और 'चुप रहने वाले' गोलार्ध को क्षीण, निम्नतर या अधीनस्थ कहा गया। (इसमें इस परंपरा की भी कुछ कम भूमिका नहीं रही होगी, जो चिंतन-क्षमता को वाक्-पटुता के साथ जुड़ी हुई मानती है। "आज भी ऐसे कथन सुनने को मिल सकते हैं कि भाषा चिंतन-मनन का एकमात्र साधन है"—ये शब्द हम मनोलोचनी भाषाविज्ञान की पुस्तक में पढ़ सकते हैं।) इस नामकरण के कारण स्वाभाविक था कि उच्चतर गोलार्ध के ही अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। सिर्फ पिछले वर्षों

में यह स्पष्ट हुआ कि निम्नतर गोलार्ध का भी बहुत ध्यान से अन्वीक्षण करना चाहिये।

यदि सच-सच कहा जाये, तो हर आदमी बायें गोलार्ध से नहीं 'बोलता'। यदि वह वमहत्था नहीं भी है, तो उसमें बायें गोलार्ध के प्रबल होने की संभावना पंचानबे प्रतिशत ही होगी; पाँच प्रतिशत केसों में दायां गोलार्ध प्रबल मिलेगा। वमहत्थे लोगों में भी यह अनुपात इकाई नहीं है (यद्यपि होना तो यही चाहिये था कि ये लोग सब के सब मस्तिष्क के दायें गोलार्ध को ही वाक्-केंद्र के रूप में प्रयुक्त करते): सौ में पैंसठ लोगों में यह नियम पाया जाता है कि "प्रबल गोलार्ध सक्रिय हाथ के विपरीत होता है"; बाकी वमहत्थे लोग यद्यपि बायें हाथ से लिखते हैं, लेकिन बोलते हैं 'सामान्य' बायें गोलार्ध से ही।

कोई बच्चा वमहत्था क्यों जन्म लेता है और कोई बच्चा दक्षिण-हस्तिक क्यों होता है, इसका कारण अस्पष्ट है, इसके बारे में हमें कोई सही ज्ञान नहीं है। हम इतना ही कह सकते हैं कि इसका संबंध जंतिकीय कोड में किन्हीं परिवर्तनों के साथ है (परिवर्तनों के साथ ही, हम कुपरिवर्तन या गड़-बड़ी किसी भी प्रकार नहीं कह सकते हैं!) जो शरीर के विकास का संचालन करते हैं। वोरोशीलोवग्राद के आयुर--संस्थान में मनोचिकित्सा विभाग के अध्यक्ष अनातोली चुप्रीकोव के विचारानुसार बच्चे के वमहत्था होने में निम्न बातों की कोई भूमिका हो सकती है: सगर्भता-काल में भावी मां द्वारा अत्यधिक चिंता, सर्दी के रोग, खराब खाद्य पदार्थ से आगरण (विषाक्रांति)। वमहत्थापन को कोई रोग अथवा मनोलोचनी विचलन नहीं मानना चाहिये, फिर भी कोई-कोई माता-पिता

और यहां तक कि स्कूल में शिक्षक भी (जो अधिक खेद-जनक है) ऐसे बच्चे को दायें हाथ से काम करना सीखने पर जोर देने लगते हैं: तुम्हें 'बाकी सब लोगों' की तरह ही बनना चाहिये। फल क्या होता है? एक मां समाचार-पत्र के संपादक को पत्र लिखती है: मेरी बेटी का विकास अच्छा हो रहा था, लेकिन तभीतक, जबतक उसपर दायें हाथ से काम करना सीखने के लिये जोर नहीं डाला जाने लगा। इसके बाद वह नर्वस, अत्यधिक संवेदनशील, निष्क्रिय और शर्मीली हो गयी है; दायें हाथ से लिखना सीखने में उसे बहुत आँसू बहाने पड़े हैं, बहुत शक्ति व्यय करना पड़ा है।" एक अन्य माँ लिखती है: "शिक्षक जबर्दस्ती मेरी बेटी को बायें हाथ से लिखना छोड़ कर दाये हाथ से लिखने की आदत डलाना चाहते हैं और वे चाहते हैं कि इसमें मैं भी उनका साथ दूँ। फल यह हुआ है कि अब वह दायें हाथ से लिख तो लेती है, पर बहुत कठिनाई से; मैं देखती हूँ कि पिछले समय से वह पढ़ाई में पीछे रहने लगी है, रुग्रटी और चिड़चिड़ी हो गयी है, स्कूल बिल्कुल बेमन से जाती है।" वैज्ञानिकों को पूरा विश्वास है कि वमहत्थे को जबर्दस्ती दायें हाथ से काम करना सिखाने से उसमें नर्वक्लेश विकसित होने लगता है। प्रकृति शरीर की गहराइयों में जो कुछ छिपा कर रख देती है, उसे बदलने की चेष्टा को वह क्षमा नहीं करती।

"वमहत्थे की मदद कौन करे?"—यह प्रश्न 'सोवेत्स्काया कुल्तूरा' (सोवियत संस्कृति) नामक समाचार-पत्र ने उठाया, इसके बाद स्थिति में धीरे-धीरे ही सही, लेकिन बदलाव आने लगा। 23 जून 1985 के 'प्रावदा' समाचार-पत्र में खबर छपी: वमहत्थे की सुरक्षा। स्वास्थ्य मंत्रालय ने वमहत्थे बच्चों
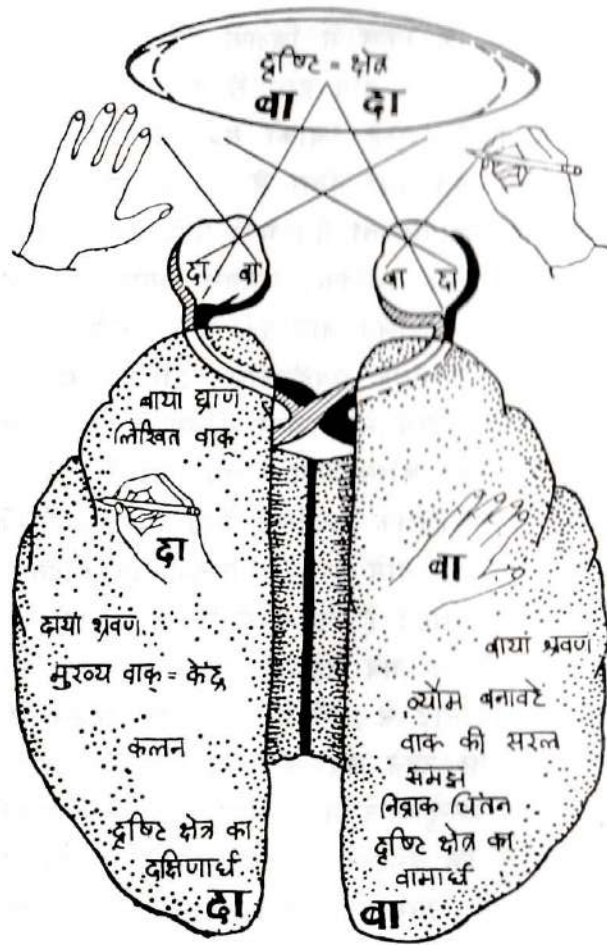
मस्तिष्क के गोलार्धों के बीच कार्य-वितरण।

से सावधानीपूर्वक पेश आने के बारे में डाक्टरों-चिकित्सकों के लिये विशेष निर्देश प्रकाशित किये। "परिवार में, बालवाड़ी और स्कूल में बच्चे की बायें हाथ से कोई काम करने की इच्छा की भर्त्सना नहीं करनी चाहिये, उल्टा उसकी प्रशंसा

करनी चाहिये। बच्चों को जिस तरह लिखने में सुविधा हो उन्हें उसी तरह लिखने की अनुमति देनी चाहिये; अक्षरों के झुकाव, लिखावट आदि पर ध्यान नहीं देना चाहिये। बस इतना ही महत्त्वपूर्ण है कि गलतियां न हों और वह लिखावट की गति में अन्य बच्चों से पीछे न रहे।" लेकिन जो इसके बाद भी सोचते हैं कि वमहत्था होना बच्चे के जीवन पर बुरा प्रभाव डाल सकता है, उन्हें मैं याद दिला दूँ कि मिकेल-आंजेलो (महान इतालवी चित्रकार, मूर्त्तिकार और कवि), चार्ली चैपलिन (प्रतिभाशाली अमेरीकी अभिनेता, फिल्मकार, पटकथाकार), व्लादीमिर दाल ("सजीव रूसी भाषा का शब्दकोष" के रचेता), इवान पाव्लोव (शरीर-लोचक, जंतुओं के व्यवहार में परिस्थितिज प्रतिवर्त की भूमिका के अन्वेषक) तथा अनेक सुविख्यात खिलाड़ी वमहत्थे ही थे। अतः वमहत्थे बच्चे दमहत्थों से उन्नीस नहीं पड़ेंगे।

वमहत्थे लोग इतने विरल भी नहीं होते। हमारे देश में उनकी संख्या साठ से अस्सी लाख के बीच है। सरलता के लिये मस्तिष्क के बायें गोलार्ध को हम आगे भी प्रबल ही कहेंगे, लेकिन इसका अर्थ यह कतई नहीं होगा कि वह सचमुच प्रबल ही है।

लेकिन इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह बात है कि असममिति बिल्कुल भिन्न प्रकार के भी जंतुओं की जीवन-क्रियाओं में अवलोकित होती है – मेढ़कों से ले कर विशाल गिरगिटों में भी और आदमी में भी। विज्ञान गोलार्धों की 'विशेषज्ञता' का जितनी ही गहराई से अन्वीक्षण करता है, उनमें कार्य-वितरण उतना ही स्पष्ट होता जाता है। अनेक तथ्य अज्ञान-क्लेश के अन्वीक्षण से ज्ञात हुए हैं; यह रोग मस्तिष्क के

कार्य में एक विशेष गड़बड़ी से होता है, जिसमें ज्ञानेंद्रियों के साबूत रहने पर भी आदमी वस्तुओं और संवृत्तियों (घटनाओं--परिघटनाओं) को पहचानने में असमर्थ रहता है।

अज्ञानक्लेश का अध्ययन प्रथमतः अंग्रेज नर्वरोगलोचक ह्यु-लिंग जेक्सन ने शुरू किया था, जब 1874 में उन्होंने ध्यान दिया कि दायें गोलार्ध की आक्रांति से कुछ रोगी सुपरिचित चेहरे भी पहचानने में असमर्थ हो जाते हैं। रेटीना बिल्कुल स्वस्थ रहती है, दृष्टि-नर्व भी ठीक रहते हैं, निकट-दृष्टि या दूर--दृष्टि की भी शिकायत नहीं रहती, दृष्टि-क्षेत्र सामान्य रहता है, लेकिन आदमी यह पहचानने में असमर्थ रहता है कि सामने रखे दर्पण से किसका चेहरा उसकी आँखों में झाँक रहा है... तब से दायें और बायें गोलार्धों के अनेक अज्ञानक्लेशों का वर्णन किया जा चुका है। ऐसा भी होता है कि रोगी वस्तुओं को अच्छी तरह देख रहा होता है, लेकिन घड़ी को टेलीफोन और सेब को फूल कहता है, बेंच उसके लिये मुलायम बिस्तर में परिणत हो जाता है (क्या सचमुच परिणत होता है?)। लेकिन घड़ी की सूइयों को घुमा कर वह बिल्कुल ठीक स्थिति में रखता है, ताकि वे डाक्टर द्वारा बताये गये समय को निर्दिष्ट करें। या ऐसा भी होता है कि रोगी वस्तु का सही नाम तबतक नहीं बता पाता, जबतक उसे छू कर महसूस नहीं कर लेता। या अक्षर को देख कर उसे कोई सामान्य चित्र समझ लेता है, लेकिन जैसे ही बच्चों की तरह उस पर उंगली फेरता है, उसे तुरंत याद आ जाता है। कोई-कोई रोगी पढ़ने में असमर्थ हो जाता है, वह अक्षरों को पहचान नहीं पाता, लेकिन अंकों के साथ गणितीय संक्रियाएं पहले की तरह आराम से संपन्न कर लेता है। या... खैर, उदाह-

रण बहुत हो गये, क्योंकि आगे हमें इन्हीं के बारे में सविस्तार बातें करनी हैं, खासकर हर गोलार्ध के अलग-अलग क्षेत्रों के कार्यों से संबंधित उदाहरणों के बारे में। तब हम देखेंगे कि कुछ प्रकार के दृष्टि-अज्ञानक्लेश वस्तुओं की व्यौम स्थिति अनुभूत नहीं हो पाने के कारण उत्पन्न होते हैं और कुछ – वस्तु, जिन तत्त्वों (रेखाओं, रंगों आदि) से बने होते हैं, उन्हें मस्तिष्क में विभेदित करने की क्षमता में हानि के कारण।

दृष्टि-अज्ञानक्लेश का गंभीरता से अध्ययन हमारी शती के उत्तरार्द्ध में ही शुरू हो सका, इसका कारण है – रोगी के निरीक्षण की रीतियों का विकास। क्योंकि चेतना की ऐसी गड़बड़ियों का पता लगना भी कभी-कभी बहुत कठिन होता है। यदि रेटीना या नर्व क्षत हो जाता, तो आदमी तुरंत महसूस करता कि दुनिया में झाँकने के लिये 'झरोखा' पहले से संकीर्ण हो गया है। लेकिन अज्ञानक्लेश से ग्रस्त होने पर यह समझ पाना कठिन होता है कि शरीर में क्या क्षति हुई है। कभी-कभी दृष्टि थोड़ी क्षीण हो जाती है, लेकिन वह भी हमेशा नहीं। ऐसा भी होता है कि जब डाक्टर अज्ञानक्लेश की उपस्थिति बिल्कुल ठीक-ठीक स्पष्ट कर लेता है, तो रोगी उसमें विश्वास करने से सरासर इनकार करता है।

कभी-कभी अज्ञानक्लेश मस्तिष्क में आंतरिक रक्तस्राव अथवा गुल्म के कारण भी उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में अज्ञान-क्लेश की प्रकृति और आपरेशन के परिणामों की तुलना कर के वैज्ञानिकगण यह निर्धारित करने में समर्थ होते हैं कि गोलार्ध का कौन-सा क्षेत्र किस प्रकार के कार्य को नियंत्रित करता है। स्व. डा. येलेना कोक ने अपने निजी प्रेक्षणों तथा

ग्रन्य ग्रन्वीक्षकों की कृतियों के ग्राधार पर ग्रपनी एक ग्रंतिम पुस्तक में निम्न निष्कर्ष प्रस्तुत किया था : "मूर्त्त ग्रौर ग्रमूर्त्त (विविक्त) ग्रनुभव ... मुख्यतः ग्रलग-ग्रलग गोलार्धों से होते हैं। हरेक में ग्रनाटोमिक रूप से सीमित तंत्र हैं, जो रंग, रूप, ग्राकार ग्रादि की ग्रनुभूति कराते हैं।"

ग्रनेक तथ्य इस प्रयोग से भी मिले, जिसमें बिल्कुल स्वस्थ लोग दृष्टि से संबंधित प्रश्नों को बायें या दायें गोलार्ध से हल करते हैं। ग्रापको स्मरण होगा कि हर ग्राँख की रेटीना का दायां या बायां भाग मस्तिष्क के तदनुरूप बायें या दायें गोलार्ध से जुड़ा होता है। यदि चित्र इतनी फुर्ती से दिखाया जाये कि मस्तिष्क के दोनों गोलार्धों को ग्रापस में सूचना--विनिमय का समय नहीं मिले, तो पूरे विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि उत्तर (शब्द या कार्य के रूप में) सिर्फ एक गोलार्ध की क्रिया का प्रतिफल है। लेकिन इस तरह के प्रेक्षण कितना भी विश्वसनीय क्यों न हों, शरीरलोचकों को शंका रह ही जाती है : गोलार्धों के बीच का संबंध परिणामों को गलत रूप में तो नहीं प्रस्तुत कर रहा है?

6-ठे दशक के ग्रंत में ऐसे प्रयोगों के परिणाम प्रकाशित किये गये थे, जिनसे सिद्ध हुग्रा कि गोलार्धों के ग्रापसी संपर्क की भूमिका बहुत बड़ी है ग्रौर हर गोलार्ध में स्वतंत्र रूप से काम करने की ग्रव्यक्त क्षमता भी बहुत ग्रधिक है। यहां विख्यात 'कैलीफोर्नियाई बिल्लियों' की बात चल रही है, जिनपर कैलीफोर्निया के तकनीकी संस्थान में प्रयोग किये गये थे। वहां नर्वशरीरलोचक स्पेरी काम करते थे। उन्होंने कुछ बिल्लियों के मस्तिष्क में किण-पिंडों (घट्ठानुमा पिंडों) को बीच से काट कर विभक्त कर दिया (किण-पिंड करोड़ों ग्राक्सोनों
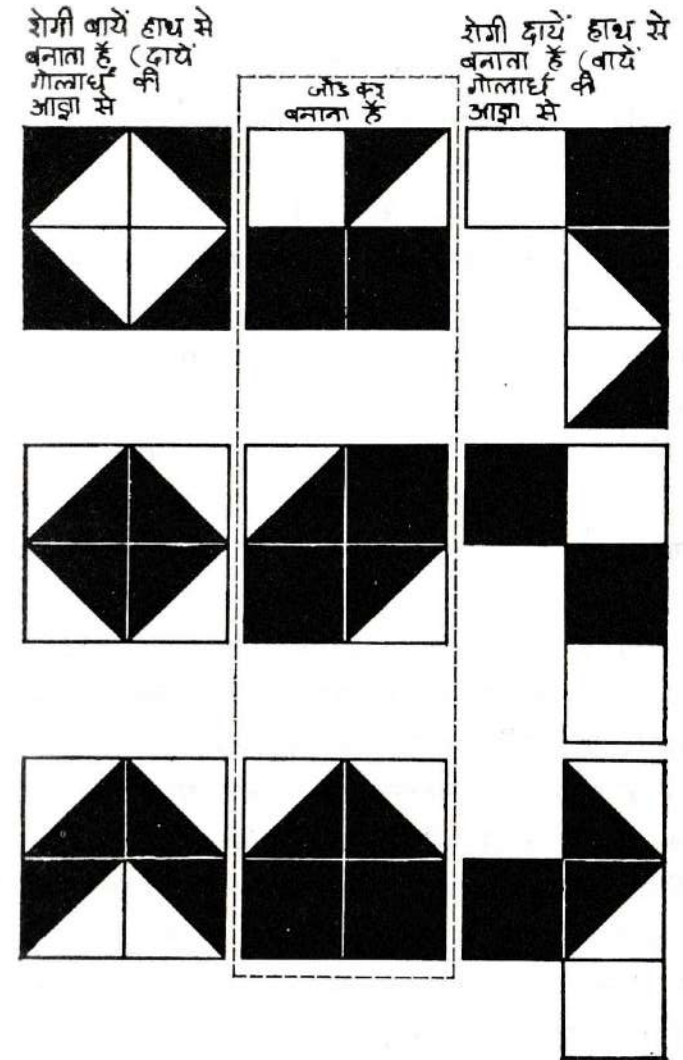
रोगी के मस्तिष्क में किण पिंड को काट कर विभक्त कर लेने पर वह दायें ग्रौर बायें हाथ से काम ग्रलग-ग्रलग प्रकार से करता है।

से बना हुआ एक घट्टानुमा पिंड है, जो मस्तिष्क के दोनों गोलार्धों के बीच संपर्क-सेतु का काम करता है)। इस आपरेशन का परिणाम अप्रत्याशित निकला: मस्तिष्क का हर गोलार्ध स्वतंत्र रूप से काम करने लगा, मानो एक जंतु में दो अलग-अलग जीव जी रहे हों।

इसका पता तब चला, जब हर आँख का संपर्क सिर्फ एक गोलार्ध के साथ बने रहने का प्रबंध किया जा सका। इसके लिये दृष्टि-नर्वों की क्रूसता को काट देना पड़ा। अब हर रेटीना से (या और सही कहें, तो उसके तदनुरूप भागों से) सूचना दृष्टि-वल्कुट के सिर्फ समान क्षेत्र में ही पहुँचने लगी। इस प्रकार आँख और गोलार्ध के दो स्वतंत्र संकुल बन गये और प्रयोगकर्ता दोनों को अलग-अलग चीजें सिखाने लगा। उदाहरणार्थ, एक आँख को सिखाया गया कि (दूसरी आँख पर पट्टी बांध कर) खाना उस दरवाजे को खोलने पर मिलता है, जिसपर वर्ग की आकृति बनी है और दूसरी आँख को सिखाया गया कि खाना उस दरवाजे के पार है, जिसपर वृत्त की आकृति बनी है। फलस्वरूप (दोनों आँखें खोलने पर) बिल्ली दुविधा में पड़ जाती थी: उसमें दो प्रकार के परिस्थितिज प्रतिवर्त बन जाते थे। उसका यह असमंजस किसी एक आँख को बंद करने पर ही मिटता था–एक प्रतिवर्त लुप्त हो जाता था (या बुझ जाता था) और दूसरा पूर्णतया हावी हो जाता था।

दो मस्तिष्क-संरचनाओं की वास्तविकता का और भी विश्वस्त प्रमाण बंदरों पर प्रयोगों से मिला, जिनके मस्तिष्क को सिर्फ दो भागों में ही नहीं कर्तित किया गया, बल्कि साथ-साथ उसके अग्र लुंड (खंड, फाँक) को भी वियोजित कर दिया

गया, अर्थात् मस्तिष्क के ललाट वाले क्षेत्र से केंद्रीय क्षेत्रों की ओर जाने वाले सभी आक्सोनों को काट दिया गया। दोनों ही गोलार्धों में लुंड-विच्छेद करने के बाद जंतु शांत, मैत्रीपूर्ण और बेपरवाह हो जाता है (भले ही पहले वह बहुत गुस्सैल और असहनशील रहा हो!)। लेकिन यही प्रभाव उस स्थिति में भी प्राप्त होता है, जब गोलार्धों को काट कर वियोजित करने के बाद लुंड-विच्छेदन सिर्फ एक गोलार्ध में किया जाता है।

जब बंदर अक्षत गोलार्ध के वल्कुट से जुड़ी आँख को काम में ला रहा था, तो उसे एक साँप दिखाया गया,–अपनी पुस्तक "मस्तिष्क की कार्य-युक्तियां" में डीन वूल्डरिज लिखते हैं।–छोटे बंदर अक्सर साँप से बहुत डरते हैं और दो स्वतंत्र भागों में विभक्त मस्तिष्क वाले बंदर इसके अपवाद नहीं निकले, साँप देखते ही उनमें भय और भागने की चेष्टा व्यक्त होने लगी। इसके बाद (...) बंदर को उस गोलार्ध से जुड़ी आँख से काम लेना पड़ा, जिसमें लुंड-विच्छेदन किया गया था। उसे पुनः साँप दिखाया गया, लेकिन इस बार बंदर ने उसपर जरा भी ध्यान नहीं दिया: उसे साँप में कोई भी खतरनाक चीज नहीं दिखी।"

और आदमी? यदि उसके गोलार्धों को विच्छेदित (काट कर एक-दूसरे से वियुक्त, वियोजित) कर दिया जाये, तो क्या होगा? इस प्रश्न का उत्तर विज्ञान को 7-वें दशक के आरंभ में मिला, जब अमरीकी शरीरलोचक एम. गाजानीगा और आर. स्पेरी ने एक ऐसे रोगी का प्रेक्षण शुरू किया, जिसके मस्तिष्क में यह आपरेशन नर्व-करोर्जक पी. फोगेल और डी. बोगिन को करना पड़ा। कहना नहीं होगा कि यह

काम जौहरी की शुद्धता के साथ करना पड़ा था। इन डाक्टरों के अनुसार उक्त रोगी को एक बहुत गंभीर मानसिक रोग था, जिसमें किसी भी दवा से लाभ नहीं हो रहा था, इसी-लिये उन्हें यह आपरेशन करना पड़ा। और चूँकि मानव-मस्तिष्क जंतु-जगत में एक अनुपम विरचना है, इसलिये उसके उच्छेदित गोलार्धों में भी अनुपमता और शुद्ध कार्य-वितरण प्रेक्षित हुआ।

उदाहरणार्थ, विच्छेदित किण-पिंड वाले आदमी को उसके दृष्टि-क्षेत्र के दायें भाग में सेब दिखाने पर (अर्थात् सेब को बायें गोलार्ध में प्रक्षिप्त करने पर) वह पूरे विश्वास के साथ उसे सेब ही कहता है, इस शब्द को बिना किसी कठिनाई के कागज पर लिख भी लेता है: इस स्थिति में दृष्टि-तंत्र, वाक-संचालन और लिखावट के केंद्र प्रत्यक्ष रूप से जुड़े होते हैं। लेकिन सेब को दृष्टि-क्षेत्र के बायें भाग में लाने पर, अर्थात् उसका बिंब दायें गोलार्ध में प्रक्षिप्त करने पर हम न तो उसका नाम सुनेंगे न कागज पर उसका नाम देखेंगे। इस प्रकार, अन्वीक्षकों ने एक बार फिर से सिद्ध किया कि मस्तिष्क के दायें गोलार्ध में वाक् उत्पन्न हो, इसके लिये जरूरी है कि सूचनाएं बायें गोलार्ध में पहुँचें।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि दायां गोलार्ध 'मूढ़' है। बस, वह कुछ भिन्न है। वह गूंगा है, लेकिन समझ-दारी में कम नहीं है। शब्द 'पेंसिल' अनुभूत कर लेने के बाद वह तदनुरूप आज्ञा भेजता है और रोगी टटोल कर अनेक वस्तुओं के बीच पेंसिल अलग कर लेता है। और इसके विप-रीत, बायें हाथ में पेंसिल अनुभव कर लेने के बाद वह बिना देखे कार्ड ढूंढ़ लेता है, जिसपर शब्द लिखा होता है। और

यह सब काम वह बिलकुल चुपचाप करता है; यदि कुछ कहता भी है, तो उसका संबंध इस काम के साथ बिल्कुल नहीं होता। गाजानीग लिखते हैं: "बायें हाथ में (दृष्टि-क्षेत्र से बाहर) रखी पेंसिल को रोगी चाकू भी कह सकता है, लाइटर भी। शब्दों को टटोलने का यह काम शायद दायें गोलार्ध से नहीं, बल्कि बायें गोलार्ध से चलता है, जिसने वस्तु को अनुभूत तो नहीं किया है, लेकिन जो अन्य अप्रत्यक्ष लक्षणों के आधार पर उसे पहचानने की कोशिश करता है।" इस तरह ब्रोक, वेर्निके और इनके परवर्ती अन्वीक्षक भ्रम में थे, जब वे दायें गोलार्ध को निःशब्द कहते थे (जाहिर है कि इसके लिये उन्हें दोष नहीं देना चाहिये): दायां गोलार्ध मूक है, लेकिन शब्दहीन नहीं है। यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया, जब रोगी के बायें काम में वाक्–वस्तु के बाह्य रूप का वर्णन–डाला गया। इससे बायां हाथ थैली में से आवश्यक वस्तु टटोल कर तुरंत निकाल लिया करता था, इसमें कभी गलती नहीं होती थी। यही नहीं, वस्तु के पूर्ण वर्णन की भी आवश्यकता नहीं पड़ती थी, एक परोक्ष संकेत ही काफी होता था, जिससे रोगी सही प्रतिक्रिया कर सके। यह बात और है कि दायें गोलार्ध की क्षमता भिन्न लोगों में काफी भिन्न होती है, लेकिन यहां तथ्य ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।

हमारे देश में किण-पिंड को जान-बूझ कर काटना मना है। सोवियत वैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि मानसिक विकार से मुक्त करने की यह रीति रोगी के लिये बहुत महंगी पड़ती है, क्योंकि आदमी में आदमियत का विनाश बहुत गहन हो जाता है (और इसके अतिरिक्त, आपरेशन से हमेशा ऐसा प्रभाव नहीं मिलता, जिसकी आशा की जाती है)। लेकिन
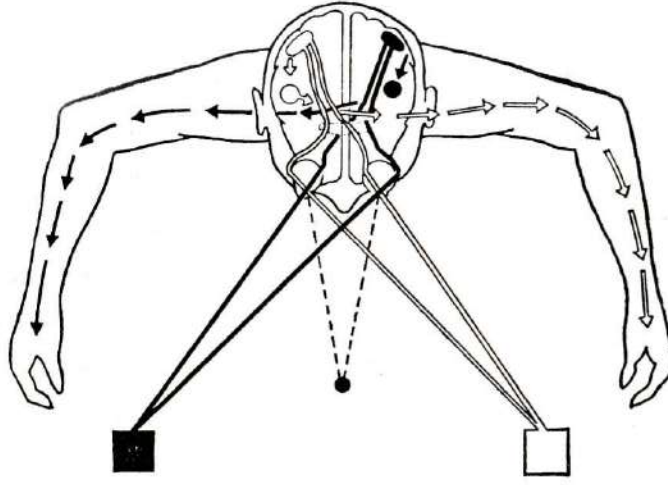
विभक्त किण-पिंड वाले रोगी में दृश्य-संकेत और हाथ की गति के बीच संपर्क लगभग इसी आरेख के अनुसार होता है।

ऐसा भी होता है कि कोई चारा नहीं रह जाता: आदमी की जान बचाने के लिये मस्तिष्क से आंतर रक्तस्राव या गुल्म को दूर करते वक्त करोर्जक की छूरी चाहे-अनचाहे निषिद्ध क्षेत्र में चल ही जाती है। मस्तिष्क में इस तरह के हस्तक्षेप के बाद रोगी का निरीक्षण विशेष शुद्धता और आपूर्णता के साथ किया जाता है। कारण स्पष्ट है: रोगी के सामने दुनिया बिल्कुल बदल जाती है और इस नयी दुनिया में उसे सही तरह से काम करना सिखाना पड़ता है। नर्वशरीरलोचकों को अमूल्य तथ्य प्राप्त होते हैं, जिनसे मस्तिष्क की बनावट और उसके कार्यों पर प्रकाश पड़ता है। सोवियत संघ में ये अन्वीक्षण अ. लूरिया के नेतृत्व में शुरू हुए थे, जिनके काम से, जैसा कि विशेषज्ञों का कहना है, वर्त्तमान मनोलोचन का विकास-मार्ग स्थिर हुआ है।
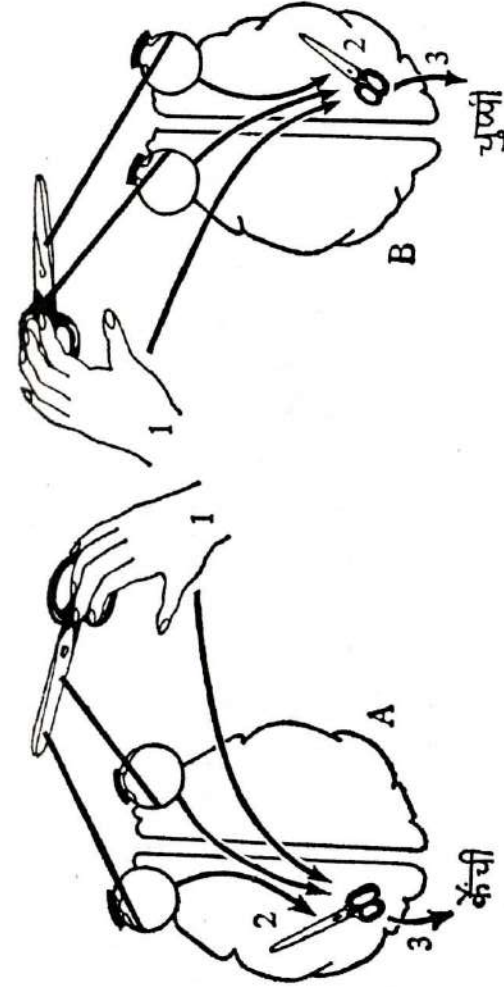
विभक्त किण-पिंड वाले रोगी का बायां दृष्टि-क्षेत्र बंद करने पर भी वह वस्तु को देखकर या टटोल कर उसका नाम बता सकता है (A); उसी वस्तु के बारे में दृश्य सूचना जब सिर्फ दायें गोलार्ध में पहुंचती है, तो रोगी उसका नाम नहीं बता पाता, यद्यपि बायें हाथ से टटोल कर उसे अन्य वस्तुओं से अलग कर ले सकता है (B)।

नि. बुर्देन्को के नाम से सम्मानित प्रायोगिक नर्वकरोर्जन संस्थान में, जहां इस प्रकार के जटिलतम नर्वकरोर्जिक ग्राप-रेशन किये जाते हैं, यह तथ्य स्थापित किया गया कि वस्तुग्रों को पहचानने के काम में दोनों गोलार्ध समान मूल्य नहीं रखते। दायें गोलार्ध के लिये महत्त्वपूर्ण है कि चित्र में ग्रधिक विवरण हों, वह वास्तविकता के ग्रधिक निकट हो। लेकिन बायें गोलार्ध को ग्रारेखात्मक चित्र ग्रधिक पसंद हैं: सभी पंखों ग्रौर रोग्रों के साथ गौरैया का चित्र देख कर वह नहीं पह-चान पाता, लेकिन बच्चों जैसी ग्रारेखात्मक शैली में चित्र वह तुरंत पहचान लेता है। उनमें चित्रकारी की क्षमता भी भिन्न होती है। जबतक किण-पिंड विभक्त नहीं किया जाता, ग्रादमी घर ग्रौर घन ग्रादि वस्तुग्रों के चित्र दोनों हाथों से बना सकता है, जो समान सरलता से पहचान में ग्रा जाते हैं; दोनों हाथ शब्द भी ग्रच्छी तरह लिख लेते हैं। ग्रापरे-शन के बाद दायें हाथ में सिर्फ लिपि रह जाती है, चित्र वह ग्रगड़म-बगड़म बनाता है। बायें हाथ में चित्र बनाने की क्षमता सुरक्षित रहती है, लेकिन ग्रक्षर लिखने की क्षमता बिल्कुल लुप्त हो जाती है। लेकिन यदि किण-पिंड के रेशों का सिर्फ एक ग्रंश कटता है, तो दोनों गोलार्धों के बीच संपर्क धीरे-धीरे पुनर्स्थापित हो जाता है ग्रौर चारेक सप्ताह बाद दोनों हाथ लगभग समान क्षमताग्रों के साथ काम करने लगते हैं।

बुर्देन्को संस्थान की एक प्रयोगशाला में: (सफेद लबादे के कारण रोगी मुझे भी एक डाक्टर समझता है, ग्रतः मेरी उप-स्थिति से उसे कोई परेशानी नहीं है)

– यह क्या है? – ग्रौर इस प्रश्न के साथ डाक्टर रोगी

के सामने एक चित्र रख देता है: ग्रफ्रीकी मरुभूमि में शुतु-र्मुर्ग भाग रहा है।

– पता नहीं... कोई चीज दौड़ रही है... ग्रौर यह... बालू है या पानी है... कहीं ग्राकाश तो नहीं है?..

– बुझौवल बुझाने की जरूरत नहीं है, ग्राप शांत हो जाइये ग्रौर जो पहला शब्द मन में ग्राता है, वही बताइये। ग्राप क्या सोचते हैं, यह सजीव है या निर्जिव?

– सजीव।

– ठीक है, बहुत ग्रच्छा। ग्रब बताइये, ठंडा है या गरम।

– गरम... मुलायम पंखों की तरह चिकना...

– बहुत ग्रच्छा। इसे पैर ग्रौर दुम हैं?

– ग्रोह, दुम के साथ तो मुझे हमेशा कठिनाई होती है... ग्रौर पैर – पैर हैं!

– यह बड़ा है या छोटा?

– बड़ा, ग्रादमी से भी बड़ा।

– लेकिन यह है क्या?

– भालू? नहीं... भालू थोड़ा गोल ग्रौर मुलायम रोएं-दार होता है... शायद बतख है: देखिये, गरदन कितनी लंबी है।

इस ग्रादमी के बायें गोलार्ध में गंभीर गड़बड़ियां हैं, लेकिन मस्तिष्क की स्वस्थ संरचनाएं वस्तु के गुण बिल्कुल सही--सही निर्धारित करने में, दृष्टि-बिंबों को गुणों के ग्राधार पर विपरीत ग्रुपों में बाँटने में सहायता कर रही हैं; उस हालत में भी, जब वे वस्तु को पहचान नहीं पातीं।

मस्तिष्क के वियोजित गोलार्धों को दुबारा जोड़ा नहीं जा सकता। लेकिन उनके कार्यों के विश्लेषण जैसे सूक्ष्म ग्रौर

जटिल अन्वीक्षण कुछ दूसरी प्रकार से संपन्न करने की इच्छा होती है: कभी उनके संपर्क काट कर, तो कभी जोड़ कर। किसी भी गंभीर प्रयोग का आधार ऐसी ही अध्ययन-रीति होती है। लेकिन इस तरह का 'स्विच' कहां से मिले, जिससे इच्छानुसार किसी एक गोलार्ध को कुछ समय के लिये ऑफ किया जा सके।

गाजानीगा और स्पेरी के सनसनीखेज प्रेक्षणों से बहुत पूर्व ही, चौथे दशक में विद्युचिकित्सा की रीति का अविष्कार हो चुका था। इसमें मानसिक रोग से पीड़ित व्यक्ति के दोनों गोलार्धों से हो कर विद्युत की क्षीण धारा गुजारी जाती है। इससे विभ्रम दूर किया जा सकता था, आत्महत्या की हावी हुई प्रवृत्ति से मुक्ति दिलायी जा सकती थी...। पाँचवे दशक में कुछ मनोचिकित्सकों ने एकतरफा विद्युचिकित्सा का उपयोग शुरू किया। वे एलेक्ट्रोड इस प्रकार लगाते थे कि विद्युत-धारा मुख्यत: एक गोलार्ध से लघुतम पथ पर गुजरती थी। कई केसों में अधिक अच्छे परिणाम मिले। 7-वें दशक के अंत में लेनिनग्राद के वैज्ञानिक प्रोफेसर लेव बालोनोव और जीवलोचनी विज्ञानों के डाक्टर वादिम देग्लिन ने देखा कि एक गोलार्ध से गुजारी गयी विद्युत-धारा ही ऑफ करने वाले उस स्विच का काम कर रही है, जिसका सपना नर्वशरीर-लोचक देख रहे थे।

उपरोक्त विद्युचिकित्सा के बाद रोगी की चेतना सुरक्षित रहती है, वह डाक्टर के साथ बातचीत कर सकता है और इसीलिये प्रयोगों में भाग भी ले सकता है। ये प्रयोग निश्चय ही बहुमूल्य होंगे, क्योंकि करोर्जक के हस्तक्षेप के कारण मस्तिष्क को कोई क्षति नहीं पहुँचती। अपने प्रेक्षणों के परि-

णाम बालोनोव और देग्लिन ने 'प्रबल एवं क्षीण गोलार्धों की श्रवण एवं वाक् क्षमता' नामक पुस्तक में प्रकाशित किये।

इससे अनेक आश्चर्यजनक तथ्य प्रकट हुए, जिनका अबतक किसी को पता नहीं था। पहली बात तो यह ज्ञात हुई कि मस्तिष्क के गोलार्ध एक-दूसरे को खूब प्रभावित करते हैं। उनका यह संबंध, जैसा कि सोचा जाता था, 'सहायक प्रकृति' का नहीं, बल्कि दमनकारी प्रकृति का था। जब एक गोलार्ध ऑफ होता था, तो दूसरे के सभी कार्य अचानक बहुत तीव्र हो जाया करते थे। ("वियोजित गोलार्धों वाला आदमी कोई भी काम सामान्य आदमी की तुलना में दुगुनी तेजी से कर लेता है," — गाजानीग ने लिखा था।)

यदि विद्युधारा की अभिक्रिया से दायां गोलार्ध दमित कर दिया जाता है, तो बायें, वाक्-संचालक गोलार्ध के कार्य और भी प्रबल हो जाते हैं: आदमी बहुत बातूनी हो जाता है, लोगों से मिलना-जुलना उसे अच्छा लगता है, वह दूसरों की बातचीत में भी घुसने लगता है, आसपास के लोगों के आचरण पर जोर-जोर से टीका-टिप्पणियां करता है, सभी से परामर्श मांगता है, सहायता मांगता है। कुछ हद तक उसकी तुलना शराब पिये हुए व्यक्ति से की जा सकती है। नर्को-लोचकों का भी यही कहना है कि अल्कोहल से नशे की पहली प्रावस्था में दायां गोलार्ध ही सबसे अधिक प्रभावित (दमित) होता है।

लेकिन परिवर्तनों का दौर इसी पर नहीं खत्म होता। दायें गोलार्ध की निष्क्रियता के कारण आदमी की आवाज बिल्कुल अपरिचित और अजीब-सी हो जाती है। आवाज भोथी और कर्कश हो जाती है, किसी की आवाज में भूँकने का सा पुट

आ जाता है, तो किसी की आवाज में तुतलहट आ जाती है। वाक् से सामान्य लय तथा राग-माधुर्य लुप्त हो जाते हैं, उसमें तार्किक और रागात्मक (भावात्मक) विराम नहीं रह जाते, टोन का उतार-चढ़ाव भी गायब हो जाता है, उच्चारण-बल बिल्कुल अप्रत्याशित स्थलों पर पड़ने लगता है...

यदि विद्युधारा बायें गोलार्ध से गुजरती है, तो आदमी शुरू में कुछ समय तक चुप रहता है – वाक्-संरचनाएं दमित रहती हैं। लेकिन जैसे ही अभिघात समाप्त होता है, आदमी फटाफट बोलना शुरू कर देता है। उसका उच्चारण स्पष्ट और प्रभावशाली (अभिव्यक्तिपूर्ण) होता है (क्योंकि दायां गोलार्ध कार्यरत रहता है, जिसपर स्वर का अनुतान निर्भर करता है), लेकिन वाक्य अधूरे और असंबद्ध रहते हैं, जैसे – "... मुझे ले गये थे, जल्दी ही माफ कर दिया, मैं मूझको खोलूंगी कैसे... मुझसे पूछिये, छोड़िये, फिसल गयी... मैं अभी जाती हूँ... मुझे कहिये, मैं खुद लूंगी...।" रोगी को क्रोध होता है कि डाक्टर उसे समझ नहीं पाता, यह उसकी तेजी से बदलती भाव-भंगिमाओं से स्पष्ट होने लगता है। विद्युधारा की अभिक्रिया उन संरचनाओं को दमित कर देती है, जो कही जाने वाली बात के साथ शब्दों को जोड़ती हैं। ये बातें शायद मस्तिष्क में पहले शब्दहीन बिंबों के रूप में उभरती हैं, फिर उनके अनुरूप शब्द, वाक्य आदि चुने जाते हैं।

ऐसी अवस्था में आदमी उस बात को कैसे ग्रहण करता है, जो उससे कही जाती है? बालोनोव और देग्लिन ने बिल्कुल सनसनीखेज बातें ज्ञात कीं। पहले यह माना जाता था कि शब्दों को पहचानने की क्रिया के साथ दायें गोलार्ध

का कोई संबंध नहीं है, लेकिन इस खोज से सिद्ध हुआ कि वह इस क्रिया में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यदि वह काम करना बंद कर देता है, तो हल्की से हल्की बाधा भी आदमी को विचलित कर देती है और वह वाक् को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाता है। यदि बाधा नहीं भी हो, तो औफ दायें गोलार्ध से वह स्वर का अनुतान (लहजा) महसूस करने में असमर्थ रहता है। जो उसे कहा जाता है, वह अच्छी तरह समझ लेता है, लेकिन किस तरह कहा गया है, इसके प्रति वह पूर्णतया उदासीन रहता है। रागात्मक अनुभूति ही नहीं लुप्त होती। रोगी डाक्टर द्वारा प्रस्तुत अनुतान को दुहराने से भी इन्कार कर देता है, क्योंकि वह ऐसा कर सकने की अवस्था में ही नहीं होता, चाहे वह कितनी भी कोशिश क्यों न करे।

इसके विपरीत, बायें गोलार्ध के दमित होने पर रोगी उसके प्रति कहे गये शब्दों को तो नहीं समझता, लेकिन कहने के लहजे को कहीं अधिक सूक्ष्मता से समझता है, बनिस्बत कि जब उसके दोनों गोलार्ध काम कर रहे होते हैं।

मस्तिष्क के दायें गोलार्ध पर 'वस्तुओं का शोर' पहचानने का उत्तरदायित्व होता है, जैसे काँच टूटने की झनझनाहट, पानी की बुलबुलाहट, तालियां, छींक, खर्राटे आदि उसी की सहायता से पहचानी जाती है। प्रकृति की विभिन्न संवृत्तियों, आदमी और मशीनों के कार्यों के साथ-साथ जो विभिन्न आवाजें उत्पन्न होती हैं, उन्हें दायां गोलार्ध ही पहचानता है। उसके दमित होने पर आदमी के लिये दुनिया नीरव हो जाती है, ऐसी बात नहीं है; दुनिया उसके लिये निरर्थक ध्वनियों से भर जाती है।

प्रकृति और दैनंदिन कार्यों में उत्पन्न होने वाली ध्वनियां जटिल होती हैं, उनका शब्दों में वर्णन असंभव होता है, परिस्थितियों की संपूर्णता में ही उन्हें अनुभूत करने पर उनका अर्थ प्रकट होता है (यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्य है, जिसका अर्थ आगे चलकर स्पष्ट होगा)। दूसरी ओर, इन ध्वनियों को सुनकर हम अपनी कल्पना में उन सारी परिस्थितियों का चित्र बना ले सकते हैं, जिनमें वे उत्पन्न होती हैं। रेडियो-नाटक हमारी इसी क्षमता पर रचे जाते हैं, जिनमें हम ध्वनियों के सहारे ही अपनी कल्पना में तरह-तरह के दृश्य भी देखते जाते हैं – कैसे नायक सीढ़ियों पर चढ़ता है, जेब से चाबी निकालता है, दरवाजा खोलता है, आदि। दायें गोलार्ध के आौफ होने पर इन ध्वनियों से मस्तिष्क में कोई भी चित्र नहीं बनेगा, उनका कोई अर्थ नहीं निकलेगा।

दायीं अनुभूति का मार्ग अवरुद्ध कर देने पर बहुत अच्छी तरह परिचित राग भी समझ में नहीं आयेगा। ऐसी अवस्था में रोगी गाने से इन्कार करता है, डाक्टर के बहुत कहने पर यदि गाता भी है, तो बहुत गलत-सलत राग पकड़ता है, अलग-अलग गानों के रागों को मिला देता है, आदि। यहां फिर नशे में अवस्थित आदमी की याद आती है: किसी व्यंग्यकार ने, जिसे गोलार्धों की भूमिका के बारे में कुछ भी मालूम नहीं था, एक बिल्कुल ठीक टिप्पणी की थी कि नशे की अवस्था में सभी लोग एक ही स्वर में गाते हैं और शायद एक ही गाना गाते हैं।

जब बायां गोलार्ध काम नहीं करता है, तो कोई भी राग बहुत सरलता और स्पष्टता से अनुभूत होता है, उन्हें दुहराना

या उन पर ताल देना भी सरल होता है, लेकिन गीत का नाम या उसके शब्द बता सकना संभव नहीं होता।

बायां गोलार्ध शब्द को अनुभूत करता है, दायां – राग और अनुतान को। लगता है कि लोग सचमुच दो प्रकार के होते हैं – 'चिंतक' और 'कलाकार' प्रकृति के, जिन्हें इ. पाव्लोव निम्न शब्दों से लंछित करते हैं: "... कलाकार वास्तविकता को उसकी संपूर्णता के साथ ग्रहण करते हैं, पूरी तरह से सजीव वास्तविकता को बिना खंडित या वियोजित किये अनुभूत करते हैं; दूसरी प्रकृति के लोग – चिंतक या विचारक – उसे खंड-खंड करके एक तरह से उसकी हत्या कर देते हैं, उसका एक अस्थायी कंकाल बना लेते हैं और इसके बाद फिर उसके खंडों को जोड़ते हैं और इस तरह उसमें पुनः जान फूँकने की कोशिश करते हैं, लेकिन इसमें उन्हें पूरी तरह सफलता नहीं मिलती।

बायां गोलार्ध विविक्त रूप (या अमूर्त्त रूप) अनुभूत करता है और दायां गोलार्ध – मूर्त्त रूप (या संभूत रूप, अर्थात् सभी गुणों और घटकों से युक्त रूप)। इस तरह के कार्य-वितरण के पीछे कौन-सी युक्ति छिपी है, उसका सार क्या है? इस प्रश्न का उत्तर अपने समय में जोवलोचनी विज्ञानों की डाक्टर लीदिया लेऊशिना और पी-एच. डी. अलेक्सांद्रा नेव्स्काया तथा मारीना पाव्लोव्स्काया ने प्रयोगशाला में खोजना शुरू किया।

प्रयोगाधीन व्यक्ति को वे चित्र दिखाती थीं – इतने अल्प काल के लिये कि दोनों गोलार्धों के बीच सूचना-विनिमय संभव नहीं हो पाता। ये चित्र कभी एक गोलार्ध में, तो कभी दूसरे गोलार्ध में प्रेषित किये जाते थे। प्रयोगाधीन व्यक्ति से आकृति-

पहचानने के लिये कहा जाता था – उपकरण के झरोखे में बकरी दिखी थी, या पत्ता, कुत्ता आदि, – या एक साथ (एक साथ ही!) आकृति और आकार, आकृति और दृष्टि-क्षेत्र में चित्र का स्थान बताने को कहा जाता था – कि मध्य स्थल से ऊपर है या नीचे, दायें या बायें। आकृति का प्रश्न हर स्थिति में रखा जाता है, क्योंकि किसी भी वस्तु की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी आकृति ही है।

इस तरह के प्रयोग अनेक वैज्ञानिक कर रहे थे, लेकिन उनके प्रयोग आपस में एक समान थे; उनका लक्ष्य यह स्पष्ट करना होता था कि किस प्रकार के चित्र या चिन्ह दायें गोलार्ध द्वारा अधिक अच्छी तरह से पहचाने जाते हैं, और किस तरह के बायें गोलार्ध से, पहचानने की क्रिया वाक् के साथ किस तरह जुड़ी है, आदि। लेकिन लेऊशिना और उनके कलीगों ने पहले यह स्पष्ट करने का निर्णय किया कि जब आदमी कभी बायें, तो कभी दायें गोलार्ध से पहचानने का काम करता है, तो उससे कैसी गलतियां होती हैं, इन गलतियों में कोई प्रणालीबद्धता है या नहीं, उनमें कोई नयी नियमसंगति है या नहीं। आदमी को लगता है कि उसे बिल्कुल कुछ भी नहीं दिखा है, लेकिन प्रयोगकर्त्ता उससे मांग करता है: "जवाब जरूर दीजिये, यदि आप उसे अंदाजी-टक्कर का जवाब समझते हों, तब भी!" अब तो कुछ न कुछ बताना ही पड़ता है। जब हमारे उत्तर संचित हो जाते हैं, तब दिखता है कि कुछ गलतियां अधिक प्रायिक होती हैं (अधिक अक्सर मिलती हैं), दूसरी विरल होती हैं; कुछ गलतियां नियमबद्ध होती हैं, कुछ सांयोगिक होती हैं। और सब से रोचक बात यह है कि सभी प्रयोगाधीन व्यक्तियों में प्रबल

गोलार्ध की गलतियों की प्रकृति एक समान होती है, लेकिन अप्रबल (क्षीण) गोलार्ध की गलतियां भिन्न और व्यक्तिगत होती हैं, हर आदमी के लिये अलग-अलग प्रकार की होती हैं।

बायें गोलार्ध की गलतियां एक तरह से सममित होती हैं: आकृति 1 को हमेशा 4 बताते हैं (उदाहरण के लिये; वैसे, प्रयोग में अंक नहीं दिखाये जाते थे) और 4 की जगह यदि गलती होती है, तो 1 ही बताते हैं। आकृति 2 और 3 को पहचानने में भी ऐसी ही भूल होती है। लेकिन ऐसा कभी भी नहीं हुआ कि इनमें से एक जोड़ी की किसी आकृति की जगह भूल से दूसरी जोड़ी की कोई आकृति बतायी गयी (जैसे 1 की जगह 2 या 4 की जगह 3)।

दायें गोलार्ध की गलतियों में कोई नियमबद्धता नहीं होती। आकृति 1 को 4 समझ लेते हैं, 4 की जगह 3 बता देते हैं, लेकिन 1 बताने की गलती नहीं करते। अन्य व्यक्ति अन्य प्रकार की गलतियां करता है, लेकिन भूल होने वाली आकृतियों की जोड़ियां नहीं बनतीं (जैसा कि बायें गोलार्ध की गलतियों के साथ होता है)। इस पर गंभीरता से सोचना पड़ा: क्यों होता है ऐसा?

एक और महत्त्वपूर्ण बात है: दायां गोलार्ध आकृति को उतनी ही अधिक अच्छी तरह पहचान लेता है, जितनी अधिक अच्छी तरह वह दूसरे सहवर्ती गुण – आकार या दृष्टि-क्षेत्र में स्थान – अनुभूत करने में समर्थ हो जाता है। सहवर्ती गुण को अनुभूत करने में गलती के साथ-साथ आकृति पहचानने में भी अवश्य गलती होती है। लेकिन बायें गोलार्ध के लिये यह बिल्कुल महत्त्वपूर्ण नहीं होता कि सहवर्ती गुण कहां तक

सही अनुभूत किया गया है; वस्तु के आकार या स्थान निर्धारित करने में जैसी भी गलती हो, उसकी आकृति बिल्कुल सही पहचान ली जाती है। यही नहीं, आकृति और सहवर्ती गुण को एक साथ यथासंभव सही पहचानने की कोशिश करने पर स्थिति बदतर हो जाती है, गलत उत्तर अधिक मिलने लगते हैं।

इन सब का अर्थ यह है कि बायां और दायां गोलार्ध एक ही चित्र को अलग-अलग प्रकार से अभिग्रहण करते हैं।

बायां गोलार्ध आकृति को पहचानते वक्त सिर्फ उन्हीं विशेषताओं पर ध्यान देता है, जिनके कारण एक आकृति दूसरी से भिन्न होती है। वह हर आकृति का एक सामान्यकृत बिंब बनाता है। और चूँकि ऐसे बिंबों के बीच न्यूनाधिक रूप से सादृश्य या असादृश्य भी हो सकता है (उड़ती निगाह से घरेलू बत्तख को हंस समझने की गलती हो सकती है, लेकिन हवाई जहाज को गाय साझने की नहीं), इसीलिये भूल होने वाली आकृतियों की जोड़ियां प्राप्त होती हैं। 1 और 4 की आकृतियां मस्तिष्क के व्योम में (उसके न्युरोनों के जाल में) कुछ ऐसी विशेषताओं द्वारा प्रतिबिंबित होती हैं, जिनसे निष्कर्ष निकलता है कि ये आकृतियां सदृश हैं। ठीक इसी प्रकार 2 और 3 के चित्र भी किन्हीं सदृश चिन्हों या विशेषताओं द्वारा ही प्रतिबिंबित हैं। और चूँकि चित्र 1 व 2 के या 1 व 3 के लंछक चिन्ह (विशेषता-सूचक चिन्ह) बिल्कुल अलग-अलग हैं; इसलिये एक जोड़ी की किसी आकृति को दूसरी जोड़ी की कोई आकृति समझ लेने की भूल कभी नहीं होती।

इन तथ्यों से लगता है कि बायें गोलार्ध में वस्तुओं को

पहचानने की कुछ ऐसी युक्ति है, जो खोजी तंत्र 'वृक्ष' के सिद्धांत पर काम करती है।

वृक्ष... मान ले कि फर्श पर जूतों, चप्पलों, बूटों, सैंडलों आदि का अंबार लगा है। उनके आकार, डिजाइन और रंग भी तरह-तरह के हैं। आपके हाथ में फीता लगा नुकीली नाक वाला एक पीला जूता है और आपको इसका जोड़ा ढूंढ़ना है। यदि यह काम रोबट को सौंपा जाये, तो वह किस प्रकार खोजे?

एक तो उसे एक-एक जूता उठा-उठा कर देखने और नमूने के जूते के साथ हर तरह से तुलना करने को कहा जा सकता है। इस स्थिति में संभव है कि प्रथम प्रयत्न में ही आवश्यक जूता हाथ आ जाये। लेकिन इस बात की भी संभाव्यता उतनी ही है कि आवश्यक जूता सबसे नीचे हो और सबसे अंत में हाथ आये। इस हालत में बहुत ज्यादा समय बर्बाद होगा, अतः एक-एक कर के क्रमबद्ध खोज की रीति बहुत खर्चीली होगी।

वस्तु के मुख्य (लंछक; विशेषता-सूचक) गुणों का उपयोग करना ज्यादा विवेकसंगत होगा। उन्हें हम जानते हैं: "जूता", "पीला", "नुकीली नाक", "फीता"। अर्थात् चप्पल, बूट, सैंडल आदि न देखें, सिर्फ जूते देखें; उनमें भी सिर्फ पीला जूता देखें कि नुकीली नाक है या नहीं, आदि। इस तरह आप देखेंगे कि काम बहुत कम हो जाता है और रोबट बहुत तेजी के साथ लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है। इस खोज-प्रक्रिया में वस्तुओं के विभाजन (वर्गीकरण) का आरेख बनाया जाये, तो वह पेड़ के शाखाओं, उपशाखाओं में बँटते जाने का चित्र होगा, इसीलिये इस खोज-रीति का नाम वृक्ष

पड़ा है। यह रीति बहुत कारगर है। इस रीति से अफ्रीका में शेर पकड़ने के बारे में एक चुटकुला भी है: महादेश के एक छोर से दूसरे छोर तक एक बाड़ा खड़ा कर दें, इसके बाद महादेश के जिस अर्ध में शेर हो, उसे भी एक बाड़े से दो अर्ध भागों में बाँट दें, आदि। इस तरह 5×5 मीटर के पिंजड़े में शेर को बंद करने के लिये आपको सिर्फ 40 बाड़े बनाने होंगे, यद्यपि अफ्रीका महादेश का क्षेत्रफल लगभग 30 000 000 वर्ग किलोमीटर है।

'वृक्ष' की रीति को द्विभाजक या दुविध रीति भी कहते हैं। इसके उपयोग में हर समय निर्णय लेना पड़ता है कि किस उपशाखा पर चला जाये – दायीं पर या बायीं पर। जब जूता ढूंढ़ रहे थे, तो मोटा-मोटी कुछ स्पष्ट गुणों को चुन लिया गया था, जिनसे रोबट को अपने काम में न तो गलती का सामना करना पड़ता था, न शंका का ही। यदि किन्हीं सूक्ष्म गुणों को विभेदक चिन्हों के रूप में रखा जाता, तो उड़ती निगाह से ढूंढ़ने पर कई वस्तुएं उन गुणों से युक्त प्रतीत होने लगतीं। फिर परिणाम भी बिल्कुल दूसरा होता। मान लें कि चयन के समय एक गुण ऐसा भी होता 'एड़ी की ऊँचाई 1.38 सेंटीमीटर', जबकि अंबार में ऐसे भी जूते होते, जिनकी एड़ी 1.45 सेंटीमीटर ऊँची होती। समय कम होने पर ऐसी गलतियां अवश्यंभावी होतीं: 1.38 की जगह 1.45 सेंटीमीटर ऊँची एड़ी वाला जूता निकाल लिया जाता।

लेकिन जूते की जगह चप्पल निकालने की गलती रोबट कभी भी नहीं करता। लेकिन चप्पलों के बीच भी सदृश आकृतियों की कमी नहीं होती, अतः उनके बीच भी कोई विशेष चप्पल ढूँढ़ने में रोबट से गलती हो सकती है। किसी भी

वस्तु के मुख्य गुण (जैसे 'पीला' और 'न-पीला') विपरीत शाखाओं पर होते हैं, दुविध वर्गीकरण के परस्पर विपरीत ग्रुपों में होते हैं।

इससे अन्वीक्षकों ने निम्न निष्कर्ष निकाला: बायां गोलार्ध वस्तु और उसके परिप्रेक्ष्य को दुविध विभाजन की रीति से ही अनुभूत करता है; इस निष्कर्ष का आधार है पहचानने में होने वाली गलतियों का जोड़ियों में होना। इसके अतिरिक्त, हर गुण – आकृति, परिमाप, स्थिति – अलग-अलग स्वतंत्र चैनेलों से विश्लेषित होता है, जिन्हें एक साथ काम करने को विवश नहीं किया जा सकता, इसीलिये पहचानने की क्रिया में शुद्धता का तेजी से ह्रास हो जाता है। अतः वस्तु की स्थिति या परिमाप का मूल्यांकन करने के लिये बायें गोलार्ध को यह जानने की आवश्यकता नहीं होती कि यह कौन-सी वस्तु है। मस्तिष्क का बायां गोलार्ध जगत का मूल्यांकन खंडों में, वैश्लेषिक रीति से करता है।

दायें गोलार्ध में दृश्य-पहचान का संगठन बिल्कुल दूसरी तरह का है। इसमें दृष्टि-उपकरण मानो अपने में संचित कार्डों को एक-एक कर देखता जाता है, जिनमें आवश्यक वस्तुओं का चित्र बना होता है। इसीलिये आकृतियों को पहचानने में गलती निम्न सिद्धांत के अनुसार होती है: जो पहले दिखा, उसकी जगह बाद वाली चीज का नाम आ जाता है; लेकिन इसका उल्टा कभी नहीं होता। देखने ('मन में खोजने') का पथ पक्का होता है और उस पर वापस नहीं लौटा जा सकता (इसका कारण अबतक ज्ञात नहीं हो सका है), और उसपर छलांग भी नहीं लगाया जा सकता (कुछेक को छोड़ कर आगे नहीं बढ़ा जा सकता)। इसका अर्थ यह है कि दायें

गोलार्ध में सभी मुख्य गुण (लंछक या विशेषता-सूचक चिन्ह) एक गाँठ में कस कर बंधे होते हैं और कोई भी चैनेल स्वतंत्र रूप से काम नहीं करता (आकृति, आकार और दृष्टि-क्षेत्र में स्थान – ये सभी परस्पर गुँथे हुए हैं), जिससे एक संपूर्ण बिंब प्राप्त होता है और एक संपूर्ण बिंब के साथ दूसरे – इष्ट (आवश्यक) – बिंब की तुलना की जाती है, जो स्मृति में संचित होता है।

इन सब बातों का मतलब यह है कि अलग-अलग चैनेलों से वस्तु को पहचानने की प्रक्रिया में बायां गोलार्ध संपूर्णता का चित्र नहीं प्राप्त करता, उसके द्वारा प्राप्त बिंब अत्यंत दरिद्र होता है, क्योंकि हर चैनेल में वह महत्त्वपूर्ण गुण को अन्य छोटे-मोटे अमहत्त्वपूर्ण गुणों एवं चिन्हों से मुक्त करता रहता है। लेकिन यह और कुछ नहीं, विविक्ति (अमूर्त्ति-करण) की प्रक्रिया है (अमूर्त्तिकरण का यह अर्थ नहीं है कि वस्तु को बिल्कुल 'निर्गुण' बना दिया जाये; इसका अर्थ है कि वस्तु का मूर्त्त, वास्तविक रूप असंख्य गुणों से युक्त होता है, लेकिन हम उसके सिर्फ चंद मुख्य गुणों से युक्त रूप से अपना काम चला लेते हैं; वस्तु का रेखाचित्र या आरेख एक विविक्ति का ही उदाहरण है – अनु.)। 'टेबुल' या 'मोटर-कार' जैसी दृश्य विविक्ति इन वस्तुओं को कम से कम एक बार देखने के बाद ही उत्पन्न हो सकती है, लेकिन 'बड़ा' और 'छोटा', 'दूर' और 'नजदीक' जैसी विविक्तियां हमें संभवतः विरासत में, अन्य जीवित प्राणियों से, विकास-क्रम में अपने पूर्ववर्ती जीवों से, अर्थात् जंतिकीय रूप से प्राप्त हुई हैं।

मस्तिष्क के बायें गोलार्ध के बारे में और क्या कहा जा सकता है? वह वस्तुओं के सुपरिचित एवं सरलता से विभे-दित होने वाले गुणों (चिन्हों) को दायें गोलार्ध की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह पहचान लेता है। समय के अंतरालों की लंबाई का मूल्यांकन भी अधिक अच्छी तरह करता है। इस तरह के कार्य वह बहुत सरलता से पूरा कर सकता है: "बताइये तो, क्या ये वस्तुएं परस्पर मिलती-जुलती हैं?" और चूँकि यह गोलार्ध वाक् का भी केंद्र है, इसलिये इस प्रकार के उत्तर देना भी उसके लिये सरल है: इन वस्तुओं को एक ही नाम से पुकारा जा सकता है (अर्थात् वे एक ही वर्ग में आते हैं) या नहीं।

दायां गोलार्ध निरर्थक आकृतियों को पहचानने में आगे रहता है, जिनका शब्दों में वर्णन करना कठिन होता है। उसके लिये इस तरह का कार्य बहुत सरल होता है: "आप दो वस्तुएं देख रहे हैं; बतायें कि उनमें क्या अंतर है।" वह वस्तु के खंडों और विवरणों की व्योम में स्थिति का मूल्यांकन अधिक अच्छी तरह से करता है। दृश्य बिंबों को उसके संग-ठक अवयवों में तोड़ कर नहीं, वरन् उसे पूरी संपूर्णता के साथ, समस्त विवरणों के साथ ग्रहण करता है। कागज के पृष्ठ पर बेतरतीबी से अंकित बिंदुओं को कहीं अधिक स्पष्टता से परिरेखा का रूप दे सकता है, बनिस्बत कि बायां गोलार्ध; वह रेखाओं या वक्रता के दिशाभिमुखन (या दिग्ग्रहण) का मूल्यांकन करने में भी प्रमुख भूमिका निभाता है। मूक-बधिर लोगों की वर्णमाला में हाथों के इशारों और उंगलियों की गतियों को पहचानने जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य में भी दायां गोलार्ध अपेक्षाकृत अच्छी तरह काम करता है, यद्यपि ये इशारे अक्षरों

व शब्दों की ही (और कभी-कभी वाक्यों की भी) भूमिका निभाते हैं।

जिन लोगों का आपरेशन से किण-पिंड काट कर उनके गोलार्धों को वियोजित कर दिया जाता है, उनके प्रेक्षण से निम्न तथ्य ज्ञात होता है (गाजानीगा के शब्दों में): "दोनों गोलार्धों को वियोजित करने पर एक ही कपाल-कोटर में, या अन्य शब्दों में कहें, तो एक ही शरीर में चेतना के दो स्वतंत्र क्षेत्र बन जाते हैं!" स्पष्ट है कि ये क्षेत्र मस्तिष्क में आपरेशन से पूर्व भी उपस्थित थे। इस तथ्य से – कि बायां गोलार्ध बात उसकी सभी जटिलताओं समेत समझ व बोल सकता है और दायां गोलार्ध ऐसा नहीं कर सकता (वह क्रियाबोधक शब्दों पर कोई प्रतिक्रिया नहीं कर सकता, संज्ञाओं के बहुवचन नहीं बना सकता) – निम्न निष्कर्ष निकलता है: बायें गोलार्ध में चलने वाली चिंतन-प्रक्रियाएं शब्दों के रूप में तुरंत प्रस्तुत की जा सकती हैं ('तुरंत' शब्द यहां बहुत ही औपचारिक है), लेकिन दायें गोलार्ध में जो कुछ होता है, उसे हम रूपांरित होने के बाद ही सुन पाते हैं – वह पहले बायें गोलार्ध में प्रेषित होता हैं, फिर वहां शब्दों में रूपांतरित होता है। क्या यह हमेशा संभव है और क्या यह प्रक्रिया सरलता से चलती है, इसका अंदाज हम चिंतन-कार्य के बारे में आइंस्टीन के शब्दों से लगा सकते हैं, जो पहले उद्धृत किये जा चुके हैं। 1795 में ही विख्यात रूसी राजनेता मि. स्पेरांस्की ने अपनी 'ललित वाग्मिमांसा' नामक पुस्तक में लिखा था: "मस्तिष्क में अवधारणाओं के संबंध कभी-कभी इतने सूक्ष्म होते हैं, इतने कोमल होते हैं कि उन्हें

शब्दों के माध्यम से व्यक्त करने के बिल्कुल हल्के प्रयत्न से भी वे बिखर जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं ..."

यहां भी सूचना-निवेश और सूचना-निकास का उपकरण देखते हैं, लेकिन इसके केंद्रीय सूचना-संसाधक अंग में क्या होता रहता है, यह शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसकी तुलना कंप्यूटर के कार्य से ही की जा सकती है: जबतक वर्ण या अंक छापने वाला उपकरण काम शुरू नहीं करता, बाह्य प्रेक्षक बिल्कुल नहीं जान सकता कि 'एलेक्ट्रोनिक मस्तिष्क' में किस तरह के रूपांतरण संपन्न होते हैं।

इससे एक और विचार उत्पन्न होता है (इसके बारे में पिछले समय से मनोलोचकों के बीच विवाद चल रहा है)। सुविदित है कि दायां गोलार्ध हमारी भावनाओं का संचालन बायें गोलार्ध के साथ मिलकर करता है और यदि रागात्मक अभिक्रिया दायें गोलार्ध की तरफ से होती है, तो काटकर विभक्त किये हुए किण-पिंड वाला आदमी यह नहीं समझा पाता कि उसे, उदाहरणार्थ, गुस्सा क्यों आ रहा है (दायां गोलार्ध सामान्यतः अधिक आक्रामक होता है)। इसलिये, कहीं ऐसा तो नहीं है कि हमारी समझ में न आने वाले हमारे कई आचरण और अनुभूतियां दायें, मूक गोलार्ध के ही कार्यों के प्रतिफल हैं? ऐसे कार्यों के, जिनके परिणाम बायें गोलार्ध में नहीं प्रेषित हो सके, या वहां उनका अर्थोद्घान नहीं हो सका; दोनों ही दशाओं में वे शब्दों की पहुँच से परे रह जाते हैं, अतः चेतना से अछूते रह जाते हैं। जिस अवचेतना के बारे में रहस्यवादी ही नहीं, पूर्णतया भौतिकवादी कवि, लेखक चित्रकार तथा अन्य कलाकार भी इतनी बातें करते हैं, वह

अवचेतना कहीं सीधे-सीधे इसी दायें गोलार्ध के कार्यों का उत्पाद तो नहीं है, जो जगत को मूर्त्त बिंबों के रूप में जानने की प्रकृति रखता है, न कि तार्किक संरचनाओं के रूप में?

और यदि शाब्दिक विविक्ति (अर्थात् बहुत ऊँचे स्तर की विविक्ति) दायें गोलार्ध के वश की बात नहीं है, तो क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि आदमी की एक सामाजिक प्राणी के रूप में आत्मचेतना वाणीयुक्त बायें गोलार्ध के ही कार्य का परिणाम है? (क्योंकि, जैसा हम आगे देखेंगे, बायें गोलार्ध में ही दृश्य विविक्ति का केंद्र है और दृश्य विविक्ति ही शाब्दिक विविक्ति का आधार है)। व्यक्तित्व की आत्म-चेतना और समुदायित्व की अवधारणा बहुत ही उच्च कोटि की विविक्तियां हैं। इसके लिये गंभीर मनन-कार्य की आव-श्यकता पड़ती है (यहां एक सूक्ष्मता भी है: इन विविक्तियों को अनुभूत करने के बाद बायां गोलार्ध उन्हें दायें गोलार्ध के साथ बाँट भी लेता है, तभी तो विच्छेदित किण-पिंड वाले रोगी दायें गोलार्ध से भी ऐतिहासिक चित्रों के अंतर्य का मूल्यांकन करने या राष्ट्रीय झंडे को पहचानने में, अपनी विचारधारा के अनुसार 'अच्छे' और 'बुरे' का मूल्यांकन करने में पूर्णतया समर्थ रहते हैं)। यह कहने में भी कोई हिचकिचाहट नहीं हो सकती कि तर्कशास्त्र, गणित और विदेशी भाषाओं के अध्ययन से विविक्ति के उपकरण का अभ्यास होता रहता है, जिससे आदमी के लिये नागरिकता, देशभ-क्ति, अंतर्राष्ट्रियतावाद जैसी विविक्त अवधारणाएं अस्तित्व रखती हैं, जो सुसामंजस्य रूप से विकसित व्यक्तित्व के मान-वीय गुणों को लंछित करती हैं।

मानव-मस्तिष्क में एक तरह से दो अन्वीक्षक तंत्र हैं: एक को वह अज्ञात की ओर उन्मुख करता है, जो जगत को अत्यंत मूर्त्त रूप में अभिज्ञात करता है (विविक्ति से नवीन की अनु-भूति नहीं हो सकती), और दूसरा तंत्र इस नवीन को अम-हत्त्वपूर्ण विवरणों से मुक्त करके उसका अधिक सरलीकृत रूप में निरीक्षण करता है, उसकी तुलना करता है। लेकिन क्या यह सब सचमुच ऐसा ही है?

अध्याय 4

सत्य की खोज में भ्रम से पाला

कितनी ही बार वृक्ष में सड़क का और चट्टान की छाया में मोड़ का भ्रम हो जाता है? बीमा कंपनियों के पास ऐसे आँकड़े हैं, जो सिद्ध करते हैं कि दृष्टि-बिंब और वास्तविकता के बीच बहुत बड़ी खाई होती है...

– रोजे दे ला ताई

"प्रकाशिकीय भ्रम, या असंभव का अलजबरा"

अभिज्ञान परिकल्पनाओं की एक श्रृंखला है, जिनकी जाँच की जाती है; जाँच से गलत सिद्ध होने पर उन्हें त्याग दिया जाता है या सही सिद्ध होने पर उन्हें अपना लिया जाता है। अंतिम स्थिति में हम उनके अनुसार (या और भी सही कहें, तो उनके उपयोग से प्रत्याशित परिणामों के अनुसार) अपने कार्यकलाप निर्धारित करते हैं। हमारी दृष्टि निरंतर इसी तरह का काम करती है। हमें इसका पता नहीं रहता, क्योंकि अक्सर यह काम अवचेतना के, शब्दहीनता के स्तर पर चलता है। "विवेकशील आँख" व्योम और उसमें वस्तुओं के पारस्परिक व्यौम संबंधों के बारे में परिकल्पनाएं रचती है, "अचेतन निष्कर्ष" निकालती है – यह 19-वीं शती के महान जर्मन

प्रकृतिवेत्ता हेरमान हेल्महोल्ट्स का निष्कर्ष हैं, जिन्होंने भौतिकी, गणित, मनोलोचन और शरीरलोचन में सराहनीय कार्य किये हैं; दृष्टि-विज्ञान में उन्होंने सच्ची क्रांति ला दी थी।

इन परिकल्पनाओं की इमारत कैसे खड़ी होती है? निश्चय ही अक्षिमों और परिग्रहों की सहायता से। इनके बिना 'प्रमेयों' की लंबी श्रृंखला नहीं बनायी जा सकती। सचमुच, ज्यामिति से हमें ज्ञात होता है कि दो त्रिभुजों की समता सिद्ध करने के लिये हर बार एक त्रिभुज पर दूसरा त्रिभुज रखने की बजाय निम्न नियम का उपयोग अधिक सरल है: "यदि दो त्रिभुजों में दो भुजाएं और उनके बीच का कोण अलग-अलग बराबर हों, तो दोनों त्रिभुज सब प्रकार से बराबर होंगे" (इस नियम को सिद्ध करने के लिये बस एक बार एक त्रिभुज को दूसरे पर रखना पड़ता है – अनु.)। तो क्या ऐसे ही 'व्योम संबंधी प्रमेय' नहीं सिद्ध किये जा सकते?

एक प्रमेय यूं है। हम दुनिया को अक्सर अपने कद की ऊँचाई से अर्थात् एक मीटर और पचास से लेकर सत्तर सेंटीमीटर की ऊँचाई से देखते हैं। इस दुनिया में हर वस्तु की सतह की अपनी बुनावट होती है, जैसे – तख्ते पर रेशों जैसे गड्ढे, कपड़े में धागों की बुनावट, हरे मैदान में घास की बेतरतीबी, जेब्रा की धारीदार खाल आदि। बुनावट के कारण लकड़ी और धातु, काँच और कपड़ा, रेत और पानी अलग-अलग दिखते हैं। हिलोरें और तरंगें मस्तिष्क को अत्यंत महत्त्वपूर्ण सूचनाएं देती हैं। एक उड़ती निगाह डाल लेने से ही रोएंदार कालीन की कोमलता और इस्पाती चदरे की चुभती ठंड कल्पना में छा जाती है; इसके लिये यथार्थ वस्तु-

ओं को भी देखना आवश्यक नहीं है, उनके चित्रों से ही काम चल जायेगा...

वस्तु हमसे जितनी ही दूर होती है, उसकी बुनावट के अवयव भी उतने ही निकट नजर आते हैं (अर्थात् बुनावट उतनी ही घनी होती दिखती है) – यह दूरी का एक महत्त्वपूर्ण संकेत है। सैनिक-सेवा के अनुभवी लोग अच्छी तरह जानते हैं कि जब शत्रु के ड्रेस पर बटन साफ-साफ दिखने लगता है, तो वह दो सौ मीटर की दूरी पर होता है और जब उसकी आँखें स्पष्ट दिखने लगती हैं, तो वह पचास मीटर की दूरी पर होता है। यह सैनिकों को खास तौर पर सिखाया जाता है।

धरती की सतह को देखने पर उसके दूरस्थ क्षेत्र आँख पर अधिक तीछ कोण (तीखा, न्यून कोण) बनाते हैं, अर्थात् बुनावट के अवयव परस्पर निकट होते जाते हैं। उनका निकट होना दूरी का ही नहीं धरातल से प्रेक्षक की ऊँचाई का भी संकेत देता है। सामान्य दृष्टि-बिंदु (जिस बिंदु से देखते हैं), थोड़ा सा भी बदलने पर व्योम का रूप इतना बदल जाता है कि पुराने 'दृष्टि-अक्षिमों' को छोड़ कर नये अपनाने पड़ते हैं।

"केबिन में बैठ कर स्टीयरिंग हाथ में लिया, लेकिन जैसे ही नीचे धरती की ओर देखा, अवाक रह गया। मेरी आँखें जमीन से सामान्य दो मीटर की नहीं, चार मीटर की ऊँचाई पर थीं। जमीन इतनी दूर और इतनी असामान्य लग रही थी कि विमान वापस कैसे उतारूंगा, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा था!" ये संस्मरण हैं हमारे विख्यात विमान-चालक मिखाइल ग्रोमोव के, जिसमें उन्होंने अधिक भार वाले बम-वर्षक विमान से प्रथम परिचय का वर्णन किया है (वे अनेक वर्षों तक लड़ाकू विमानों के चालक रहे, 1937 में उत्तरी ध्रुव को पार कर के अमरीका पहुँचने वाले विमानों में उनका दूसरे नंबर पर था)।

"समझ में नहीं आ रहा था कि विमान वापस उतारूंगा कैसे" – यह हाल हो जाता है दुनिया की बुनावट असामान्य स्थल से देखने पर! ये शब्द किसी नौसिखुए के नहीं, एक अनुभवी विमान-चालक के हैं, जिसने जीवन में विभिन्न प्रकार के सैकड़ों विमान उतारे होंगे; लेकिन वे छोटे विमान थे... भाग्यवश हमारा मस्तिष्क एक विशाल अनुकूलन क्षमता वाला तंत्र है और नयी परिस्थितियों के साथ अपने को बहुत जल्द अनुकूलित कर लेता है। "मैं उदास हो कर विमान से उतर आया," – विमान-चालक अपनी कहानी आगे बढ़ाते हैं। "लेकिन किया क्या जाये, किसी को तो उड़ान भरनी ही पड़ेगी और विमान वापस भी उतारना पड़ेगा। मैं फिर से विमान में बैठा। फिर से स्टीयरिंग हाथ में लिया और आस-पास की जमीन देखने लगा। मुझे लगा कि कुछ अभ्यस्त हो रहा हूँ। लेकिन अचानक जहां मेरी निगाह टिकी हुई थी वहां मैकेनिक आ गया। वह मुझे असामान्य रूप से दूर और छोटा लगा। फिर से सब गड़बड़ हो गया। मैं फिर उतर आया और कुछ मिनटों बाद एक बार और स्टीयरिंग के पास जा बैठा और जमीन का निरीक्षण करने लगा। पाँच मिनट बैठने के बाद आखिर मैंने महसूस किया कि जहाज वापस उतारा जा सकता है। अब मैं मन में आश्वस्त था।"

इतना शीघ्र पुनर्शिक्षण सच नहीं लगता, लेकिन देखें कि गाजानीगा क्या कहते हैं: "यह भी ध्यान रखना चाहिये कि

हम आदमी के मस्तिष्क के गोलार्ध का अध्ययन कर रहे हैं, यह एक ऐसा तंत्र है, जो सिर्फ एक बार की (रेखांकन मेरा -- वि.दे.) कोशिश से सीख लेता है।" यदि विभक्त मस्तिष्क में इतनी क्षमता हो सकती है, तो साबूत मस्तिष्क का क्या कहना, जिसमें दोनों गोलार्ध सूचना-विनिमय द्वारा एक-दूसरे की मदद भी करते हैं।

खैर, बुनावटों की ओर लौटें। सभी जानते हैं कि जब संसृत रेखाओं की पृष्ठभूमि पर समान वस्तुओं के चित्र बनाये जाते हैं, तो उनके आकार में 'वृद्धि' का भ्रम होता है। संसृत रेखाएं बुनावट के घने होते जाने के प्रभाव को और भी प्रबल बना देती हैं। इस तरह के चित्र अक्सर यह सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत किये जाते हैं कि 'धोखा' खाना हमारी दृष्टि का स्वाभाविक गुण ही है। लेकिन धोखे का प्रश्न कहां उठता है? क्या आँख मिक्रोमीटर की तरह कोई मापक उपकरण है? मस्तिष्क में सैकड़ों हजारों अचेतन प्रयोगों द्वारा जाँचा गया एक स्पष्ट परिग्रह स्थापित हो चुका है: यदि दो वस्तुएं अपनी पर्याकृतियों से एक ही प्रकार की बुनावट के तत्त्वों की समान संख्या को ढकती हैं, तो वे कमोबेश रूप से समान आकार की होती हैं। और विशेष उद्देश्य से रचे चित्र में (पृ. 102) आँख क्या देखती है? एक समान तरह से चित्रित (परिमापों की दृष्टि से तुल्य) बेलन सर्वत्र समान बुनावट के तत्त्वों को अलग-अलग तरह से ढकते हैं, या यदि अन्य शब्दों में कहें, तो बेलन प्रेक्षक से भिन्न दूरियों पर स्थित हैं। और दूसरे, बेलन पृष्ठभूमि की बुनावट के तत्त्वों की अलग-अलग संख्या को ढकते हैं। निष्कर्ष सिर्फ यही हो सकता है कि जो बेलन दूर है, वह आकार में भी बड़ा है।

इसका मतलब है कि आँख जगत का बिंब बुनावट के आधार पर बनाती है और जब वह 'दृष्टि-भ्रम' का शिकार बनने के लिये तैयार होती है, तो सिर्फ इसलिये कि विश्व को सही-सही प्रतिबिंबित कर सके; इस काम में वह आदमी के विगत अनुभवों के और इन अनुभवों द्वारा निर्मित बाह्य व्योम के अनुभवगत प्रतिरूप – आंतरिक दृश्य-व्योम – की सहायता लेती है।

इस तरह का व्योम सचमुच संभव है, ऐसी परिकल्पना पहली बार प्रतिभाशाली सोवियत शरीरलोचक निकोलाई बेर्न्श्तेइन ने 1935 में प्रस्तुत की थी। अनेक वर्षों तक आदमी के चलने, दौड़ने, काम करने की गतियों के अध्ययन पर आधारित उनका कथन यह था कि हमारे मस्तिष्क में दृष्टि द्वारा अनुभूत जगत का बिंब – 'दृष्टि-परक क्षेत्र' – होता है; जो वैसा ही है, जैसा वास्तविक जगत (ध्यान दें कि यह दृष्टिपरक क्षेत्र नेत्रलोचनी दृष्टि-क्षेत्र – जगत को देखने के लिये 'झरोखा' – नहीं है, जो दोनों आँखों के प्रकाशिकीय गुणों द्वारा निर्धारित होता है)। दृष्टिपरक क्षेत्र में व्योम के अनुभवगत दृष्टिपरक प्रतिरूप में भी ऊपर और नीचे, दायां और बायां, दूर और नजदीक का अस्तित्व है। सभी पेशिओं, संधियों तथा कंडराओं में उपस्थित संवेदी तत्त्व (नर्व-शिराएं), जिन्हें प्रोप्रिओरिसेप्टर (स्वामग्राहक) कहते हैं, मस्तिष्क को शरीर और हाथ-पैर की स्थितियों के बारे में सूचनाएं भेजते रहते हैं, जिसके कारण एक और बिंब बनता है – 'गतिप्रेरक क्षेत्र' (मोटर-फील्ड)। हाथ-पैर इसी की सीमाओं में काम करते हैं और इसी में मस्तिष्क केंद्रीय स्थान

ग्रहण करता है, ताकि स्थिर दिशांक-मूल के सापेक्ष शरीर की गतियों का सही-सही संचालन कर सके।

गलत व्याख्याओं से बचने के लिये (यद्यपि उनसे पूरी तरह बचा नहीं जा सका, कुछ तो समझ में न आने के कारण और कुछ उन लोगों की जिद के कारण, जो पुराने सुविधा-जनक आरेखों को छोड़ना नहीं चाहते थे) बेर्न्‌श्तेइन ने खास तौर पर चेतावनी दी थी कि "मस्तिष्क में फोटो-चित्र जैसी कोई चीज दिखेगी, इसकी आशा न करें, उसका कोई विकृत रूप भी नहीं मिलेगा"। मस्तिष्क जगत को प्रतिबिंबत करता है, क्योंकि वह मस्तिष्क है, लेकिन किस रूप में प्रतिबिंबित करता है... वैज्ञानिक की मान्यता यह थी कि ऐसे प्रतिबिंबन के नियमों को सूत्रबद्ध करने का समय अभी नहीं आया है, इसके लिये प्रायोगिक तथ्य और आँकड़े बहुत कम हैं। फिल-हाल एक कामचलाऊँ परिकल्पना के रूप में यह थेसिस अप-नाया जा सकता है: मस्तिष्क में वस्तुओं और उनके अवयवों के बीच की वास्तविक दूरियां नहीं, बल्कि सिर्फ सापेक्षिक पारस्परिक स्थिति प्रतिबिंबित होती है।

इस तरह का प्रतिरूप सचमुच अस्तित्व रखता है, इसका संकेत हमें अनेक तथ्यों से मिलता है, जिनमें से एक को तो समझना बहुत ही सरल है: हमारी अंतर्दृष्टि समान सरलता से परमाणु को भी और ब्रह्मांड को भी (अर्थात् बिल्कुल अलग-अलग प्रकार की वस्तुओं को!) समान सरलता से ऐसे दृष्टिगत प्रतिमानों की व्यौम संरचनाओं के रूप में देख सकती है, जो बहुत बड़े नहीं होते; उनका पूर्ण अवलोकन किया जा सकता है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि उनके साथ काम करना (उनपर मनन करना) सुविधजनक होता है।

जगत का अनुभवगत प्रतिमान आदमी के निजी विकास-क्रम में विरचित होता है। इसमें शिक्षा-दीक्षा की प्रक्रिया, अर्थात् जिस समाज में बच्चा पल रहा है, उसकी संस्कृति और पर-पराओं के आत्मसातन की प्रक्रिया की भूमिका निर्णायक होती है। इसीलिये यूरोपीय शिक्षा-प्रणाली अपनाने वाले अनेक देशों में लोग दिशाओं को भौगोलिक मानचित्रों के अनुकूल मानने लगे हैं: दक्षिण सदैव नीचे का आभास देता है और उत्तर –ऊपर का। लेकिन कुछ अफ्रीकी जातियों के बीच, जहां दिशा का हिसाब सूर्योदय की ओर अभिमुखन के अनुसार लगाया जाता है, उत्तर बायें का आभास देता है और दक्षिण –दायें का। चीनी लोग दुनिया को 'दायें' या 'बायें' नहीं देखते, भौगोलिक दिशाओं के अनुसार देखते हैं; उनके यहां सामान्य बातचीत में भी निम्न प्रकार के वाक्यों की भरमार होती है: "वह दक्षिणी महल्ले में रहता है', 'आप उस पश्चिमी कुर्सी पर बैठिये', 'टेबुल पर गिलास जरा उत्तर की ओर खिसका लीजिये', आदि।

ग्रीक शब्द 'टोपोस' का अर्थ है 'स्थान' (या 'ठाम')। टोपोलोजी (ठामलोचन) ज्यामिति का एक अंग है, जिसमें आकृतियों का अध्ययन उनकी पारस्परिक या सापेक्षिक स्थिति (संस्थिति) के संदर्भ में किया जाता है, अतः इस विज्ञान में आकृतियों, कोणों, क्षेत्रों की सही माप अथवा पर्याकृतियों व परिरेखाओं की शुद्धता का महत्त्व नहीं होता। बेर्न्‌श्तेइन ने चेतना में विश्व के अनुभवगत प्रतिमान की परिकल्पना प्रस्तुत करने के बाद यह लिखा था कि मस्तिष्क जगत को ठामलोचनी रूप से प्रतिबिंबित करता है, अतः सभी वर्ण 'A' चाहे जिस प्रकार भी लिखे गये हों, हमारे लिये वे

एक ही वर्ण हैं, लेकिन वर्ण 'B' दूसरा वर्ण है, क्योंकि वह ठामलोचनी रूप से भिन्न लगता है।

लेकिन यदि यह सचमुच सही है कि मस्तिष्क वस्तुओं के सिर्फ पारस्परिक व्योम संबंधों का चित्र बनाता है, उनके वास्तविक परिमाप को नहीं प्रतिबिंबित करता, – तो यह तथ्य विभिन्न प्रकार के भ्रमों को समझने के लिये अच्छी कुंजी है, जो स्वाभाविक तौर पर उत्पन्न होते हैं या इसी प्रयोजन से बनाये गये विशेष चित्रों में। पृष्ठभूमि और वस्तु का व्यति-संबंध (पारस्परिक संबंध) मस्तिष्क को सापेक्षिक गुण (दूर या नजदीक, बड़ा या छोटा) दर्शाता है, जिसका वह बहुत उच्च शुद्धता से मूल्यांकन करता है। इससे एक लाभ यह है कि सापेक्षिक मापें उन उत्क्रोशों* के प्रभाव से बहुत कम विकृत होती हैं, जो सूचना के किसी भी चैनेल (मार्ग) में उपस्थित रहते हैं। इससे सूचना के संप्रेषक और अभिग्राहक जटिल अवश्य हो जाते हैं, पर पूरा तंत्र अधिक शुद्धता और विश्वसनीयता से काम करता है।

लेकिन यदि बुनावट नहीं हो, यदि आँखों के सामने बिल्कुल चिकनी और रूपविहीन वस्तु खड़ी हो, तो मस्तिष्क एक बहुत महत्त्वपूर्ण लक्षण से वंचित रह जाता है, जिसके आधार पर वह परिस्थिति का मूल्यांकन कर सकता था। 4-थे दशक में ही जर्मन मनोलोचक वाल्टेर मेट्स्गेर ने स्पष्ट किया था कि यदि आदमी को बिल्कुल चिकनी, समरूपता से रंगी और प्रकाशित की गयी सफेद दीवार के सामने खड़ा कर दिया जाये, तो वह दीवार को प्रकाश की तीव्रता के अनुसार एक

*शोर; बाधक तत्त्व। – अनु.
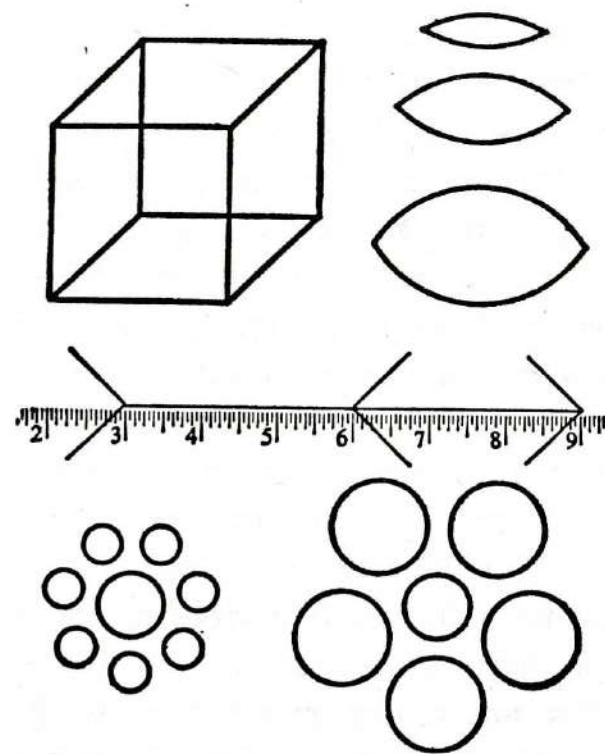
ये आकृतियां दिखाती हैं कि दृष्टि को धोखा किस प्रकार दिया जा सकता है। यह इंची वाले उदाहरण से विशेष स्पष्ट हो जाता है: बायां कर्त (रेखाखंड) दायें से बड़ा लगता है, जबकि दोनों बराबर है।

धुंध कुहरे के रूप में अनुभूत करेगा, या उसे प्रतीत होगा कि यह कोई खोखला गोला है और वह स्वयं उसके केंद्र में खड़ा है। जब प्रकाश इतना तीव्र हो जाता है कि दीवार के रोगन पर सूक्ष्म विवरण दिखने लगते हैं, तब वह कहता है: "यह एक समतल उदग्र दीवार है"।

मेट्स्गेर के प्रयोग से कोई 100 वर्ष पूर्व स्वीडेन के प्रकृतिवेत्ता नेक्केर ने एक घन का चित्र बनाया, जिसमें भीतर से बाहर की ओर उलटने का गुण होता है: उसका एक ही फलक कभी पिछली दीवार लगता है, तो कभी अगली (पृ. 99)। ऐसा क्यों? अब हम इसका उत्तर जानते हैं: फलकों पर किसी तरह की रेखाएं नहीं हैं, उनपर कोई छाया नहीं है, इसीलिये मस्तिष्क के पास किसी एक फलक को सामने की दीवार मानने का कोई आधार नहीं रह जाता; फल यह होता है कि दोनों ही फलक बारी-बारी से अगली दीवार के रूप में उभरते रहते हैं। इस तरह के अनेक भ्रम रचे गये हैं: दो गमले, जो अचानक एक दूसरे की ओर देख रहे चेहरों के पार्श्व-चित्र में परिणत हो जाते हैं; सीढ़ी, जो अचानक खंदों वाली आलमारी में परिणत हो जाती है; बूढ़ी औरत का चेहरा, जो युवती का चेहरा बन जाता है (वैसे, इस अंतिम चित्र में सतह की बुनावट दी गयी है, लेकिन भ्रम भी वही अत्पन्न करती है)। रात को अंधेरी सड़क पर आँख बुनावट के विवरणों को स्पष्ट नहीं देख पाती, जिससे अभागा ड्राइवर काली चट्टान को सुरंग का मुहाना समझ लेता है...

जिसे भ्रम अनुभव होता है, उसे ऐसा लगता नहीं है। यदि लगता, तो फिर भ्रम क्यों कहलाता; "साइंटिफिक अमेरिकन" नामक पत्रिका में एक निबंध "गति-भ्रम" में उसके लेखकों का कहना है कि भ्रम का सार ही यही है कि अवास्तविक वास्तविक प्रतीत होने लगता है। भ्रमित व्यक्ति को उससे उबारना सचमुच बहुत कठिन होता है, कभी-कभी तो बिल्कुल असंभव होता है। याद आता है कि एक बार हम लोग

कार में कहीं जा रहे थे। ठीक सामने, लगता था कि अगले ही पेड़ के पीछे चांद की बहुत बड़ी पीली चकती दिख रही थी। उसे देखकर ड्राइवर अचानक बोल पड़ा: "यही तो सबसे अच्छा मौसम है चांद पर उड़ने का!" फिर मुझे समझाने लगा: "देखिये, अभी वह कितना नजदीक है; आकाश के बीच में आते-आते वह दूर हो जाता है।" सच पूछें तो मैं इस तर्क से हक्का-बक्का रह गया, देर तक कोई उत्तर नहीं सूझा। खगोलिकी जैसी विज्ञान का हवाला देकर भी मैं उसे संतुष्ट न कर सका। ऊपर से वह हाँ-हाँ करता रहा, लेकिन बिल्कुल साफ था कि मन में वह अपनी ही बात पर अड़ा था।

क्षितिज के पास स्थित चांद से उत्पन्न इस भ्रम का वर्णन विश्व की भूकेंद्रिकता-सिद्धांत के प्रवर्तक टोलेमी ने भी किया था। उन्होंने पहली बार इसकी विवेकशील व्याख्या प्रस्तुत की: परिमापों में वृद्धि दृष्टि की करतूत है, न कि वातावरण का प्रभाव (जैसा कि सोचना चाहिये था), क्योंकि चांद की सतह पर हमें कोई ऐसा नया विवरण तो दिखता है नहीं, जो आकाश के मध्य में चांद के आने पर लुप्त हो जाया करे। फिर इस दृष्टि-भ्रम का कारण क्या है? यह सिर्फ पिछले दशकों में ही स्पष्ट हो सका, जब शुद्ध प्रयोग संपन्न किये गये।

एक प्रयोग यूं था: प्रयोगाधीन व्यक्ति को आकाश में ऊपर (मध्य) के निकट स्थित चांद एक अर्धपारदर्शक दर्पण से दिखाया जाता था। जब दर्पण को घुमा कर वही चांद क्षितिज के निकट दिखाया जाता था, उसकी मनोलोचनी रूप से अनुभूत माप करीब 30 प्रतिशत बढ़ जाती थी। चित्र में
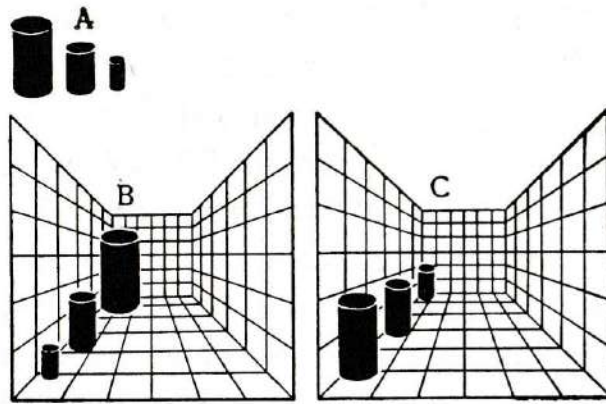
नन्हे बेलन की परिमाप बदलने का कमाल: चित्र A में वह बड़े बेलन से तीन गुना छोटा है, B में वह करीब ग्राठ गुना छोटा लगता है, लेकिन C में वह बड़े बेलन के ठीक बराबर लगता है।

भी क्षितिज के पास बनाया गया चांद ग्रपेक्षाकृत बड़ा ही लगता है: मस्तिष्क उसे इसी रूप में रचता है ग्रौर इसका कारण है धरातल की बुनावट, या ग्रौर सही कहें, तो – क्षितिज।

हम ग्रभ्यस्त हैं कि क्षितिज की ग्रोर दूर होती वस्तुग्रों की रैखिक मापें रेटीना पर छोटी होती जाती हैं। विख्यात ग्रंग्रेज भौतिकविद विलियम ब्रेग ग्रपनी पुस्तक "प्रकाश-जगत" में लिखते हैं: "यदि क्षितिज के पास सुदूर गाँव के ऊपर उड़ता विमान उतना ही बड़ा दिखता, जितना बड़ा वह सर के ऊपर मंडराते वक्त दिखता है, तो वह गाँव से भी बड़ा प्रतीत होता ग्रौर पूरा दृश्य बहुत भयावह हो जाता। चांद के साथ यही बात है। क्षितिज के निकट ग्राने के साथ-साथ उसकी परिमाप घटनी चाहिये (जैसे विमान की परिमाप घटती है), – यह हमारे ग्रनुभव की मांग है। लेकिन चांद की कोणिक माप स्थिर रहती है। ग्रौर चूंकि 'क्षितिज के निकट' का हमारा ग्रचेतन निष्कर्ष है कि चांद हमसे दूर हो गया है (बनिस्बत कि जब वह सर के ऊपर था), तो फिर उसकी कोणिक माप का क्या किया जाये, जो स्थिर रहती है, घटती नहीं है। हमारा ग्रचेतन मन उसे पहले से बड़ा करार कर देता है; दूर होने पर भी उसकी कोणिक माप पहले जैसी रहे, यह ग्रनुभव-विरुद्ध है। इसीलिये हम चांद को ग्रपेक्षाकृत बड़ा देखने लगते हैं।

जब ग्राँख ग्रौर पर्वत-शिखर के बीच कोई बुनावट नहीं होती, तो दृष्टि दूरियों के मूल्यांकन में बहुत बड़ी गलतियां करती है। रूस के मध्य भाग से ग्राल्मा-ग्राता या फ्रुंजे ग्राये हुए लोगों को पहाड़ियों की शृंखलाएं बहुत नजदीक लगती हैं, जबकि उनकी दूरी दसियों किलोमीटर की होती है। ऊँचाई पर स्थित चट्टानों के बीच उड़ते विमान के यात्री रह-रह कर भय से चीख उठते हैं। उन्हें लगता है कि विमान का डैना ग्रभी-ग्रभी पत्थर से टकरा जायेगा, जबकि डैने ग्रौर पत्थर के बीच कम से कम 500 मीटर की दूरी होती है। खनाविक जेम्स मैकडिविट जैसे ग्रनुभवी ग्रादमी ने भी ग्रपने राकेट ग्रौर उससे ग्रलग हुए ग्रंतिम गतिदायक भाग के बीच की दूरी 120 मीटर ही ग्राँकी थी, जब कि उपकरण दिखा रहे थे – 600 ...

भ्रम, ग्रर्थात् जगत के ग्रांतरिक प्रतिमान के ग्रनुसार ग्रचेतन-कार्य ग्राचरण की ग्रनेक गलतियों का रहस्य खोल देते हैं। यह सही भी है: परिस्थिति सामान्य बिंब से जितनी ही

मिलती-जुलती होती है, हम कार्य भी उतनी ही तेजी से, 'स्वचल रूप से' संपन्न करते हैं। बिजली-घर के संचालन--पुल्ट के पास बैठा ग्रापरेटर उपकरणों में सूइयों की स्थिति देख कर ही चर्खियों (टर्बाइनों), जनित्रों ग्रादि के कार्य का पूरा चित्र ग्रपनी कल्पना में बना लेता है। इतना ही नहीं। उसके काम का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंग है – भविष्यदर्शन। किस क्षण उसके हस्तक्षेप की जरूरत पड़ेगी, यह उसे पहले से ग्रनुमान कर लेना चाहिये। ग्रौर इसके लिये, जैसा कि एक विमान-डिस्पैचर ने कहा था, 'विमान-चालक के ग्रागे-ग्रागे भागना पड़ता है'।

ग्रपने पद पर ठीक से काम करने के लिये ग्रापरेटर में ग्रच्छी कल्पना-शक्ति होनी चाहिये, विशेषकर दृष्टि-कल्पना की शक्ति। इससे सूचनाग्रों की बहुत कमी रहने पर भी काम में सहायता मिल जाती है, नयी सूचनाग्रों के बिल्कुल न मिलने पर भी कम से कम कुछ देर तक तो ग्रवश्य काम चलाया जा सकता है। लेकिन कल्पना ग्राखिर है क्या? जगत का संगठित ग्रनुभवगत प्रतिमान ही तो! ग्रल्पतम समय में सही निर्णय ले सकना उसी की सहायता से संभव है। दूरदर्शी व्यक्ति सही प्रतिक्रिया के लिये हमेशा तैयार रहता है। इसी-लिये विमान-परीक्षक पूरी उड़ान का क्रम पहले कल्पना में पूरी कर लेते हैं ग्रौर विमान की ग्रधिकतम संभाव्य खराबियों की स्थितियों में क्या करेंगे, मन में इसका एक कार्यक्रम तैयार कर लेते हैं। इससे लाभ यह होता है कि संकट के क्षण में निर्णय के लिये मनोलोचनी रूप से ग्रधिक समय मिल जाता है, क्योंकि मनोलोचकों का कहना है: पहले से ग्रभिकल्पित परिस्थिति में प्रतिक्रिया-काल शून्य की ग्रोर प्रवृत्त होता है।

लेकिन यदि ग्रादमी के हाथ में कोई ग्रस्त्र हो ग्रौर वह उसके उपयोग के लिये व्यवहारतः बिल्कुल स्वतंत्र हो, तो ग्रनुभव-गत प्रतिमान के ग्रनुसार ग्रागे ग्राने वाली घटना को देख कर काम करने की ग्रादत बहुत खतरनाक भी हो सकती है।

वाशिंगटन में पहले से काम कर रहे सोवियत लोग ग्रमरीका ग्रौर ग्रमरीकियों को ग्रच्छी तरह जानते हैं, इसीलिये जैसे ही वहां संवाददाता वसीली पेस्कोव ग्रपना बंदूकनुमा कैमरा लेकर ग्राये, उन्होंने उसे तुरंत छिपा देने को कहा। उन्होंने बताया कि ऐसे कैमरे से यदि किसी का फोटो खींचने की कोशिश करोगे, तो वह मुस्कुराने के बजाये तुम पर गोलियां बरसाने लगेगा। बात ठीक भी है: ग्रमरीका में हर साल करीब सात हजार हत्याएं होती है*, ग्रर्थात प्रति दिन 20 से ग्रधिक। सड़क पर, रेस्त्रां में, घरों के पास, सब जगह डकैतों, पागलों, गुंडों ग्रादि की गोली का शिकार होने का खतरा रहता है... इसीलिये ग्रमरीका का निवासी पहले खुद गोली चला देता है, ताकि खुद न गोली खा ले; यह बाद में सोचता है कि गोली चलाने की जरूरत थी भी या नहीं। ग्रवांछनीय ग्रनुभवगत प्रतिमान का मानस पर यह दबाव सामाजिक परिस्थितियों की उपज है, इसमें सिर्फ ज्ञानेंद्रियों का ही कसूर नहीं है। देखने का काम तो ग्राखिर ग्राँख करती है, न कि मस्तिष्क।

लेकिन यदि जीवन के ग्रपेक्षाकृत कम दुखद पक्षों पर

---

*ये शब्द 1970 में लिखे गये थे। 1984 में संयुक्त राज्य ग्रमरीका के ग्राँकड़ों के ग्रनुसार 18 692 हत्याएं हुई थीं। – वि. दे.

निगाह डाली जाये, तो कहना पड़ेगा कि भ्रम से वैज्ञानिक कार्य में गलती हो सकती है, प्रयोगों और मापों के परिणाम अशुद्ध हो जा सकते हैं, यद्यपि उनमें सूक्ष्म उपकरणों की सहायता ली जाती है। लंदन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एस. टोलैंस्की ने अपनी पुस्तक "प्रकाशिकीय भ्रम" में इस तरह के गलत मूल्यांकनों के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। यथा, गौस-वक्र की (जो कई प्रकार की घटनाओं के लिये संभाव्यता का वितरण दर्शाता है) आधी चौड़ाई के बराबर रेखाखंड की स्थिति आँख से अनुमान करने में सभी प्रयोगकर्ता 30 प्रतिशत गलती कर जाते हैं। और जब नापने की रेखणी चिल्ला-चिल्ला कर कहती है कि यह सही नहीं है, गलत रेखांकन देखने में तब भी सही लगता है। यह "आंतरिक प्रति मानों" की शक्ति है... पृ. 99 पर तीन लेंसों के आरेख हैं, इनमें से सबसे बड़े लेंस की उत्तलता सबसे अधिक लगती है, लेकिन वास्तविकता यह है कि तीनों लेंसों की वक्रता-त्रिज्याएं समान हैं। टौलैंस्की का कहना है कि ऐसी स्थिति में आँख से देख कर अनुमान करने से गलती 300 प्रतिशत तक हो सकती है। इससे बचने का कोई चारा नहीं है। सतह की बुनावट अनुभूति में किस प्रकार की विकृतियां उत्पन्न कर सकती है, इसकी सूची दो पृष्ठों पर दी गयी है। सही वृत्त को गलत ढंग से रेखित करने पर वह लमड़े हुए अमरूद की तरह लग सकता है, समांतर रेखाएं ढोल की तरह बीच में फूली हुई या डमरू की तरह पचकी हुई लग सकती हैं...

बुनावटें अपने सांख्यिकीय लंछकों (विशेषता-सूचक राशियों) के अनुसार अलग-अलग प्रकार की होती हैं, हरेक में अंधेरे और प्रकाशमान धब्बों (या क्षेत्रों) का एक विशिष्ट क्रम

होता है। बुनावटें जितनी ही भिन्न होंगी, उन्हें पहचानने में गलती की संभाव्यता उतनी ही कम होगी — हमी से नहीं, बल्कि कीड़े-मकोड़ों से भी। मधुमक्खियों के साथ तो सब स्पष्ट है — वे हमारे ही जैसी हैं। जंतुओं में अलग-अलग बुनावटें पहचानने की क्षमता देख कर मन में यह विचार भी उठता है: कुछ पक्षियों के आश्चर्यजनक आचरण का संबंध कहीं इसी क्षमता के साथ तो नहीं है? उनके आचरण का बड़ा मोहक वर्णन कार्ल फोन फ्रिश ने किया है, जिन्हें मधुमक्खियों की गुप्त भाषा (संकेतों) का अर्थ खोलने के लिये नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।

गौरैया परिवार के पक्षी बया की एक जाति ऐसी है, जिसका नर घास से जाली जैसा घोंसला बुनता है। लेकिन, फोन फ्रिश लिखते हैं, "मादा बहुत ही नुक्से निकालने वाली होती है। यदि उसे अपने पति की वास्तुकला में कोई चीज पसंद नहीं आती, तो वह भागने के लिये तैयार हो जाती है; नर को फिर शुरू से नया घोंसला बुनना पड़ता है"। वैज्ञानिक के विचारानुसार "नर सिर्फ सहज प्रवृत्ति से ही प्रेरित होकर काम नहीं करता, वह अनुभव और अपनी गलतियों से सीखता भी जाता है"। गौरैया परिवार का ही एक अन्य पक्षी टहनियों से घोंसला बनाता है और "उसे रंगीन फूलों, तोते के पंखों, बेरियों, काँच के टुकड़ों, बोतल की ठेपियों आदि जैसी चमकदार वस्तुओं से सजाता है; कई वस्तुएं नर पक्षी आदमी के घरों के आसपास से उठा लाता है। इसके अतिरिक्त वह कुछ बेरियों को चोंच में दबाकर उनके रंगीन रस से चित्रकारी भी कर देता है। जब सब तैयार हो जाता है, तो थोड़ा पीछे हट कर एक चित्रकार

की भाँति अपनी कृति को आलोचनात्मक दृष्टि से देखता है और आवश्यकता पड़ने पर बेहिचक फूलों का स्थान बदल देता है या रंग ठीक करता है।"

यह क्या है? सौंदर्य-बोध, या उसका अंकुरण? हो भी क्यों नहीं! क्या सौंदर्यबोध किन्ही सांख्यिकीय नियमसंगतियों से संबंधित नहीं हो सकता, जिनका पालन बुनावटें करती हैं? हम सुंदर कलाकृतियों के बारे में कहते हैं कि उनमें 'सुंदर अनुपात' है, 'सुसामंजस्य' है, आदि। क्या ये शब्द इस बात का संकेत नहीं देते कि नापने की कोई इकाई अवश्य है, जिसका हम अचेतन रूप से उपयोग करते हैं? और सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि सांख्यिकीय पहचान के लिये सालियेरी की तरह संगीत का (या किसी भी अन्य कलाकृति का) विश्लेषण करने की, उसे अलग-अलग घटकों में तोड़ने की, उसका पोस्टमार्टम करने की कतई आवश्यकता नहीं होती। मस्तिष्क का दायां गोलार्ध वस्तु को उसकी संपूर्णता में ही पहचानता है। कहीं वही मूक, शब्दहीन केंद्र तो संपूर्णता में सभी विवरणों समेत सौंदर्य का रसास्वादन करने में हमारी मदद नहीं करता? और तर्क से शब्दों में इस सौंदर्य को समझाने का प्रयत्न करना कितना कठिन लगता है! सौंदर्य मानो रह-रह कर 'हाथ से फिसल जाता है', जैसा कि स्पेरांस्की ने लिखा था... वर्ग या त्रिभुज के नमूने पर रचे गये 'सौंदर्य के सूत्र' पुनरुक्तियों से टकरा कर चूर हो जाते हैं, जैसे— "सौंदर्य-बोध वास्तविक जगत में उपस्थित सौंदर्य को प्रतिबिंबित करता है"। यह कोई संयोग की बात नहीं है कि "वृहत सोवियत विश्वकोश" के तीसरे संस्करण में "सौंदर्य" शब्द के व्याख्याताओं ने उसकी कोई निरपेक्ष परिभाषा देने की
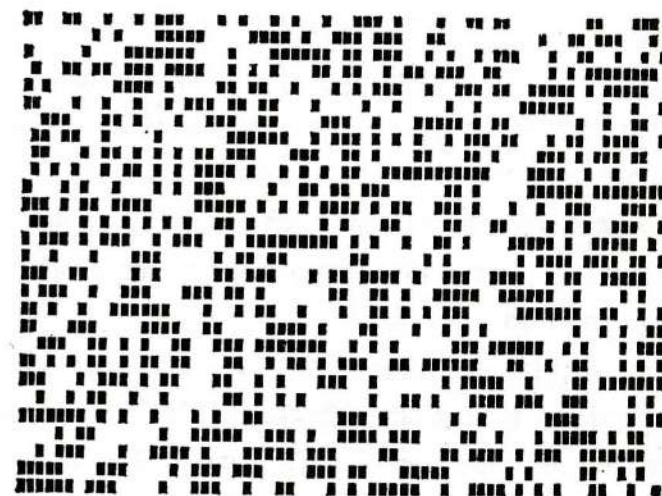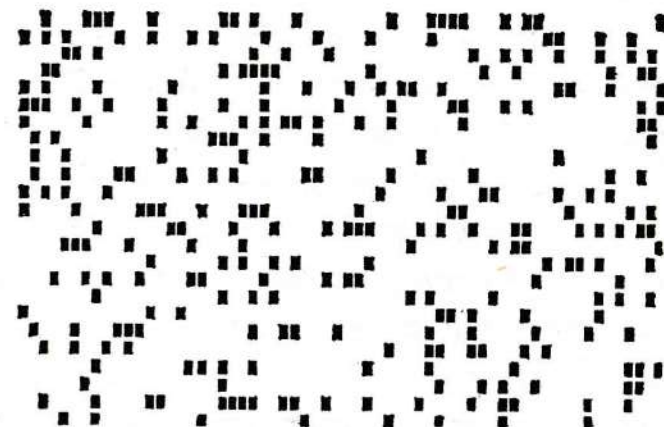
स्थापित किया गया है कि मधुमक्खियां कंप्यूटर द्वारा रची गयी इन सांख्यिकीय बुननों में सरलतापूर्वक भेद कर लेती हैं।

कोशिश नहीं की है, उन्होंने पाठकों तक उन रागों को, उन भावों को संप्रेषित करने की कोशिश की है, जो सौंदर्य-दर्शन से उत्पन्न होते हैं। वे लिखते हैं: "सौंदर्य के बोध

और उसकी अनुभूति से निस्स्वार्थ प्रेम, प्रसन्नता और मुक्ति के भाव उत्पन्न होते हैं"। और आगे: "सौंदर्य का रसास्वादन इसलिये निस्स्वार्थ होता है कि उसमें निजी और सामाजिक हितों का संलयन होता है, आदमी सौंदर्य के सामाजिक महत्त्व में अपने निजी योगदान को अनुभव करता है"।

वैसे, यदि बायें गोलार्ध को शब्दों में सौंदर्य की परिभाषा देने में कठिनाई होती है, तो यह क्यों न मान लिया जाये कि गणित इस मामले में अधिक सौभाग्यशाली होगा! नील्स बोर ने, जिनकी गणना आधुनिक भौतिकी की नींव डालने वाले वैज्ञानिकों में होती है, कहा है कि गणित "व्यापक भाषा के एक रूप जैसा है, जो ऐसे संबंधों को अभिव्यक्त करने के लिये उपयुक्त है, जिन्हें शब्दों में व्यक्त करना या तो असंभव है या अत्यंत कठिन है"। संभव है कि सौंदर्य के लिये भी (उसके सभी रूपों के लिये भी!) कोई व्यापक गणितीय बिंब हो, जो हममें विश्वकोष द्वारा बताये गये भाव उत्पन्न करता हो?

ऐसी संभावना के अनेक संकेत हैं। हमारे सभी ज्ञानेंद्रिय एक ही भाषा में बात करते हैं – न्युरोनों के जाल के सहारे दौड़ते स्पंदों की भाषा में। कोडों (भाषा-संकेतों) की यह सर्वनिष्ठता (सार्विकता, व्यापकता) ही तो कहीं वह कारण नहीं है, जिससे आलोचक अक्सर किसी कला की कृति के प्रति अपने उद्‌गार किसी दूसरे कलाक्षेत्र के शब्दों में प्रकट करने लगते हैं? निम्न व्यंजन इसी प्रकार अस्तित्व में आते हैं: 'रसीली चित्रकारी', 'चीखते रंग', 'धूमिल स्वर', 'दहकता नृत्य', 'उन्मुक्त गीत-लहरी' आदि। वैसे, हम सभी यह समझ लेते हैं (या और सही कहें, तो अनुभव

कर लेते हैं, वह भी अपने-अपने ढंग से) कि आलोचक या कलाविद इन शब्दों से क्या कहना चाहता है। लेकिन क्या इसका यह अर्थ निकल सकता है कि वह बात का सार व्यक्त करने में सफल हो गया? उसने सौंदर्य का सूत्र ढूंढ़ लिया? दूसरी ओर, सुंदर कृति का सार्विक बिंब दर्शक, स्रोताओं, पाठकों द्वारा बिल्कुल सही-सही अनुभूत कर लिया जाता है। और कृतिकार भी, जो अक्सर यह बिल्कुल नहीं समझा पाता कि यह शब्द या यह रंग क्यों इसी जगह पर है, अनुभूत कर लेता है। वे इतना ही कह पाते हैं कि "इस तरह अधिक सुंदर लगता है, सुसामंजस्यपूर्ण लगता है..."

आपूर्ण बिंब दायें गोलार्ध में बनाता है और विविक्तकारी चैनेलों में अपघटित बिंब – बायें गोलार्ध में। भावों एवं रागों के सूचनात्मक सिद्धांत के रचयेता सोवियत विज्ञान अकादमी के संवाददाता सदस्य पावेल सीमोनोव, प्योत्र येर्शोव (पी. -एच. डी., कलाविज्ञान) अपनी पुस्तक "मिजाज, चरित्र, व्यक्तित्व" में लिखते हैं कि लक्ष्यों का जन्म देने में दायें गोलार्ध की भूमिका आगे रहती है, जबकि बायां गोलार्ध उनकी प्राप्ति के साधन निर्धारित करता है। सीमोनोव के अनुसार राग (भावनाएं) और कुछ नहीं, आवश्यकता की (या और सही कहें, तो दिये हुए किसी क्षण में उसकी तुष्टि की संभाव्यता की) अर्थात् जगत के आंतरिक प्रतिमान की वास्तविकता के साथ तुलना का परिणाम है, जिसका सामना जीवन में करना पड़ता है (यहां पुनः इच्छाओं के पूर्ण होने की संभाव्यता की बात चल रही है)। सपने सत्य के करीब पहुँचते हैं, तो रागात्मक धन प्राप्त होता है (धनात्मक राग
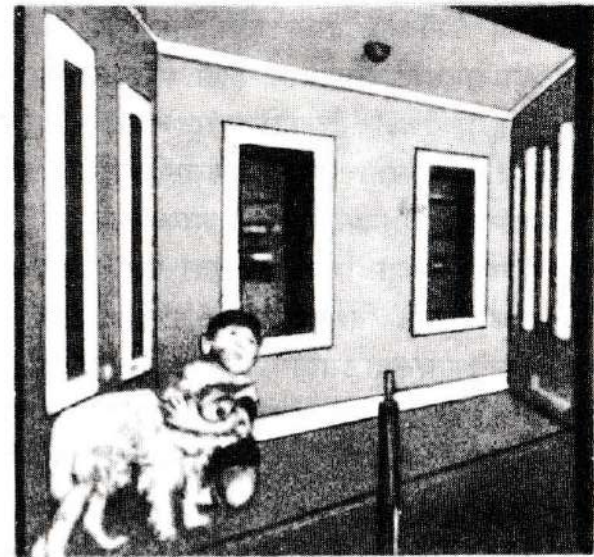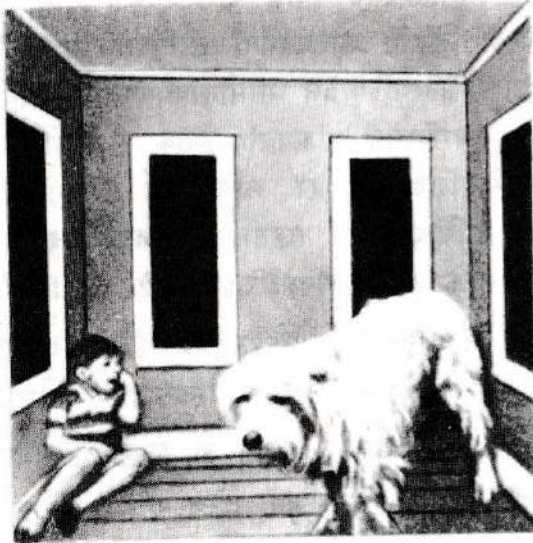
ऐम्स द्वारा कल्पित इस 'मायावी कमरे' का रहस्य यह है कि हम बच्चे और कुत्ते के आकारों की तुलना अनचाहे ही खिड़कियों की परिमाप के अनुसार करने लगते हैं; उस पर से कुत्ता और बच्चा दोनों प्रतीप (विपरीत) परिप्रेक्ष्य में चित्रित किये गये हैं।

उत्पन्न होते हैं) और यदि भाग्य का तमाचा पड़ता है, तो होंठों से मुस्कान गायब हो जाती है...

इसका अर्थ यह है कि सार्विक बिंब और उससे संबंधित राग कोई ऐसी चीज नहीं हैं, जो अमूर्त्त हो, देश-काल, और मानव-जीवन तथा उसके श्रम से, अन्य लोगों के साथ संपर्क से परे हो। उल्टा, सौंदर्य का जन्म मानवीय कार्य-कलापों तथा सामाजिक संबंधों के बीच ही होता हैं, जिन्हें

8—1646

हम एक शब्द 'जीवन' द्वारा संबोधित करते हैं, इसीलिये तो सौंदर्य की अनुभूति एक साथ (या अलग-अलग, यह महत्वपूर्ण नहीं है) सैकड़ों, हजारों और लाखों लोग कर पाते हैं, जिनके बीच फासला हजारों किलोमीटरों का ही नहीं, कभी-कभी तो हजारों वर्षों का भी पाया जाता है।

और हर बार एक ही नियम उभरता है: अधिकांशतः हम किसी चीज को किसी विशेष रूप में देखते है, इसलिये नहीं कि वह वैसा है, वरन् इसलिये कि हम जानते हैं (हमें सिखाया गया है) कि उसे वैसा होना चाहिये। विगत अनुभव हमपर शासन करता है, हम उसके अधीन होते हैं। इसीलिये प्रश्न उठता है: क्या भ्रम जीवन के अनुभवों से जुड़े होते हैं? क्या वे दो आदमियों के लिये सिर्फ इस कारण भिन्न हो सकते हैं कि एक को कम अनुभव है और दूसरे को अधिक? इस रोचक प्रश्न का ही हल ढूंढ़ने के लिये 4-थे दशक के आरंभ में एक अभियान संगठित किया गया था, जिसे उज्बेकिस्तान के दूर-दराज इलाकों में काम करना था। इस अभियान में भावी अकादमीशियन लूरिया भी भाग ले रहे थे। सोवियत सत्ता ने इन इलाकों में जन-जीवन को बदलने का काम तब शुरू ही किया था। वहां राजनीतिक रूप से सक्रिय महिलाएं भी थीं, नर्स-प्रशिक्षण केंद्रों की छात्राएं भी थीं और ऐसी भी औरतें थीं (अधिकांशतः), जिन्होंने घर के जनानखाने से बाहर कभी कदम भी न रखा था। सारा जीवन संकीर्ण घरेलू हितों और अनुभवों के दायरे में बिताने वाली इन स्त्रियों की चिंतनशीलता एक अपने ही प्रकार की थी। यह, उदाहरण के लिये, उन उद्विचारों में देखा जा सकता है, जो उनमें ज्यामितिक आकृतियां देखने से उत्पन्न होती

थीं। कागज पर बनाया गया वृत्त वह सिर्फ चलनी, थाली, बाल्टी या चांद आदि होता था। वर्ग को वे दरवाजे, तख्ती आदि के रूप में अनुभूत करती थीं। त्रिभुज उन्हें तावीज या किसी गहने की भाँति लगता था। यदि त्रिभूज की परिरेखा बिंदुओं से बनी होती थी, तो उसे वे माला, सिलाई, आकाश में तारे आदि समझ लेती थीं। अभियान में भाग लेने वालों के लिये यह बड़ा ही अच्छा अवसर था – यह अध्ययन करने के लिये कि शिक्षा के प्रसार से और लोगों को सामाजिक जीवन में लाने से दृष्टि-उपकरण के कार्य की प्रकृति कैसे बदलती है।

यह विशेषकर भ्रमों की अनुभूति के अध्ययन से स्पष्ट होता था। उदाहरण के लिये पृ. 99 के दो 'फूलों' को देखें। मध्य में स्थित वृत्त दोनों में बराबर हैं, लेकिन देखने में एक छोटा लगता है और दूसरा – बड़ा (जिसके गिर्द छोटे वृत्त हैं)। लेकिन घर में बैठी रहने वाली औरतों को यह भ्रम अपेक्षाकृत कम होता था (सिर्फ एक तिहाई औरतों को!)। लेकिन प्रयोगाधीन स्त्रियां जितनी ही शिक्षित होती थीं, उतनी ही अधिक इस भ्रम का शिकार होती थीं। बालवाड़ी-शिक्षिका प्रशिक्षण केंद्रों की 64 प्रतिशत छात्राएं इस भ्रम में पड़ जाती थीं, सहकारी फार्मों में काम करने वाली राजनीतिक रूप से सक्रिय महिलाओं के बीच यह प्रतिशत अंश 92 के बराबर था। कारण स्पष्ट है: चूँकि जगत का अनुभवगत प्रतिमान अनुभव के आधार पर बनता है, इसलिये स्वाभाविक है कि वह घरेलू औरतों के लिये वैसा नहीं था, जैसा बाहर काम करने वाली औरतों के लिये। हमारे अवगुण दरअसल हमारे गुणों के ही विस्तार हैं – यह सत्य सदियों से ज्ञात है। इस तरह के

अन्वीक्षण चंद विदेशी वैज्ञानिकों द्वारा अफ्रिका में भी किये गये, वहां भी ऐसे ही परिणाम मिले। ऐसे भ्रम, जो "सरल रेखाओं और समकोणों की दुनिया" में जीने वाले शहरी लोगों के लिये बिल्कुल सामान्य हैं, घास-फूस की गोल झोपड़ियों में रहने वाली जन-जातियों को प्रभावित नहीं कर पाते (अनुपात 64: 14 है)।

जी हाँ, अधिक सामान्य घटनाएं अधिक सत्य लगती हैं, बनिस्बत कि कम सामान्य घटनाएं। त्रेतियाकोव चित्र-गैलरी में प्रसिद्ध चित्रकार काउंट एफ. तोलस्तोय (1763-1873) के बनाये हुए एक चित्र में पीटरबुर्ग का एक दृश्य अंकित है। पूरा चित्र एक अर्ध पारदर्शक आयल-पेपर से ढका है, जिसका एक कोना कुछ मुड़ा हुआ है। यह आयल-पेपर भी वास्तविक नहीं है, चित्र का ही एक अंग है। सभी यह जानते हैं, लेकिन चित्र देखते ही सब में उस कागज को उठा कर देखने की अकाट्य इच्छा होने लगती है। अनुभवगत प्रतिमानों की दुनिया ऐसे असाधारण चित्र की संभाव्यता पर ध्यान नहीं देती, वह अधिक स्वाभाविक हल प्रस्तुत कर देती है। सत्य की प्राप्ति के लिये संभाव्यता का मूल्यांकन करना—यही हमारे ज्ञानेंद्रियों का असली काम है।

अध्याय 5

चौरस त्रिविम दुनिया

चित्रकार ने बनाया
बिटिया का चित्र,
पर वह,
रात चांदनी की भाँति,
कैनवास से उतर भागी...

—लेओनिद मार्तिनोव

बंदर चित्र बनाना पसंद करते हैं। अक्सर वे कागज पर रंगों से निरर्थक धारियां और आकृतियां बनाते रहते हैं। लेकिन एक दिन जवान चिंपैंजी मोया ने एक ऐसा चित्र बनाया, जो कुछ मछली से मिलता-जुलता था, तो कुछ हवाई जहाज से। जब मोया से पूछा गया कि यह क्या है, तो उसने कहा: "यह चिड़िया है"।

जी हाँ, उसने कहा! मोया, तथा उस जैसी अन्य जवान बंदरियां पीली, तातुस, कोको और योशी को संकेत-चित्रों की विशेष भाषा सिखयी गयी है, जिनकी सहायता से वे सरल सार्थक वाक्य बना लेती हैं (इसमें किन्हीं व्याकरणिक नियमों की आवश्यकता नहीं पड़ती)। व्याकरणहीनता और

लगभग 130 शब्दों* के संचय से उनकी बातचीत डेढ़ साल के बच्चे जैसी होती है। और बच्चे की ही तरह, जो सदैव आसपास की दुनिया को जानने-समझने की कोशिश करता है, योशी भी आइने के सामने घंटों बैठ कर अपने चेहरे का अध्ययन कर सकती है और अंत में बिंब की ओर हाथ बढ़ा कर प्रयोगकर्ता को बता सकती है: "यह मैं हूँ"। प्रयोगकर्त्ता निश्चय ही अकचका जाता है, क्योंकि अबतक तो यही सिद्धांत सर्वमान्य है कि जंतु अपने को परिवेशी दुनिया से अलग कर पाने में समर्थ नहीं होते।**

खैर, मोया ने चिड़िया बनायी। इसके बाद विशेषज्ञों की पूरी समिति की उपस्थिति में एक बार और चिड़िया बनायी, फिर एक बिल्ली और एक स्ट्राबेरी बनायी। कला की दृष्टि से ये चित्र अनुपम नहीं कहे जा सकते, लेकिन बेआद्रिस गार्डनेर (जो अपने पति ऐलेन के साथ ये रोचक प्रयोग कर रही हैं) सफाई देती हैं कि "उसकी उम्र अभी साढ़े तीन वर्ष ही है न, इस उम्र में तो आदमी का बच्चा भी इससे बेहतर कुछ नहीं बना सकता"।

इन बातों का मतलब बेशक यह नहीं है कि दुनिया में बंदरों की चित्रकारी का शोर मच गया है, फिर भी इतना जरूर है

---

*यह संख्या पुरानी है। अब ये बंदरियां 300 शब्द जानती हैं। लेकिन इससे भी रोचक बात यह है कि योशी अपने बेटे को संकेत-चित्रों की भाषा खुद सिखाने लगी। उसका पांच साल का बच्चा करीब 50 शब्द सीख चुका है।

**यह न भूलें कि बंदरी में यह क्षमता आदमियों से संपर्क और निरंतर बातचीत के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है।

कि पिछले वर्षों से अपने इन 'छोटे भाइयों' के बारे में जो नयी बातें ज्ञात हुई हैं, उनसे सिद्ध होता है कि विकास शृंखला में उच्च जंतुओं और आदमी की क्षमताओं के बीच कोई स्पष्ट सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती।

उदाहरणार्थ, हमेशा यही माना जाता था कि सिर्फ आदमी ही अपने हाथों से बनाये औजारों का उपयोग करता है; जंतु, जिसमें बंदर भी आते हैं, पत्थर या छड़ी का सहायक वस्तु के रूप में उपयोग संयोगवश ही करते हैं। लेकिन बंदरों के जीवन का अवलोकन करने वाले कैमरे से प्राप्त एक चलचित्र कुछ और ही दिखाता है: बंदर संयोगवश मिली कोई भी छड़ी नहीं उठा लेते, वे ऐसी छड़ी ढूंढ़ते हैं, जो उनके काम के लायक हो। ये सनसनीखेज परिणाम इ. पाव्लोव शरीर-लोचनी संस्थान (सोवियत विज्ञान अकादमी) की प्रयोगशालाओं में लेओनिद फीर्सोव के नेतृत्व में प्राप्त हुए हैं। उन्होंने प्स्कोव्स्काया क्षेत्र में योज्ना झील के बीच स्थित नन्हे से टापू पर बंदरों के एक ग्रुप को छोड़ दिया और उनके जीवन से एक रोचक चलचित्र बनाया जो कई बार टेलीवीजन पर दिखाया जा चुका है।

गड्ढा काफी गहरा है और उसकी तली पर चाकलेट रखा है। मादा चिंपैंजी सिल्वा का हाथ वहां तक पहुँच नहीं पाता। वह क्या करती है! वह एक टहनी तोड़ती है, पत्तों आदि को दूर करके उससे छड़ी बनाती है, लेकिन जब देखती है कि वह छोटी है, तो दूसरी छड़ी बनाती है, फिर तीसरी। काम की छड़ी उसे चौथे प्रयत्न से ही मिली। उसी का एक बंधु छड़ी का उपयोग डब्बे का ढक्कन खुला रखने के लिये 'रोक' के रूप में करता है (डब्बे में मिठाई रखी होती है)।

"चिंपैंजी के हाथ में छड़ी एक व्यापक वस्तु हो जाती है", प्रोफेसर फीर्सोव कहते हैं। और किसी भी छड़ी या टहनी को किन्ही मूर्त्त परिस्थितियों में आवश्यक वस्तु के रूप में उपयोग करने पर उसे औजार का दर्जा दिया जा सकता है, क्योंकि उसकी प्रकृति व्यापकीकृत हो जाती है। बंदरों का ऐसा आचरण आदिम मनुष्य के सदृश है। फिर कहीं ऐसा तो नहीं है कि आदमी और जंतुओं का अंतर प्रकट करने वाले 'राछीय कार्यकलाप' (राछों, अर्थात् औजारों के निर्माण और उपयोग) का प्रश्न दिन ब दिन जटिल होता जा रहा है।

समाचार-पत्र 'इज्वेस्तिया' के संवादाता आ. येजेलेव ने वैज्ञानिक से एक वार्त्ता में यह प्रश्न किया: "यदि यह मान लिया जाये कि प्रिमातों (अंग्रेजी – प्राइमेट्स) में व्यापकीकरण की क्षमता है, तो फिर विविक्त मनन भी तो दूर नहीं है?"

उत्तर बहुत शांत था: "एक ही चीज को शरीरलोचक व्यापकीकरण कह सकते हैं और मनोलोचक – विविक्ति।" पता चला कि जिन बंदरों को परिमाप में बड़ी वस्तुओं को चुनने का काम सिखाया जाता है, वे कार्डों पर संकेत-चित्रों की बड़ी या छोटी संचियों में से किसी को चुनते वक्त समस्या की इन शर्तों (बड़ी, छोटी वस्तुओं या चित्रों) में परिवर्तनों पर बिल्कुल ध्यान नहीं देते। (और यह विविक्ति की ही क्षमता का द्योतक है। थोड़ा पहले, यहीं पर, बता दें कि हमारी प्रयोगशाला के कार्यकर्मियों द्वारा दृष्टि के अन्वीक्षण से आज निम्न बात ज्ञात हुई है: आकृति की नित्यता या अपरिवर्तनशीलता के अर्थ में विविक्ति और व्यौम गुणों के समेकन के अर्थ में व्यापकीकरण मस्तिष्क के भिन्न क्षेत्रों से

होता है। नित्य या अपरिवर्तनशील वर्णन विकास-प्रक्रिया की उच्चतम उपलब्धि है।) मतलब यह है कि बंदर कुछ हद तक व्यापकीकरण की भी क्षमता रखते हैं और व्यापकीकरण के बाद अगला कदम अवधारणा ही है... अबतक यही माना जाता है कि अवधारणा को शब्द से अलग नहीं किया जा सकता। लेकिन यह अविभाज्यता सिर्फ आदमी में देखी जाती है; दूसरे जंतुओं में, जैसाकि वैज्ञानिक लोग मानते हैं, अवधारणाएं महज दूसरे प्रकार की होती है, आदमी की शाब्दिक अवधारणाओं से निचले चरण पर होती हैं। लेकिन बंदर जैसे ही आदमी के प्रभाव में आते हैं, अर्थात् वे सामाजिक परिवेश में प्रविष्ट होते हैं, वे अपनी आद्य दृष्टिपरक या अचेतन अवधारणाओं को आदमी द्वारा कल्पित संकेतों के माध्यम से व्यक्त करने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। ये संकेत बंदरों के लिये विशेष रूप से सोच कर बनाये गये हैं, जो बोल नहीं सकते।

इस संदर्भ में कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के डी. प्रीमैक द्वारा संपन्न प्रयोग विशेष लंछक हैं। वे चिंपैंजी सायरा को बात करना सिखाने के लिये अलग-अलग प्रकार के संकेत चित्रों का उपयोग करते थे (पृ. 122)। बंदरी निम्न क्रम बड़े मनोयोग से बनाती है: "मेरी – केला – दो – सायरा"।* लेकिन वह क्रम "सायरा – केला – दो – मेरी" बनाने से बिल्कुल इन्कार कर देती है।

जैसा कि हर नये काम में होता है, आलोचना के स्वर इसमें भी सुनने पड़ते हैं। कोलुंबिया विश्वविद्यालय के हर्बर्ट टेरास,

---

*मेरी, केला दो, सायरा को।

मादा चिंपैंजी सायरा आदमी (प्रयोगकर्त्ता) के साथ इन्हीं संकेतों से बातें करती है।

जिन्होंने चिंपैंजी नीमा को संकेतों की भाषा सिखाने का प्रयोग किया था, अधिक विरोधी विचार रखते हैं: चेतन कार्य करने की क्षमता बंदरों में कुत्तों से कुछ अधिक नहीं होती, जो आज्ञा पाकर बैठना या मालिक के पीछे-पीछे चलना जानते हैं।"

फीर्सोव का विचार दूसरा है: "चिंपैंजी (और शायद अन्य मनुष्यवत जंतुओं) के नार्विक उपकरण में एक ऐसा उप-तंत्र दिखता है, जो अवधारणा के स्तर पर अनुभूति कराता है, लेकिन यह अवधारणा का प्राग्वाक् स्तर है"।

प्राग्वाक् स्तर! दृष्टि-उपकरण के कार्य से यह कितना नज-दीक है! आखिर यदि आदमी में भी यह सारा कुछ एक निश्चित चरण तक निर्वाक् रूप से, अर्थात् जंतुओं की तरह होता है, तो यह क्यों न मान लिया जाये कि मोया के भी चित्र बिंबों के रूप में उसकी अपनी अवधारणाओं को व्यक्त करने के प्रयत्न हैं, खुद अपने को अपनी आंतरिक दुनिया दिखाने के प्रयास हैं?

अब यहां इन मासूम मनुष्यवत जंतुओं की बात छोड़कर जरा खुद से पूछें: चित्र क्या है? आज उद्योग और तकनीक का इतना विकट विकास हो चुका है कि ढेर सारे लोग अपने पास फोटो-कैमरा रख सकते हैं, जिससे पर्याप्त सही रंगों और चमक के साथ वस्तु का फोटो-चित्र प्राप्त किया जा सकता है, फिर दुनिया में चित्रकार क्यों बचे रह गये हैं, जो आज भी वैसी ही कूची से कैनवास पर वैसे ही रंग फेरते हैं, जैसे ढाई हजार वर्ष पूर्व ग्रीस के चित्रकार फेरा करते थे? क्यों चित्रकार के बनाये चित्र का दाम लाखों-करोड़ों तक पहुँच जाता है, कोई-कोई चित्र तो अनमोल हो जाता है, लेकिन उसी चित्र की एक अच्छी प्रतिकृति इतनी सस्ती होती है (फोटो-प्रतिकृति की तो बात ही छोड़ दें)?

ऐसा तो नहीं है कि चित्रकार में अपने ग्राहक को खुश करने की क्षमता होती है? प्राचीन रोम के लेखक एलिआन लिखते हैं: फीवास में ऐसा कानून था कि चित्रकारों एवं

मूर्तिकारों को अपनी कृति वास्तविकता से अच्छी बनानी पड़ती थी; जान-बूझ कर खराब करने वाले को जुरमाना भरना पड़ता था। लेकिन अब तो पुनर्स्पर्शन और फोटो-मोंताज की तकनीक इतनी विकसित हो चुकी है कि फोटोग्राफर को चित्र से अवांछित विवरण हटाने में कुछ भी श्रम नहीं लगता। फिर क्या बात है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि चित्रकारी का असली रहस्य आँख के कार्य में छिपा है, जो (खासकर चित्रकार की आँख) रंग की सूक्ष्मतम आभाओं में भी अंतर कर लेती है, जबकि फोटोग्राफी का अच्छा से अच्छा फिल्म भी रंग-बिरंगी दुनिया की प्रकाश और रंगों की समृद्धि का एक अंश भी प्रस्तुत नहीं कर पाता? खैर, आँख की क्षमता कुछ भी हो, चित्र रोगनों से बनाये जाते हैं। प्रकाश एवं रंग प्रस्तुत करने की तकनीकी क्षमता फिल्म की तरह रोगनों में भी सीमित होती है। और यद्यपि चित्रकार रंगों को कुशलता से मिला-मिला कर कैनवास पर वास्तविकता को आश्चर्यजनक रूप से सही-सही उतार देता है, उपकरण यही बताते हैं कि सब गलत है!..

कहीं भ्रम उत्पन्न करने की क्षमता के कारण तो चित्र हमें आकर्षित नहीं करते? लेकिन एक ही जादू मन को कई बार मोह सकता है? सुबिंबदर्शी की याद करें, कितने मिनट तक आप उसमें लगातार देख सकते हैं? और चित्र घंटों तक बैठ कर देखा जा सकता है। और सबसे रोचक बात तो यह है कि (कलाविदों से पूछ कर देख लें) दर्शक रंगों और परिरेखाओं की सही प्रस्तुति से भी उतना ही मोहित होता है, जितना स्वेच्छाचारी या प्रतीकात्मक प्रस्तुति से।

चित्रों के विरोधाभास की जो समस्या है, वह तो और

भी उलझन में डालने वाली है। एक तरफ तो वह महज कागज या कैनवास है। दूसरी तरफ – वह महज कागज या कैनवास से काफी बढ़-चढ़ कर है। "कोई भी वस्तु दुविम और त्रिविम एक साथ नहीं हो सकती, लेकिन चित्र को हम ऐसा ही देखते हैं", – यह एडिनबर्ग विश्वविद्यालय में कार्यरत बिओनिकी के प्रोफेसर आर. ग्रेगोरी अपनी पुस्तक 'विवेकशील आँख' में लिखते हैं। "चित्र की बिल्कुल निश्चित परिमाप होती है, फिर भी वह आदमी के चेहरे, इमारत या जहाज का सही आकार दिखाता है।" चित्र की भौतिकता के साथ उस आदमी की आत्मा – मस्तिष्क की कार्यशीलता – भी जुड़ जाती है, जो उसे देखता है। दर्शक के बिना न त्रिविमता उत्पन्न होती है, न चित्रित वस्तुओं की वास्तविक परिमापें ही।

फिर इसका उत्तर हमें कौन देगा कि चित्र क्या है? आइये, सूक्ष्मता से अनुभव करने वाले किसी आलोचक की दृष्टि से कुछ चित्रों को देखा जायें। शायद इससे हम लक्ष्य के कुछ निकट पहुँच सकें। कौन-से चित्र देखें? हमारे काम के लिये पोस्ट-इंप्रेसियनिस्टों के कलाकार उपयुक्त रहेंगे, जिनकी सृजनशीलता की परिभाषा वृहत सोवियत विश्वकोष निम्न शब्दों में देती है: "अपनी समस्याओं द्वारा वह 20-वीं शती की चित्रकारिता को जन्म देती है"। ये वही चित्रकार हैं, जिन्होंने अपने चित्रों में "स्थायी वैचारिक एवं नैतिक मूल्यों की कष्टदायक एवं विरोधाभासी खोजों को प्रतिबिंबित किया है"। साथ-साथ हम यह भी स्पष्ट कर लेंगे कि आखिर चित्रकारों के बीच अंतर क्या होता है, सिवा इसके कि वे भिन्न रीतियों से चित्र बनाते हैं। तो देखें...

"इन सभी कैनवासों पर सर्वत्र प्यारी धूप छायी हुई है, ऐसे पेड़ हैं, जिनका नाम एक भी वनस्पतिशास्त्री नहीं बता सकता; ऐसे जंतु हैं, जिनके अस्तित्व की क्यूवियें* भी कल्पना नहीं कर सकते थे; समुद्र लगता है कि ज्वालामुखी के क्रेटर से बह कर निकाला हो; आकश ऐसा है, जहां कोई भी भगवान रहने को तैयार नहीं होगा। नुकीले कंधों वाले बौड़म से आदिवासी थे, उनकी आँखों में मानो चिरंतनता का रहस्य झलक रहा था; कुछ गल्पनाएं थीं, जो लपटों की तरह लाल-पीली, शोणित आभाओं में मूर्त्त हो रही थीं; कुछ सिर्फ सजावटी रचनाएं थीं, जिनमें पौधों और जीवों से सूर्य की उमस और चमक विसरित हो रही थी।"

यह गोगेन हैं।

"कैनवास पर ग्रांड जाट्ट द्वीप चित्रित था। इसमें गोथिक** चर्चों के खंभों की तरह वास्तुकला के कोई अजीब से अंग लटके हुए थे, आदमी-जैसे कोई प्राणी थे। यह सब अनंत भिन्न रंगों के नन्हे धब्बों से बने थे। घास, नदी, नाव, वृक्ष—यह सब मानो कुहासे से धूमिल हो रहे थे, सबकुछ लगता था, मानो रंगों के धब्बों का अमूर्त्त संग्रह हो। चित्र बिल्कुल हल्की, प्रकाशमान आभाओं से बना था, यहां तक कि मोने, डेगा और खुद गोगेन भी ऐसे प्रकाश और ऐसे रंगों के उपयोग का साहस नहीं कर पाते। चित्र दर्शक को लगभग अकल्पनीय, एक विविक्त सुसामंजस्य की दुनिया में

---

*क्यूवियें: फ्रांसीसी जीवलोचक, जो अस्थि-अवशेषों के विश्लेषण से लुप्त हो चुके जीवों की आकृति गढ़ते थे।—अनु.

**गोथिक: यूरोप की एक मध्ययुगीन कला शैली।—अनु.

पहुँचा देता था। यदि यह जीवन था, तो वह असाधारण था, पार्थिव नहीं था। हवा में झलमलाहट और चमक थी, लेकिन उसमें हल्का-सा भी बहाव नहीं अनुभव होता था। यह मानो सजीव चंचल प्रकृति का एक बंदी क्षण था, जिसमें किसी भी प्रकार की गति नहीं रखी गयी थी।"

यह स्योरा थे।

"लाल और हरे रंगों की सहायता से उसने आदमी की वहशी प्रवृत्तियों को व्यक्त करने की कोशिश की थी। कैफे का आंतरिक दृश्य उसने रक्त-शोणित रंग में डुबा रखा था, उसके बीच में बिलियार्ड के लिये गाढ़ी पीली आभाओं वाला हरा टेबुल रखा था। नीबू की तरह पीले चार लैंप नारंजी और हरी आभाओं से घिरे थे। लाल और हरे की सबसे विपर्यासपूर्ण आभाएं भिखमंगों की सोयी आकृति पर जूझ रही थीं। वह दिखाना चाहता था कि कैफे एक ऐसी जगह है, जहां आदमी आत्महत्या कर सकता है, पागल हो जा सकता है या अपराधी बन जा सकता है।"

यह वान गोग थे।

"पहले हमारी नजर सबसे आगे चमकदार रंगीन धब्बों पर पड़ती है, जो आपस में बिल्कुल मेल नहीं खाते; ये हैं—ऊँचे-ऊँचे चीड़ वृक्षों के तने, जो मानो कैनवास पर ऊपर से चिपका दिये गये हों, और तह कर के मुड़े कागज के पन्ने की तरह दबा हुआ व्योम। दृष्टि पहले तनों पर ऊपर-नीचे फिसलती है, फिर चित्र के दायें हिस्से पर पहुँचती है, जहां जल-प्रणाल की पीली धारियों की स्पष्ट पर्याकृतियां अंकित हैं। जल-प्रणाल निगाह को चित्र के बायें हिस्से पर ले जाता है और रैखिक परिप्रेक्ष्य में संकोचन के कारण एक गहराई

का भ्रम उत्पन्न करता है। दृष्टि अंतिम हिस्से पर पहुँचती है, फिर पहाड़ी पर घूमते हुए पुनः अगले दृश्य पर लौट आती है। यहां से दूसरा दृश्य-चक्र शुरू होता है: दृष्टि जल-प्रणाल पर फिसलती हुई पहाड़ी की ओर जाती है, नीले धब्बों के आकार और आकृति को निर्धारित करने की कोशिश करती है। पहाड़ी के दायें भाग पर कुछेक नारंजी व लाल रेखाएं और नीले रंग की पतली परत से ढकी हल्की पीली रेखाएं व्योम (आयतन) का आभास देती हैं। फिर पर्वत के सामने मैदानी भाग भी व्योम विस्तार प्राप्त कर लेता है और चित्र में धीरे-धीरे गहराई प्रकट होती है। फिर अग्र दृश्यों का व्योम उभरता है। बेतरतीब धब्बे परस्पर संबद्ध हो कर एकाकार हो जाते हैं और जमीन एवं घास के रूप में, छाया और प्रकाश के रूप में दिखने लगते हैं। कैनवास की सतह पर दायें निचले कोने में स्थित एक नीला धब्बा सबसे देर तक असंलग्न बना रहता है, लेकिन बाद में वह मिट्टी के टीले से संलग्न हो कर नीली छाया के रूप में दिखने लगता है..."

यह सेजान का चित्र है।

प्रथम तीन उद्धरण ईरविन स्टोन की पुस्तक "जिजीविषा" (Lust for life) से लिये गये हैं, और अंतिम उद्धरण – पुश्किन संग्रहालय के कार्यकर्मियों के एक निबंध-संग्रह "19-वीं शती के उत्तरार्ध में पश्चिम-युरोपीय कला" से। आगे की हमारी बातचीत मुख्यतः इसी की सामग्रियों पर आधारित होगी। चार चित्रकार चार व्यक्तित्व हैं, कैनवासों पर उनकी चार दुनियां हैं। चार दुनियां? या सिर्फ एक ही दुनिया,

जो चित्रकारों की अनुभूतियों के अनुसार चार भिन्न रूपों में प्रकट हुई है?

आलोचक एकमत हैं कि ये और अन्य पोस्ट-इंप्रेसियनिस्ट चित्रकार सिर्फ अपनी तकनीक के कारण महान नहीं हुए हैं; उनकी महानता का कारण यह है कि उन्होंने लोगों को एक नया संदेश दिया, जो पहले किसी ने नहीं दिया था। उन्हें 20-वीं शती की उथल-पुथल का पूर्वाभास हो गया था। सोवियत कलाविद ये. लेवीतिन लिखते हैं: "हमारी शती, इसके बड़े-बड़े युद्ध और सामाजिक विप्लव, करोड़ों व्यक्तियों की बलि और विश्वदर्शन की आधारभूत अवधारणाओं में रद्दोबदल – यह सब कैलेंडर के अनुसार नहीं शुरू हुआ है, न ही प्रथम विश्व-युद्ध से; बौद्धिक एवं मानसिक रूप में यह पोस्ट-इंप्रेसियनिज्म विक्षोभोन्माद से शुरू होता है।" सच्चे कलाकार ऐसे ही होते हैं!

पोस्ट-इंप्रेसियनिस्ट, जिन अनुभूतियों से आविष्ट हो जाते थे, उन्हें व्यक्त करने के लिये वे स्वाभाविक रूपाकृतियों को जानबूझकर विकृत कर देते थे, जिससे अकादमिक चित्रशालाओं के पंडितगण घबरा उठते थे। "मूलेन-रूज में नृत्य" नामक चित्र में टुलूज-लोट्रेक (Toulouse-Lautrec) उन्हीं विवरणों को 'अतिशयोक्ति' के साथ प्रस्तुत करते हैं, जिनकी ओर दर्शक का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। मध्य में नाचने वालों की एक जोड़ी है: वालेंटिन ले डेजोसे, जिन्हें "सर्प-मानव" की संज्ञा मिली है, और नृत्य में उनकी गुइयां – ला गूल। क्या ऐसे टेढ़े-मेढ़े पैर किसी के होते हैं, जैसे उसके हैं? क्या घुटना उस जगह पर किसी को होता है, जहां लोट्रेक ने वालेंटिन के पैर पर बनाया है? और यह

9—1646

नर्तकी ला गूल अपने शरीर को इस तरह कभी ऐंठ सकती थी?

लेकिन दूसरी ओर, क्या आपने नाच में इतनी उन्मत्त जोड़ी कभी देखी थी? क्या आपको कभी यह देखने को मिला है कि चित्र, जिसकी प्रकृति स्थैतिक होती है, हठात् चल-चित्र में परिणत हो जाता है? देखिये तो: इस वालेंटिन ले डेजोसे के पैर सचमुच थिरक रहे हैं!

जी हां, 19-वीं शती का उत्तरार्ध नयी कलात्मक अभिव्यंजनाओं की खोज का समय था। और यह सिर्फ फ्रांस में ही नहीं। उस समय कला-जगत को रूसी चित्रकारों ने भी कुछ कम नहीं दिया। गति चित्रित करने की समस्या सूरिकोव भी सफलता से हल कर रहे थे। उनका चित्र "बयारिन्या मोरोजोवा" ऐसे ही अद्भुत कौशल का उदाहरण है। चित्रकार स्वयं लिखते हैं: "क्या आप जानते हैं कि 'बयारिन्या मोरोजोवा' के लिये मुझे कितनी बार कैनवास बदलना पड़ा था? घोड़ा चल ही नहीं रहा था, जबकि गति में कुछ सजीव बिंदु होते हैं और कुछ निर्जीव। यह बिल्कुल गणित है। स्लेज--गाड़ी में बैठी आकृतियां उन्हें एक साथ पकड़ कर रोके हुई हैं। फ्रेम से स्लेज-गाड़ी की एक खास दूरी ढूंढ़नी थी, ताकि वह चल सके। इसमें थोड़ी सी भी गलती होती थी, तो गाड़ी रुकी रह जाती थी। और अपनी पत्नी के साथ तोल्स्तोय ने जब 'मोरोजोवा' को देखा, तो वे कहने लगे: 'नीचे का हिस्सा काट देना चाहिये, उसकी जरूरत नहीं है, वह देखने में बाधा डालता है।' लेकिन कैसे काट दिया जाये? फिर तो स्लेज-गाड़ी चलेगी ही नहीं!"

लेकिन इस चित्र में सब कुछ अस्वाभाविक था। उस समय

के आलोचकों के बीच चित्र में 'गलतियां' निकालने की होड़ लगी हुई थी: गाड़ीवान के लिये जगह बिल्कुल कम है; बयारिन्या का हाथ बहुत लंबा है, ऐसा अनाटोमिक रूप से असंभव है; सड़क पर बर्फ रौंदी हुई नहीं है, गाड़ी मानो मैदान की अछूती बर्फ पर फिसल रही हो...। इन सब का बहुत बढ़िया उत्तर सूरिकोव ने खुद दिया था: "गलतियों के बिना चित्र इतना बकवास होता कि उसे देखने का मन ही नहीं करता। ऐतिहासिक चित्र में इसकी जरूरत ही नहीं है कि सब कुछ वैसा ही हो, जरूरत है कि संभाव्य हो, सादृश्य हो। ऐतिहासिक चित्र का सार ही यही है—बूझना। यदि उस काल की आत्मा सुरक्षित है, तो फिर विवरणों में किसी भी प्रकार की गलती की जा सकती है। यदि एक-एक बिंदु अपनी जगह पर रख दिया जाये, तो चित्र अरुचिकर हो जायेगा"।

इसका मतलब है कि इस प्रकार की विकृतियां चित्र की कमजोरियां या त्रुटियां नहीं हैं या चित्रकार में अपने को 'दिखाने' का प्रयास नहीं है, जैसा कि अपने समय में लोट्रेक और उनके जैसे विचार रखने वाले अन्य लोगों को सुनना पड़ता था। ये 'विकृतियां' ही वे साधन हैं, जिनसे चित्रकार का उद्देश्य पूरा होता है।

वान गोग को ही लें। उनका क्या उद्देश्य होता था, जब वे तुलिका से बड़े-बड़े धब्बे बनाते थे और आकृतियों को चटकदार रंगों से परिरेखित कर देते थे, जिससे लगता था कि उनके चित्र जैसी वस्तुएं वास्तविकता में होती ही नहीं हैं? एक पत्र में उन्होंने अपने भाई थेओ को निम्न शब्दों में समझाया था:

"मैं अपने मित्र का चित्र बनाना चाहता हूँ, जो एक चित्रकार है, सपनों की दुनियां में जीता है और काम में वैसे ही मगन हो जाता है, जैसे बुलबुल गाने में। यह उसका स्वभाव है। इस आदमी के बाल श्वेताभ होंगे। मैं इस चित्र में उसके प्रति अपना सारा अचरज, अपना सारा प्यार उड़ेल देना चाहता हूँ कि उसे सभी देख सकें। इसका मतलब है कि मैं उसका चित्र जहां तक संभव होगा, बिल्कुल शुद्ध-शुद्ध बनाऊंगा। लेकिन तब भी चित्र पूरा नहीं होगा। उसे पूरा करने के लिये मैं उसके बालों की श्वेताभ्रता को अतिशय कर दूंगा। उन्हें नारंजी और हल्की नीबुआ आभाओं से भर दूंगा। सर के पीछे साधारण कमरे की दीवाल की जगह 'अनंत' चित्रित करूंगा। पृष्ठभूमि को जहां तक संभव होगा शक्तिशाली नीले रंग से प्रचुर कर दूंगा। इस प्रकार प्रचुर नीले परिप्रेक्ष्य पर उसका श्वेताभ आलोकित सर नील गगन में एक सितारे की तरह लगेगा।"

एक अन्य चित्र "लोरी" के बारे में वे लिखते हैं: "इसमें यह अभिव्यक्त किया गया है कि एक समुद्री नाविक, जिसे चित्रकारी का कुछ भी पता नहीं है, तट पर स्त्री की किस प्रकार कल्पना करता है, जबकि वह खुद चारों तरफ समुद्र ही समुद्र देख रहा है।"

"मैं ऐसे चित्र बनाना चाहता हूं कि सभी, जिन्हें आँखें हैं, सब कुछ बिल्कुल साफ-साफ देख सकें"—यह चित्रकार का सृजनात्मक सिद्धांत है।

और सेजान के भूदृश्य, जैसा कि कलाविदों ने ध्यान दिया था, बिल्कुल वक्रताओं पर आधारित हैं। उनमें परिप्रेक्ष्य की क्लासिकता भंग हुई है (याद दिला दें कि यह आरोप सूरिकोव, व्रूबेल तथा अन्य अनेक चित्रकारों पर लगाया गया था) लेकिन सेजान के चित्र की बहुस्तरता पूसिन से बहुत भिन्न है। कलाविद पेत्रोंव बताते हैं कि पुराने उस्ताद कलाकारों के भूदृश्य गहराई में झाँकने को विवश करते थे, दृष्टि को आगे स्थित वस्तुओं की ओर ले जाते थे। लेकिन सेजान द्वारा निर्मित चित्र मानो दृष्टि के प्रवेश का विरोध करते हैं, दृष्टि के फिसलने का पथ सरल नहीं रह जाता—आगे की वस्तुओं से पीछे की वस्तुओं की ओर; उसे चित्रित व्योम में यात्रा के लिये जटिल पथ चुनने पड़ते हैं। सेजान की दुनिया को जानने के लिये अनुभूति को भी परिश्रम करना पड़ता है, क्योंकि चित्रकार "प्रकृति की रागात्मक एवं दार्शनिक अनुभूतियों तक तर्कसंगत रूप से पहुँच कर जगत के एकीकृत बिंब की रचना करता है"।

जब हम सेजान की दुनिया में झाँकते हैं, तो हमें लगता है कि वह चित्र के मुख्य अक्ष के गिर्द झूला झूल रही है। चित्रकार ने अनेक चित्र बनाये हैं, जिनमें उसने राहों के मोड़ की प्रवेगिकी को समझने का प्रयास किया है। उसने चित्रकारिता के नियमों का निडर होकर उल्लंघन किया है: पीछे की वस्तुओं तक पहुँचते-पहुँचते उनके रंग फीके नहीं पड़ते, जो हवाई परिप्रेक्ष्य के सिद्धांत में नितांत आवश्यक माना जाता है (सूरिकोव के चित्र "बयारिन्या मोरोजोवा' के बारे में किसी आलोचक ने लिखा था: "हवाई परिप्रेक्ष्य तो है ही नहीं, जबकि उसे पीछे की कुछेक वस्तुओं को फीका कर के उत्पन्न करना बहुत ही सरल था"), रेखाएं दूर गहराई में जाकर परस्पर मिलती नहीं हैं, जो रैखिक परिप्रेक्ष्य की एक साधारण-सी मांग है। वस्तुएं मानचित्र के मध्य भाग की

ग्रोर दौड़ पड़ती हैं, दूर की वस्तुएं एक ही साथ दूर की भी होती हैं और नजदीक की भी। सेजान 'असंभव आकृतियां' बनाते थे (जिनसे इस पुस्तक के पृष्ठों पर हमारी भेंट अनेक बार होगी); उस समय 'असंभव आकृतियां' कह के कोई नाम भी नहीं था। वे वस्तु के भिन्न पक्षों को भिन्न बिंदुओं से देख कर चित्रित करते थे और उन्हें एकाकार कर देते थे, जिससे वस्तु क्लासिकता के आदी दर्शक को बिल्कुल असामान्य और अजूबी दिखने लगती थी। उनके द्वारा चित्रित वस्तु व्योम में आपके समक्ष कभी अपने इस पक्ष को दिखाती हुई खड़ी होती है, तो कभी घुम कर दिखाने लगती है और इस तरह की असाधारणता ही "भूदृश्य के अलग-अलग हिस्सों को सुघट अभिव्यंजना प्रदान करती है। रीतियों का संकुल कैनवास पर एक नये मोहक व्योम को जन्म देता है"।

जी हां, व्योम को। चित्रकार का व्योम बिल्कुल दूसरा होता है, बनिस्बत कि दर्शक का। ये दो भिन्न व्यक्तित्व होते हैं और दोनों भिन्न रूप से जगत का चिंतन करते हैं। उनका मिलन एक वार्ता बन जाता है, जिसमें कोई भी एक-दूसरे को टोकता नहीं है। यही कारण है कि सच्ची चित्र-कारिता या कोई भी कलाकारिता इतनी आकर्षक होती है। वैसे नौसिखुआ भी, यदि उसके उद्गार बनावटी नहीं हैं, उस्ताद वक्ता से कम आकर्षक नहीं होता। उदाहरण के लिये बच्चों द्वारा बनाये गये चित्रों को ही लें, उनका आज बहुत ही ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जा रहा है। उनकी सहायता से वयस्क आदमी बाल-अनुभूतियों के स्तर पर खड़ा होने का

और खुद को अपनी संतति की दृष्टि से देखने का प्रयत्न करता है।

"जब बच्चे मन में कोई ऋणात्मक राग (जैसे भय, अपमान, आदि) उत्पन्न करने वाली घटना को चित्र में व्यक्त करते हैं, तो उनके हाथ की गति तेज और झटकेदार हो जाती है; नियमतः चित्र का पैमाना बड़ा हो जाता है, लकीरें और लिपाइयां आकृतियों की परिरेखा से बाहर निकलने लगती हैं; गाढ़े रंगों का उपयोग अधिक होता है"। यह किसी कलाविद का विश्लेषण नहीं है, यह मनोलोचक डा. मारिओनेला कोल्त्सोवा लिख रही हैं, जो बाल-मानसिकता और बाह्य जगत की बाल-अनुभूतियों के क्षेत्र में विशेषज्ञ हैं। एक बच्ची उपने माता-पिता का चित्र चटकदार एवं खुशहाल रंगों से बनाती है – वे एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए मुस्कुरा रहे हैं। उसकी सहेली काले मोटे फ्लोमास्टर से अपने माता-पिता का चित्र बनाती है: उनके सिर्फ एक-एक हाथ हैं, जिनसे वे नन्हे वोवा (उसके नवजात भाई) को उठाये हुए हैं। तीसरी बच्ची **अपने** पिता का चित्र एक अलग पृष्ठ पर गाढ़े कत्थई रंग से **बनाती** है ("पापा का चित्र हम सब के साथ नहीं बनाना चाहिये", वह पीता है और मां-बेटी को पीटता रहता है)। एक और पृष्ठ देखें, जिसपर चटकदार रंगों की गोल-मटोल लिपाई से चित्र बना है: "माशा बीमार है, इसलिये मम्मी आज काम पर नहीं गयी..."

रागात्मक भावनाएं कलात्मक व्योम को अपने ही नियमों के अनुसार रचती हैं, जो रूपबद्ध (रूपात्मक या औपचारिक) तर्कशास्त्र के नियमों से भिन्न होते हैं। उसमें सांयोगिकताएं नहीं होतीं, जो खिड़की से बाहर दिखने वाली दुनिया की

विशेषता है। हमारी निगाहें अनजाने ही सुसामंजस्य, सुव्यवस्था और एक तालमेल ढूंढ़ने लगती हैं (क्यों, – इसके बारे में आगे बातचीत होगी) और चित्रकार सामग्रियों के सुगठन का यह काम हमारे लिये खुद कर देता है: लीजिये और इस्तेमाल कीजिये!

लेकिन इससे पहले हम दर्शकों को भी थोड़ी मेहनत करनी चाहिये। हमें अपने मस्तिष्क को चित्रकार की कृतियां कुछ दूसरी तरह से देखने की शिक्षा देनी होगी, उस तरह नहीं, जैसे हम कार के पुर्जे या चमड़े के जूते को देखते हैं – महज उपयोग की दृष्टि से। चित्रों को समझना भी सीखना पड़ता है। बच्चे ऐसा ही करते हैं। पहले वे परिरेखा पर उंगली चलाते हैं, ताकि वस्तु को अन्य वस्तुओं से अलग किया जा सके, क्योंकि अनभ्यस्त प्रत्यभिज्ञान-उपकरण (पहचान करने के अंगों का तंत्र) रेखाओं के जाल में भटकने लगता है। लेकिन उनकी मम्मी और पापा पूरी बहादुरी के साथ घोषित करते हैं कि कुस्तोदियेव और व्रूबेल, पेत्रोव-वोद्किन और देइनेक 'समझ में नहीं आते'। वे यह कल्पना ही नहीं कर पाते कि हर चित्र एक अन्य दुनिया में झाँकने के लिये एक झरोखा है! वे खुद को ही एकमात्र निकष मान बैठते हैं और उस आलोचक की पीठ ठोकते हैं, जिसने अपने जमाने में पेरिस के एक समाचार-पत्र के पृष्ठों पर बड़ी शेखी के साथ घोषित किया था: "ये कोरो (Corot) महाशय प्रकृति को वैसा कैसे देख पाते हैं, जैसा हमें दिखाते हैं? हमें तो सैर करते वक्त कभी भी ऐसे वृक्ष नजर नहीं आये हैं, जैसा कोरो महाशय बनाया करते हैं"।

ऐसे लोग फोटोग्राफी का बहुत आदर करते हैं, खास कर

जब वह रंगीन होती है। वे सोचते हैं कि कैमरा निष्पक्ष, वस्तुगत और यथार्थवादी चीज है। लेकिन वे यह नहीं जानते कि फोटो-चित्र उस व्यक्तित्व पर कितना आश्रित होता है, जो क्लिक दबाता है। सामान्य लेंस द्वारा किसी सांयोगिक बिंदु से खींचा गया फोटो-चित्र दुनिया पर एक महज सांयोगिक दृष्टिपात है और इसीलिये वह बेहद अरोचक होता है। अपनी पहली फिल्म की रील साफ करते ही कोई भी नौसिखुआ फोटोग्राफर यह बात तुरंत समझ लेता है। जो देखने में इतना सुंदर था, चित्र में इतना अनाकर्षक आ जाता है कि उसे देखने की तबियत नहीं होती: चित्र देख कर वे भाव नहीं जगते, जो वास्तविक दृश्य को देख कर उत्पन्न हुए थे। उन भावों को कहां ढूंढ़ा जाये और फिल्म के फ्रेम में कैसे भरा जाये? "वर्तमान समय में तकनीकी रूप से सही चित्रण तो एक सामान्य बात है। कलात्मक फोटोग्राफी का दावा वही कर सकता है, जिसकी कृति का सार बहुत गहन है और रूप बिल्कुल त्रुटिहीन है" – ऐसे शब्दों को पढ़ने के बाद नौसिखुआ फोटोग्राफर सिद्धांत का अध्ययन शुरू करता है। तब उसे पता चलता है कि कई दशाब्दियां पूर्व ही फोटोग्राफी में यह प्रवृत्ति आयी थी कि बिल्कुल शुद्ध चित्रण को छोड़ कर व्यापकीकरण और अकथ्य को उभारने का प्रयास करना चाहिये। आधुनिक फोटोग्राफी अभिव्यक्ति के साधनों को ढूंढ़ने के काम में चित्रकारिता से कुछ पीछे नहीं है। विभिन्न प्रकार के लेंसों का उपयोग, फिल्म धोने की नाना विधियां और प्रकाशांकन (कागज पर फोटो-चित्र उतारने) के खास तरीके – ये सब इसी खोज के प्रमाण हैं। कोई भी समाचार-पत्र अथवा सचित्र पत्रिका खोल कर देख लें (कोई जरूरी नहीं

कि वे विशेषांक ही हों), आपको तुरंत पता लग जायेगा कि छायाकार कितनी अलग-अलग रीतियों से सोचते हैं, विश्व को अभिव्यक्त करने में कितनी भिन्न रीतियों का उपयोग करते हैं। जी हां, अभिव्यक्त करने में, न कि प्रतिबिंबित करने में! यह वैसा ही है, जैसा चित्रकार करते हैं (चित्रकार भी – यह आपको विरोधाभास सा लगेगा! – जीवन के अभिज्ञान में कैमरे का सहायक औजार के रूप में प्रयोग करते हैं; ऐसे चित्रकार अनेक थे: रेरिख, शीश्किन, व्रूबेल, रेपिन, बेनुआ ...)।

अतिविस्तृत दृश्य-कोण वाले लेंस (तथाकथित 'मीनाक्षि' या 'मछली की आँख') चित्र को बहुत ही विकृत कर देते हैं, सभी सरल रेखाओं को मेहराब-सा वक्र कर देते हैं – सेजान को स्मरण कर लीजिये। सौरकरण से फोटोचित्र पर्याकृतिक चित्र में परिणत हो जाता है, जो लगता है मानो कड़ी तुलिका से ठोक-ठोक कर बनाया गया हो; चित्रकारिता में यह वान् गोग का आविष्कार था। विभिन्न रंगों के बिंदुओं की जमघट में परिणत हो जाने वाले रंगीन भूदृश्य स्योरा (Seurat) और सिन्याक (Signac) की याद दिलाते हैं।

नहीं, मैं छायाकारों पर चोरी का आरोप नहीं लगाना चाहता। मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि कैमरे को तुलिका जैसी चीज में परिणत करने की चाल कितनी रोचक है (वैसे, इस खेल में अकेला कैमरा ही भाग नहीं लेता, इसके ढेर सारे अन्य तकनीकी घटक भी हैं)। छाया-कलाकार आज अपनी कृतियों में माक्सिमिलियान वोलोशिन की पुकार को मूर्त्त रूप देने की पूरी कोशिश करते हैं:

सब देखें, सब जानें, सब भुगतें,
सभी रूप, सब रंग आँखों में बैठा लें।
घूम आयें सारी धरती सुलगते पैरों से,
सब अंगिकार करें, फिर सब को रच डालें।

और उनके प्रयत्न असफल नहीं रहे। वे फोटो-पेपर पर अपना व्योम रचते हैं, चित्र से सभी फालतू विवरणों को बेरहमी से निकाल देते हैं, दो, तीन निगेटिवों से पोजीटिव छापते हैं, यदि एक की अभिव्यक्ति-क्षमता पर्याप्त नहीं होती; सृजन का ताल-मेल वे उन जगहों पर भी ढूंढ़ लेते हैं, जहां साधारण व्यक्ति की आँखें कूड़े के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखतीं। वे जगत को कलाकार की दृष्टि से देखते हैं, और अपनी-अपनी तरह से देखते हैं।

यहां हम अतीत की एक झलक ले लें – कोई ढाई शती पूर्व की:

पीटरबुर्ग, 1715। प्योत्र प्रथम की मृत्यु से दस साल पूर्व नाविकीय अकादमी की स्थापना हुई थी। इसके कैडेटों को निम्न विषय पढ़ाने की आज्ञा थी: "1) अंकगणित, 2) रेखागणित, 3) शस्त्रचालन, 4) तोप-कला, 5) नाविकी, 6) किलाबंदी, 7) भूगोल, 8) जहाज की रचना का ज्ञान, 9) चित्रकारी, 10) बर्छी-चालन"।

1716 में सांक्त-पीटरबुर्ग के सैन्य चिकित्सालय में एक करोजिंक (सर्जरी का) स्कूल खोला गया। चित्रकारी यहां भी एक अनिवार्य विषय था।

विद्यार्थी किन वस्तुओं का चित्र बनाना सीखते थे? जहाज के हिस्सों का? तोप का? शरीर के अंगों का? ... बिल्कुल

नहीं। उन्हें भूदृश्य और लोगों की चित्रकारी सिखायी जाती थी। उस समय, जब विशेषज्ञों की विशेष कमी थी, क्या यह समय की बर्बादी नहीं लगती?

"चित्रकारी में बुद्धि को वैसा ही श्रम करना पड़ता है, जैसा विज्ञान में।" ये पावेल चिस्त्याकोव के शब्द है, जो वास्नेत्सोव-बंधुओं, सुरिकोव, रेपिन, व्रूबेल, सेरोव जैसे महान चित्रकारों के गुरू थे। यह भी चिस्त्याकोव की ही उक्ति है: "चित्रकारी की शिक्षा ... बच्चों में प्रेक्षण और मनन (रेखांकन मेरा – वि.दे.) की क्षमता विकसित करने के लिये इतना महत्त्वपूर्ण विषय है कि स्कूलों में इसे अन्य विषयों के साथ बराबरी का दर्जा दिया गया है।" इन शब्दों की सत्यता उनके शिष्यों की विश्व-ख्याति से ही सिद्ध हो जाती है।

अब शायद हम यह समझने के लायक हो रहे हैं कि क्यों एक आदमी चित्र बनाता है और दूसरा उसे देखता है। यह भी स्पष्ट होता जा रहा है कि अच्छे चित्रों की अभिव्यक्ति-क्षमता बहुस्तरीय क्यों होती है, शब्दों की सहायता से उनका वर्णन क्यों असंभव होता है। क्या आप को ऐसा नहीं लग रहा है कि चित्र बनाने के पीछे सिर्फ 'प्रतिबिंबन' की इच्छा नहीं होती, इससे कोई अधिक बड़ी चीज होती है?

निर्वसन आदिम आखेटक चट्टान पर भाले से भोंके हुए हरिण की पर्याकृति बनाता था, उसका विश्वास था कि इससे उसे शिकार में सफलता मिलेगी। वह प्रकृति का संचालन करने वाले नियमों को जानने की और उन्हें प्रभावित करने की कोशिश करता था। इसमें उसका कोई दोष नहीं था कि संवृत्तियों के अंतर्संबंधों के विवेकसंगत विचारों को कई सहस्राब्दियों के बाद जन्म लेना था। फिर भी वह निस्संदेह एक प्रतिभाशाली

व्यक्ति था: वह जगत को एक विशेष ढंग से अनुभूतियों को हमतक पहुँचाने में भी सफल हो गया। "हम अक्सर जगत को उन चश्मों की सहायता से देखते हैं, जिन्हें कोई प्रतिभाशाली चित्रकार पहना करता था" – व्स्येवोलोद मेइयेरखोल्द के शब्द हैं। इनमें उस संवृत्ति की कितनी अच्छी परिभाषा दी गयी है, जिसे हम सह-अनुभूति कहते हैं। एक ऐसे आदमी की कृति, जो जगत के बारे में, असीम ब्रह्मांड में अपने स्थान के बारे में मनन करता है, एक चिनगारी में परिणत हो जाती है, जो दूसरे, तीसरे, हजारों, लाखों व्यक्तियों में विचारों की अग्नि प्रज्वलित कर देती है।

अमरीका में कार्यरत कलाविद और मनोलोचक आर्नहाइम का कथन है: "अभिव्यंजक कला की कृति कलाकार के विचारों का दृष्टांत नहीं होती, वह चिंतन की अंतिम अभिव्यक्ति होती है।" इसीलिये महान कृतियां अमर होती हैं। कहते हैं कि जब मिकेलांजेलो (Michelangelo) की भर्त्सना की गयी कि मेडीसी के ड्यूकों के चित्र सही नहीं बने हैं, तो महान इतालवी कलाकार ने जवाब दिया: "सौ वर्ष बाद किसे इसका ध्यान रहेगा?" चित्र में व्यक्त विचार कभी-कभी इतिहास पर भी पर्दा डाल देते हैं। डिजाइनर जार्ज नेल्सन ठीक ही कहते हैं: "इतालवी चित्रकार बोत्तीचेली (Botticelli) स्त्रियों के चित्र इस तरह बनाते थे, जैसे न उनके पहले किसी ने बनाया, न उनके बाद। बोत्तीचेली और उनके चित्रों को अनेक लोग जानते हैं, लेकिन यह कौन बता सकता है कि उस जमाने में फ्लोरेंस का राजनीतिक नेता कौन था, वेनिस की सबसे बड़ी आयात कंपनी का मालिक कौन था, या कौन-से नगर आपस में लड़ रहे थे और उनमें कौन

विजेता निकला ? " और रूस के इतिहास में : उन जारों का नाम कौन सरलता से बता सकता है (विशेषज्ञों को छोड़ कर), जिनके राज्य-काल में आंद्रेइ रूब्ल्येव, ब्र्युल्लोव, कुइंजी रेपिन, सूरिकोव आदि अपनी कला-उपासना में लगे थे ?..

चित्रकारी की महान कृतियां अमर होती हैं, क्योंकि वे कलाकार के विचारों का पैमाना प्रतिबिंबित करती हैं, क्योंकि आकृति और रंगों के खेल भी आंतरिक चिंतन-प्रक्रिया की ही बाह्य अभिव्यक्तियां हैं। महान व्यक्ति कभी भी घोंघे के खोल में नहीं घुसे रहते, वे जीवन के ज्वलंत प्रश्नों से कभी भी कतराते नहीं हैं, यद्यपि किसी-किसी को ऐसा लग सकता है। एक कवि ने ठीक ही कहा था :

> दुसरों ने जब उसे स्वीकारा नहीं,
> सोचा, खुद अपना चित्र बनायें कहीं,
> और फाड़ कर तिमिर प्रकाश में आया चित्र,
> तब चिल्ला पड़े सब:
> अरे, यह तो हैं–हम।

जी हां, अपनी कृति से, अपने विचारों से चित्रकार सर्व-साधारण को संबोधित करता है। समाचार-पत्र "प्रावदा" के एक मुख्य निबंध में कहा गया था : "चित्र-प्रदर्शनी चित्र-कार के लिये सदैव एक नागरिक मंच है, जहां वह जीवन, अपने समय और आदमी के बारे में अपने विचारों को सामाजिक मूल्यांकन के लिये प्रस्तुत करता है। यहां उसे दर्शकों के संपर्क में, अपने अन्य साथियों की कृतियों के साथ, अपने सृजनात्मक अभिगम की मजबूती और अपने युग की आवश्यक-

ताओं की समझ की गहराई जांचने का अवसर प्राप्त होता है।"

इसीलिये तो कलाविद नी. मोलेवा के जिस निबंध में नावि-कीय अकादमी और करोर्जिक विद्यालय में चित्रकारी के पठन--पाठन की खबर दी गयी थी, उसका नाम उन्होंने रखा था : "आत्मज्ञान का पथ"।

अध्याय 6

जगत विवरणों से बना है

...जेली, सेब के भरते आदि से भी गुलगुले इसी तरह बनाये जाते हैं। 1 किलोग्राम आटे में 2.5 गिलास दूध, 2-3 बड़ा चम्मच घी, 1 बड़ा चम्मच चीनी, 2 अंडे, 1 छोटा चम्मच नमक और 30 ग्राम खमीर लगता है।

—'स्वस्थ एवं स्वादिष्ट पकवान की पुस्तक' से।

जीवलोचक डा. अल्फ्रेड यार्बुस ने 7-वें दशक के आरंभ में ऐसे प्रयोग संपन्न किये, जिनका संदर्भ विश्व में आज वे सभी लोग देते हैं, जो आकृति और व्योम की अनुभूती के अध्ययन से किसी न किसी प्रकार संबंधित हैं। ये प्रयोग अब क्लासिकल हो चुके हैं, इनसे अनेक नये अन्वीक्षणों की शुरुआत हुई, जिनसे 'जगत को देखना' क्या है, इसकी समझ गहरी हुई है।

प्रयोगाधीन व्यक्ति की आँख में उन्होंने एक नन्हा सा दर्पण जड़ दिया, जिससे प्रतिबिंबित प्रकाश-पुंज प्रकाश-संवेदी कागज पर आँख की गति का चिन्ह बनाता था। अध्ययन हो रहा था कि चित्र को देखते वक्त आँख कैसे-कैसे घूमती है। दृष्टि
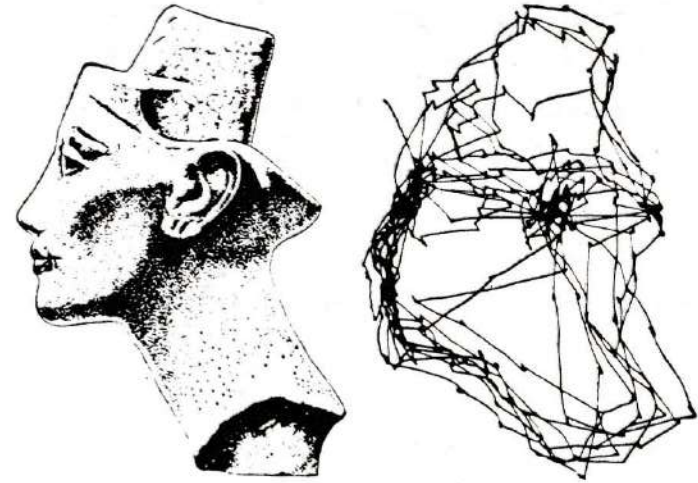
नेफरतीती को हम इसी ढंग मे देखते हैं (दायां चित्र)।

-पथों का जाल यह प्रमाणित कर रहा था कि देखने का मतलब यह नहीं होता कि पुतलियां आकृति (या वस्तु) की परिरेखा पर फिसलती हैं (खेद की बात है कि दृश्य-अनुभूति के अ-विशेषज्ञों द्वारा लिखी गयी मोटी-मोटी पुस्तकों में अब भी ये शब्द पढ़ने को मिल सकते है: नेत्र-कोया परिरेखा के सहारे-सहारे गति करता है)। असलियत तो यह है कि दृष्टि इधर से उधर बेतरतीब छलांगे लगाती रहती है। जब अलग–अलग गति के अभिलेख एकत्र हुए, तो अत्यंत रोचक नियमसंगतियां प्रकाश में आयीं।

पहली नियम-संगति तो यह है कि ध्यान का अधिकतम अंश चित्र के अर्थवान केंद्रों पर ही पड़ता है। विशेषत: आदमी या कोई जानवर सदा ही ऐसा केंद्र होता है, यहां तक कि यदि चित्र में प्रकृति या तकनीक अंकित होती है, तब भी। लोगों के चेहरे हमारे लिये अधिक अर्थवान होते हैं, बनिस्बत

कि आकृतियां, और आकृतियां अधिक अर्थवान होती हैं बनिस्बत कि परिस्थिति के विवरण। किसी व्यक्ति के चित्र को देखते वक्त दृष्टि मुख्यत: आँखों, होंठों और नाक पर टिकती है। ये तत्त्व (अंग) – आँखें, नाक, मुँह – प्रेक्षक के लिये सबसे अधिक रोचक होते हैं, यहां तक किसी जानवर का चेहरा देखते वक्त भी।

'मूल्यों की यह सोपानिक अधीनता' तो समझ में आ जाती है। आँखें 'आत्मा का दर्पण' हैं, होठों की गति या गालों की फड़कनें आदमी के मूड को बहुत अच्छी तरह स्पष्ट कर देती हैं। दोषी आदमी की 'भागती आँखें' याा 'झुकी नजरें' जैसे मुहावरे जो पुराने जमाने से चले आ रहे हैं, सांयोगिक नहीं हैं। बातचीत में रत आदमी का सारा ध्यान साथी के चेहरे पर ही केंद्रित नहीं रहता है, यद्यपि वह हमेशा रोचक होता है; ध्यान हाथों पर भी जाता है (शायद उनकी गति से आदमी के इरादे के बारे में कुछ पता चल जाये!), जेब पर भी (कहीं पिस्तौल तो नहीं है?), आसपास खड़े लोगों के भी चेहरे पर (कहीं कोई मिली-भगत तो नहीं है?) और इस 'दृष्टि-वार्त्ता' में जरा-सी भी विचित्रता या असाधारणता होती है, तो हम उसे फौरन देख लेते हैं, सतर्क हो जाते हैं।

जी हां, आँख की गति चिंतन-कार्य को प्रतिबिंबित करती है। इसके विश्वसनीय प्रमाण मिल चुके हैं। एक प्रयोग में यार्बुस ने प्रयोगाधीन व्यक्ति को रेपिन के "अप्रत्याशित आगमन" नामक चित्र को भिन्न उद्देश्यों से देखने के लिये कहा, (कहने का तात्पर्य यह है कि प्रयोगाधीन व्यक्ति को कोई न कोई तार्किक प्रश्न हल करने के लिये चित्र को देखना

था)। क्या परिणाम मिला? जब चित्र में दर्शित परिवार की माली हालत का मूल्यांकन करना था, तो ध्यान विशेषकर कमरे की वस्तुओं पर जाता था, जबकि 'स्वतंत्र अवलोकन' में ये विवरण व्यवहारत: अनदेखे रह जाते थे। चित्रित लोगों की आयु का अंदाज लगाने के लिये दृष्टि सिर्फ चेहरों पर ही जमती थी। "जिसके आगमन की आशा नहीं थी, वह कितने समय तक परिवार से दूर रहा है?" – इस प्रश्न के उत्तर में दृष्टि तेजी से बच्चों के चेहरे से माँ के चेहरे पर, फिर आगत व्यक्ति के चेहरे पर (और तुरंत विपरीत दिशा में और फिर पहले की तरह) भ्रमण करने लगती थी। चित्रित कमरे में लोगों और वस्तुओं की पारस्परिक स्थिति याद करने के लिये नजर बेतरतीबी से भटकने लगती थी...

चित्र "अप्रत्याशित आगमन" एक सुप्रसिद्ध कृति है। वह इसलिये भी रोचक है कि अलग-अलग लोग उसे अलग-अलग प्रकार से देखते हैं। दृष्टि-पथ के जाल से पता चलता है कि यद्यपि किसी एक 'उद्देश्य' के अनुसार देखने में भिन्न लोगों का ध्यान चित्र के समान तत्त्वों की ओर आकर्षित होता है, फिर भी इन तत्त्वों को देखने का क्रम हर आदमी के लिये अलग-अलग (व्यक्तिगत) होता है।

जग देखता है हरेक कुछ अन्य रूप में,
और हरेक सही है – इतने ढेर अर्थ हैं उसमें।

यह जर्मन कवि गेटे ने यार्बुस के प्रयोगों से कोई दो सौ वर्ष पूर्व लिखा था। किसी भी विचाराधीन व्यक्ति की ये विशेषताएं बहुत ही टिकाऊ होती हैं। यदि आप चित्र को आज, फिर तीन दिन बाद, एक सप्ताह बाद देखेंगे, तो आँख

में जड़ा हुआ दर्पण बतायेगा कि दृष्टि का पथ सारतः एक समान रहता है। "कला दर्पण है, जो उसमें झाँकने वाले को प्रतिबिंबित करता है"–यह ओस्कार वाइल्ड की उक्ति कभी-कभी महज अपनी अक्लमंदी दिखाने का प्रयास मान ली जाती है। अब पता चलता है कि यह बिल्कुल सही है...

शिक्षाविद् डा. वेनिआमिन पुश्किन ने एक अन्य रीति का उपयोग किया था। उन्होंने शतरंज का प्रश्न हल करते व्यक्तियों की आँखों का चलचित्र प्राप्त किया। इसमें भी दृष्टि-पथ से यह पता चलता है कि शतरंज का खिलाड़ी सोचता किस ढंग से है। यहां भी यही सिद्ध हुआ कि पुतलियों की गति का पथ मनोद्देश्य पर निर्भर करता है। हल ढूंढ़ने के प्रयत्न में पथ का एक चित्र मिलता था और सिर्फ यह बताने में कि कौन-सी पार्टी अधिक मजबूत है, दूसरा चित्र मिलता था। जीत का रास्ता ढूंढ़ते वक्त मोहरों की पारस्परिक स्थिति के फलनात्मक रूप से महत्त्वपूर्ण स्थलों पर ही दृष्टि जाती थी, शतरंज के बोर्ड का बहुत बड़ा भाग अनदेखा रह जाता था। स्थिति का मूल्यांकन करने में नजर टिकने के बिंदु पूरे बोर्ड पर बिखरे होते थे। देखने का अर्थ है मनन करना और मनन करने का अर्थ है खास तरह से देखना।

शतरंज का खिलाड़ी बोर्ड पर दी गयी स्थिति के हर खंड को करीब चौथाई सेकेंड देखता है। पढ़ते वक्त भी (गद्य या पद्य, कोई फर्क नहीं पड़ता) नजर टिकने का समय इतना ही होता है, यह यार्बुस ने भी निर्धारित किया है और अनेक अन्य अन्वीक्षकों ने भी। इसका मतलब है कि अच्छे खिलाड़ी के लिये शतरंज का बोर्ड एक खुली पुस्तक ही है... चौथाई सेकेंड–यह अंतराल लघुकालीन स्मृति को चाहिये ताकि वह

अपनी सूचना की तुलना दीर्घकालीन स्मृति के सूचना-भंडार से कर सके। और यदि इतना समय काफी नहीं होता, क्योंकि पाठ भावुकताओं से भरा होता है और पाठक के मन में जवाबी विचार तथा संबद्ध चित्र उत्पन्न होने लगते हैं, तो दृष्टि देर तक टिकी रह जाती है, लेकिन चौथाई सेकेंड में किसी पूर्ण संख्या से ही गुणन के बराबर समय तक। जल्द ही हम देखेंगे कि इस आँकड़े के पीछे एक रोचक नर्वशरीरलोचनी तथ्य छिपा हुआ है।

समय के इस क्षुद्र अंतराल में दृष्टि-प्रणाल से सूचनाओं की जो मात्रा संप्रेषित होती है, वह उम्र के साथ तेजी से बढ़ जाती है। छह साल का बच्चा एक मिनट में 75 से अधिक शब्द नहीं समझ पाता, जबकि बीसवर्षीय छात्र 340 शब्द गटक जाता है। क्यों?

इसलिये कि बच्चा सौ शब्द पढ़ने में अपनी दृष्टि को 240 बार रोकता है और 55 बार वापस लौटाता है। छात्र की दृष्टि बहुत कम ही रुकती या लौटती है।

अनेक अन्वीक्षकों का कहना है कि जीवन का अनुभव अनेक गौण चिन्हों (विवरणों) की उपेक्षा करने में और कई सरल चिन्हों को जोड़ कर एक जटिल चिन्ह बनाने में सहायक होता है। यदि दूसरे शब्दों में कहा जाये, तो वे अक्षर बदल जाते हैं, जिनसे पहचान की जाती है, चिन्हों का वह मेल बदल जाता है, जिनके बीच इष्ट चिन्ह को शब्द से द्योतित करना होता है। इसीलिये यद्यपि स्कूली बच्चे और उच्च शिक्षा संस्थान के छात्र की दृष्टि टिकने का समय एक ही होता है, मस्तिष्क के उच्च विभागों में सूचनाओं के संसाधन का वेग अवश्य बढ़ जाता है। वयस्क व्यक्ति का मस्तिष्क अधिक

तेजी से काम करता है, सिर्फ इसलिये नहीं कि उसका सामान्य विकास अधिक हुआ है और उसकी स्मृति ज्ञान से अधिक समृद्ध है, बल्कि इसलिये भी कि मस्तिष्क की आंतरिक संरचना सुधरती जाती है और ज्ञानेंद्रियों से अनुभूत सूचना की प्रस्तुति की रीतियां अधिक मितव्ययी होती जाती हैं।

आँख पर जड़े हुए दर्पण की सहायता से दृष्टि-पथ के चिन्हों का जाल इतना टिकाऊ क्यों होता है? यार्बुस के प्रयोगों के बाद अमरीकी शरीरलोचक डी. नोटोन और एल. स्टार्क दृष्टि-पथ का जाल ही नहीं अंकित करने लगे, साथ-साथ एक बिंदु से दूसरे तक दृष्टि के संक्रमण का क्रम भी निर्धारित करने लगे। यह क्रम भी हर व्यक्ति के लिये अपना निजी, व्यक्तिगत और काफी टिकाऊ (स्थायी) होता है। प्रयोगकर्त्ताओं ने निष्कर्ष निकाला कि वह वस्तु से प्रथम परिचय के समय उसे अपनी दृष्टि से टटोलता हुआ एक पथ बनाता है। इससे दृष्टि-स्मृति में वे लक्षण अंकित हो जाते हैं, जो वस्तु के लिये लंछक होते हैं, साथ ही गतिप्रेरक-स्मृति में आँखों को घुमाने वाली पेशियों से प्राप्त संकेत (सिग्नल) अंकित हो जाते हैं। इस तरह लक्षणों या वस्तु के चिन्हों का एक 'चक्र' बन जाता है, जिसमें दृष्टि-स्मृति और गतिप्रेरक-स्मृति की सूचनाएं गुँथी होती हैं। नयी मुलाकात में यह चक्र ही चित्र को पहचानने में सहायक होता है।

अन्य वैज्ञानिकों के अनुसार आकृति की परिरेखा (पर्याकृति) के विवरणों को द्योतित करने वाले शब्द पूरी पर्याकृति को पहचानने में उनके महत्त्व को रेखांकित करते हैं। 'ऋजुता', 'मोड़', 'अवतलता', 'टूटन', 'रेखाओं की कटान' आदि जैसे शब्द सूचनादायक हिस्सों को लंछित करते

हैं (एक पर्याकृति की दूसरी से भिन्नताओं की दृष्टि से)। अधिक शुद्ध निर्देशों के लिये विशेषज्ञ लोग विशेष पारिभाषिक शब्दों का उपयोग करते हैं। यथा, पेशेवर भवन-निर्माताओं की भाषा में आपको 'मेहराबी', 'गुंबदाकार' आदि जैसे शब्द मिल जायेंगे।

निगाह टिकने वाले बिंदुओं के रूपात्मक (औपचारिक) लक्षण क्या हैं? दृष्टि-उपकरण सूचनात्मक महत्त्व किन विशेषताओं को देता है? ऐसी मान्यता है कि सूचना के लिये परिरेखा के वे ही खंड महत्त्वपूर्ण होते हैं, जहां तीव्र वक्रता (मोड़, टूटन आदि) दिखती है। अमरीकी अन्वीक्षक एम. एटनिव ने एक रोचक प्रयोग किया: उन्होंने प्रयोगाधीन व्यक्ति से लेटी बिल्ली के चित्र में उन बिंदुओं को दिखाने के लिये कहा, जो आकृति के अर्थ को पहचानने में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हों। जैसी आशा थी, ये बिंदु पर्याकृति के विचाराधीन खंड में महत्तम वक्रता के बिंदु थे। वैज्ञानिक ने ऐसे लगभग चालीस बिंदुओं को सरल रेखाओं से मिला दिया; इससे प्राप्त आकृति (पृ. 152) लेटी बिल्ली को पहचानने में व्यवहारतः कोई कठिनाई नहीं प्रस्तुत करती।

दृष्टि-उपकरण के कार्य की इसी विशेषता का उपयोग क्युबिस्ट चित्रकारों ने अनजाने में शुरू किया था (ये सरल रेखाओं और फलकों के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करते हैं)। कालीन बुनने, गुणा या जोड़ के चिन्हों से आकृतियों की कढ़ाई आदि जैसी लोककलाओं में अनेक प्रकार के शैलीकरण का आधार भी यही है।

परिरेखाओं में तीव्र वक्रताएं और तीक्ष्ण मोड़ कलाकार के चित्र में लोगों तथा जंतुओं की गोल-मटोल रेखाओं वाली
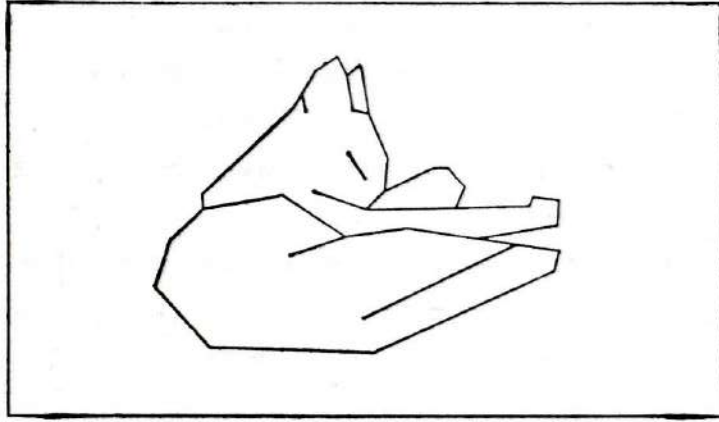
चित्र सिर्फ सरल रेखाओं से बना है, पर उसमें बिल्ली को पहचाना जा सकता है (एट्टिव के अनुसार)

वास्तविक आकृतियों को पहचानने में बाधक नहीं होते।

अब आकृति के उन हिस्सों की बात करें, जिनपर निगाह टिकती नहीं है। क्या उन्हें हम बिल्कुल नहीं देखते? देखते तो अवश्य हैं, पर इतना स्पष्ट नहीं। इसीलिये कभी-कभी मस्तिष्क उनको स्वयं कल्पना से पूरा करने लगता है; इस काम में वह उन करोड़ों चित्रों का उपयोग करता है, जो आँखों के सामने से गुजर चुकी होती हैं और अचेतन रूप से स्मृति में अंकित हो जाती हैं।

उपरोक्त बात की सत्यता 'असंभव आकृतियों' से सिद्ध होती है, जो भोले दर्शक को परेशानी में डाल देती हैं। इनमें से एक है–पेनरोज का त्रिभुज। सरसरी निगाह से उसमें कोई खास बात नहीं दिखेगी। उसके तीन कोण सामान्य चित्र का आभास दे देते हैं: तीन पट्टों से बना हुआ व्यौम त्रिभुज।

लेकिन जैसे ही आप उसकी व्यौम आकृति को समझने की कोशिश करने लगते हैं, अर्थात् समतल चित्र के आधार पर उसके व्यौम रूप को रचने लगते हैं, कठिनाई उत्पन्न होने लगती है। मस्तिष्क ऐसी आकृति की वास्तविकता को नकारने लगता है। आँखें पर्याकृति पर एक शीर्ष से दूसरे की ओर भटकती रहती हैं, उनके घूमने की गति तेज होती जाती है, लेकिन हल का कोई सुराग भी नहीं मिलता। त्रिभुज विचित्र और अवास्तविक बना रहता है। क्या कारण है?

तीन सौ वर्ष पूर्व डेकार्ट (Descartes) ने जटिल बिंब की अनुभूति का निम्न आरेख प्रस्तुत किया था: "यदि मैंने स्वतंत्र बौद्धिक संक्रियाओं की सहायता से A व B के बीच, B व C के बीच, C व D के बीच और अंत में D व E के बीच संबंध ज्ञात किया है, तो सिर्फ इतने से ही मैं A व E के बीच संबंध को नहीं जान सकता। पहले से ज्ञात सत्यों से भी इसका सही ज्ञान मुझे नहीं मिल सकता, जबतक कि मैं एक साथ सभी सत्य नहीं स्मरण करता। इस काम में मदद के लिये मैं समय-समय पर इन सत्यों का पुनरावलोकन करता रहूँगा, जिससे मेरी कल्पना इस प्रकार प्रोत्साहित होगी कि एक तथ्य को देखते ही वह अगले पर पहुँच जायेगी। ऐसा मैं तबतक करता रहूँगा, जबतक प्रथम कड़ी से अंतिम तक इतना जल्द पहुँचना सीख जाऊँगा कि बीच की एक भी कड़ी मेरी स्मृति में छिपी न रहे और मैं पूरा चित्र अपनी कल्पना में एक साथ देखने लायक न हो जाऊं।" जैसा हम जानते हैं, मस्तिष्क लगभग इसी आरेख के अनुसार आँखों की गति संचालित करता है, जिसे यार्बुस ने प्रकाश-संवेदी कागज पर अभिलेखित किया था। लेकिन जब 'असंभव आकृ-

तियों' से वास्ता पड़ता है, तो अभिज्ञान की यह रीति धोखा दे जाती है...

देखें कि ऐसा क्यों होता है। विश्लेषण के लिये धैर्य चाहिये, लेकिन अंत में इसका पुरस्कार अवश्य मिलेगा: हम पेनरोज के त्रिभुज का ही नहीं, अन्य 'असंभव आकृतियों' का भी रहस्य जान लेंगे।

हमारे त्रिभुज में सतह 3 व 1 बिंदु A पर T-प्रकार की संधि (जोड़) बनाती है। इसका अर्थ है कि सतह 1 सतह 3 के नीचे है: यह हमारे जीवनानुभवों से ज्ञात होता है। अब बिंदु B देखें – यहां भी T-प्रकार की संधि है, जो सतह 3 व 4 के मिलने से बनी है: सतह 3 सतह 4 के नीचे है। अब बिंदु C पर आयें – यहां भी वैसी ही संधि है, अतः सतह 4 सतह 1 से नीचे है। लेकिन हमने अभी-अभी तो देखा था कि सतह 4 सतह 1 के नीचे नहीं हो सकती, क्योंकि 4 ऊपर है 1 से। अतः 4 को 1 से ऊपर होना चाहिये, लेकिन उनकी संधि इसका ठीक उल्टा प्रमाण देती है। आँख को परस्पर विरोधी सूचनाएं प्राप्त होती हैं: तीनों संधियों के निरीक्षण से पता चलता है कि त्रिभुज की तीनों पट्टियां परस्पर लंब हैं, लेकिन उनपर नजर फिराने से इन परिस्थितियों में व्यौम आकृति बनाना संभव नहीं हो पाता।

इस विरोधाभास से मुक्त कैसे हुआ जाये? यह बहुत सरल है: किसी एक तथ्य को त्याग दीजिये (अधिक जानने से नुकसान ही होता है)। यदि आप उंगली से किसी एक शीर्ष को ढक देंगे, तो तुरंत कायापलट हो जायेगी: त्रिभुज की भुजाएं कागज के तल से उभर आयेंगी और मिथ्या समतल आकृति को व्यौम आकृति में परिणत कर देंगी, तीनों ही छड़ें (या पट्टे) परस्पर लंब हो जायेंगी।
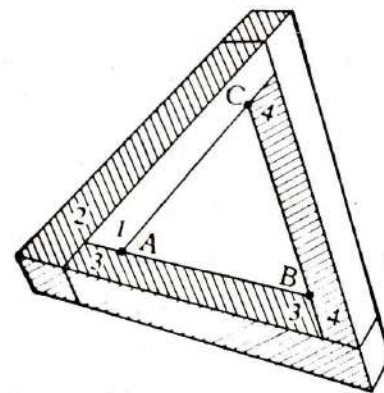
पेनरोज का त्रिभुज। किसी एक शीर्ष को ढक लीजिये, तब आप देखेंगे कि त्रिभुज समतल पर स्थित नहीं है।
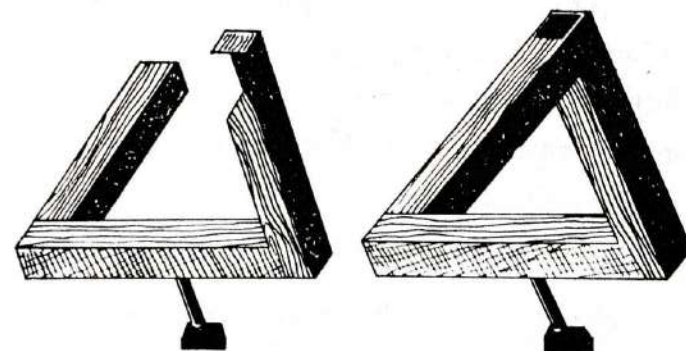
लकड़ी के पट्टों से बना पेनरोज का त्रिभुज। इसे वास्तविकता में बनाने की कोशिश करें।

पेनरोज के त्रिभुज जैसे ट्रिक हालैंड के चित्रकार मोरिस एस्खेर खूब बनाया करते थे। उनके चित्रों में कहीं तो ऊपर की ओर बहता हुआ झरना मिलता है, तो कभी सदा नीचे उतरने वाली सीढ़ियों का संवृत चक्र, आदि, आदि।

इस तरह के चित्रों की विचित्रता का रहस्य उपरोक्त युक्ति से खुल जाता है : चित्र का कोई अंश ढक देना चाहिये, इंची और ड्राइंग के त्रिभुज की सहायता से परिप्रेक्ष्य में रेखाओं का मिलन-बिंदु ज्ञात करना चाहिये ; बस, इतने से चित्रकार की पहेली का हल मिल जायेगा। प्रश्न सिर्फ एक है : वह इस तरह के अकल्पनीय चित्र बना कैसे लेता है?

बेशक, उपरोक्त बातों का यह अर्थ नहीं है कि दृष्टि और मस्तिष्क 'चित्र के टुकड़ों' से ही संतुष्ट हो जाते हैं। मस्तिष्क में प्रथम छाप की जाँच अन्य खंडों की सहायता से होती है, परिरेखा और आयतन का निर्धारण दृष्टि को भिन्न पथों पर कई-कई बार घुमा कर किया जाता है, और तब जा कर जटिल समृद्ध बिंब प्राप्त होता है। स्मृति के भंडार में जितने ही अधिक प्रकार के दृश्य बिंब होंगे, नयी वस्तुएं उतनी ही संपूर्णता से अनुभूत होती हैं, देखने की हमारी क्षमता उतनी ही संपूर्ण होती है :

मैं व्योम के विशाल खंड गटकता हूं,
पूरब और पश्चिम मेरे हैं, उत्तर और दक्षिण मेरे हैं।

. . . .

पथ में अर्जित करूंगा अपने और तुम्हारे लिये,
पथ में बिखेरूंगा खुद को नर-नारियों के बीच,
लुटाऊंगा उनमें नयी प्रसन्नता और नयी रुक्षता।

. . . .

अब मैंने जाना है रहस्य उत्तम बनने का—
मुक्त हवा में पनपना, पृथ्वी के संग सोना, और खाना।

यह वाल्ट व्हिटमैन ने लिखा है।

लेकिन नेत्र-गति के अभिलेख से यह जो सिद्ध होता है कि हम वस्तु को खंडों में अनुभव करते हैं, दरअसल तैरते हिम-शैल का सिर्फ शिखर है, रेटीना से लेकर दृष्टि-उपकरण के उच्च विभागों तक की गहन प्रक्रियाओं की सिर्फ बाह्य अभि-व्यक्ति ही है। इस प्रक्रिया का बाकी रूप हमारी आँखों से छिपा होता है, जैसे हिमशैल का अधिकांश भाग जल के नीचे। हम उन्हें भी देखेंगे, लेकिन इससे पहले 'क्षेत्रों' के बारे में कुछ बातें कर लें।

परिवेशी दुनिया क्रिस्टलीन (आँख के लेंस) द्वारा रेटीना पर प्रकाशमान और अंधेरे धब्बों के रूप में प्रक्षिप्त होती है (वस्तुएं रंगीन होती हैं, जिसके कारण प्रक्षेप में कुछ अन्य विशेषताएं भी अवश्य होती हैं, लेकिन रंग भी तो भिन्न रूप से प्रकाशमान होते हैं)। प्रकाश की तीव्रता के अनुसार प्रकाश-ग्राहित्र प्रत्युत्तर देते हैं और रेटीना पर 'उद्दीपन की तलाकृति' उत्पन्न होती है (यदि सच कहें, तो प्रकाश-ग्राहित्र अंधेरे मे 'चुप' नहीं रहते, वे तथाकथित तिमिर-धारा उत्पन्न करते हैं, जो प्रकाशिता बढ़ने के साथ-साथ घटती जाती है ; प्रकाश-ग्राहित्रों की यह विशेषता सिर्फ मेरुदंडी जीवों में ही पायी जाती है)। प्रकाश-ग्राहित्रों से उत्पन्न संकेत (सिग्नल) रेटीना की द्विध्रुवक कोशिकाओं में पहुँचते हैं और वहां क्षैतिज कोशिकाओं से प्राप्त अन्य संकेतों के साथ बीजगणितीय योग बनाते हैं। यह चित्र की औसत चमक को ध्यान में रखने के लिये होता है, ताकि दृष्टि सूर्य के प्रकाश में भी काम कर सके और चांद के भी।

हर क्षैतिज कोशिका निकटस्थ प्रकाश-संवेदी कोशिकाओं से आने वाले उद्दीपक एवं दमनकारी संकेतों का संकल (योग)

बनाती है। ऐसी प्रकाश-संवेदी कोशिकाओं को क्षैतिज कोशिका का क्षेत्र कहते हैं। इसीलिये क्षैतिज कोशिका ही वह संकेत उत्पन्न करती है, जो उसके क्षेत्र की औसत प्रकाशिता के अनुरूप होता है (यह तथ्य अनेक वैज्ञानिकों द्वारा स्थापित किया गया है, जिनमें सोवियत विज्ञान-अकादमी के पत्र सदस्य अलेक्सेई बिजोव भी हैं)। इसके अतिरिक्त, चूँकि सभी क्षैतिज कोशिकाएं एक-दूसरी से जुड़ी हुई हैं, इसलिये संकेत पूरी रेटीना की प्रकाशिता के अनुरूप होता है।

फल यह होता है कि इस जोड़-घटाव के बाद गुच्छिकीय कोशिका, जिससे मस्तिष्क के उच्च विभागों में आक्सोन (दृष्टि-नर्व के रेशे) जाते हैं, प्रकाश की परम चमक नहीं, बल्कि सापेक्षिक चमक प्रेषित करती है: रेटीना पर प्रकाश -प्रवाह की औसत ऊर्जा से कम या अधिक। इसीलिये दृष्टि -तंत्र के न्युरोन यद्यपि प्रवेशी संकेतों में सौ गुना परिवर्तन का ही प्रत्युत्तर दे सकते हैं, पूरा दृष्टि-तंत्र चमक में खरबों गुनी कमी की स्थिति में भी काम कर सकता है – उससे टेली-वीजन-तंत्रों के रचनाकार ईर्ष्या कर सकते हैं। सापेक्षिक मापन में इतनी बड़ी संभावनायें होती हैं। इसीलिये तो यह सिद्धांत – परम परिवर्तनों पर नहीं, वरन् सापेक्षिक परिवर्तनों पर प्रतिक्रिया करना – हमें दृष्टि-उपकरण के हर विभाग में दिखायी देता है; यह सिद्धांत मितव्ययी है और श्रेष्ठ (इष्ट-तम) है।

दृष्टि-तंत्र के सभी स्तरों के लिये मुख्य है – क्षेत्रों का सिद्धांत। इससे हमारा अक्सर वास्ता पड़ता रहेगा। उदाहरणार्थ, गुच्छिकीय कोशिकाओं के भी क्षेत्र होते हैं, जिनका प्रथम अवलोकन अमरीकी शरीरलोचक हैल्डन हार्टलाइन ने
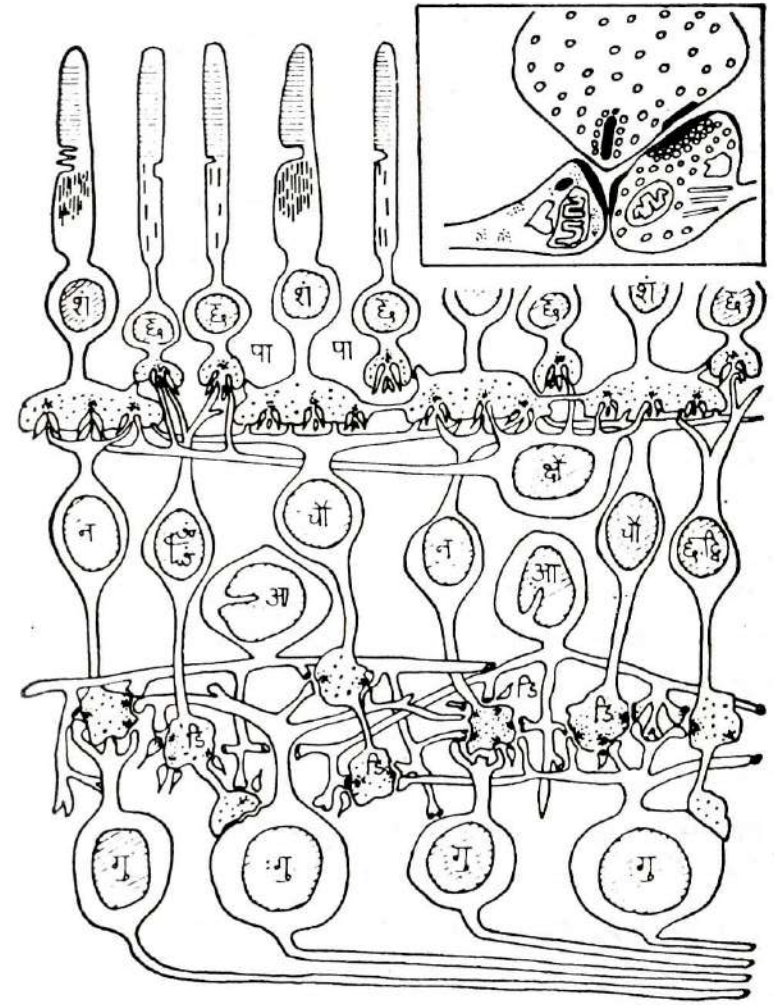
रेटीना की बनावट (आरेख): शं – शंकु, छ – छड़, पा – – पादिका (प्रकाशग्राहित्रों की), क्षै – क्षैतिज कोशिकाएं, न – नन्ही द्विध्रुव कोशिकाएं, छ. द्वि. – छड़नुमा द्विध्रुव कोशिकाएं, चौ – चौरस द्विध्रुव कोशिकाएं, आ – आमाक्रीनी कोशिकाएं, डि – डिओडी सिनाप्स, गु – गुच्छिकीय कोशिकाएं (रेटिना में सूचना संसाधन के अंतिम चरण; इन कोशिकाओं के रेशे ही दृष्टि-नर्वों के आक्सोन हैं)।

किया था ; बाद में इन्हें नोबेल पुरस्कार भी मिला। 1932 में वे मेढ़क की रेटीना का अन्वीक्षण कर रहे थे, उन्हें यह देख कर आश्चर्य हुआ कि उसके दृष्टि-नर्व का हर रेशा किसी एक से नहीं, बल्कि कई प्रकाश-ग्राहित्रों से प्राप्त संकेत वहन करता है। कुछ रेशे (संचार-चैनेल) संकेत प्रेषित करते थे, जब उनसे संलग्न क्षेत्र पर प्रकाश पड़ता था। दूसरे रेशे इसके विपरीत अंधेरा होने पर टेलीग्राम करने लगते थे। हार्ट-लाइन ने प्रथम प्रकार के रेशों का नाम रखा 'औन' और दूसरे प्रकार के रेशों का—'औफ'। ये नाम अब सर्वमान्य हो चुके हैं।

कोई पचीस वर्ष बाद अमरीका के ही शरीरलोचक जे. लेटविन, एच मैंटूराना, डबल्यु. मैक-कुलोक और डबल्यु. पिट्स ने मेढ़क की रेटीना में ऐसी कोशिकाओं की खोज कीं, जो अबतक अज्ञात थीं; इन वैज्ञानिकों ने उनका नाम अनु-वेदक (डिटेक्टर) रखा। ये न्युरोन चित्र के विशेष गुणों पर ही प्रतिक्रिया करते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ अनुवेदक वस्तु की किनारी पर प्रकाशमान और अंधेरे भागों के बीच की सीमा--रेखा पर ही प्रतिक्रिया करते हैं। दूसरे अनुवेदक तभी उद्दी-पित होते हैं, जब यह सीमा-रेखा गतिमान होती है, अन्यथा शांत रहते हैं। तीसरे अनुवेदक यह बताते हैं कि मेढ़क के दृष्टि-क्षेत्र में कोई नन्ही-सी काली वस्तु गतिमान है—कोई शिकार है, शायद मक्खी। जैसे ही वह निकट आती है (दूरी मापना भी विशेष अनुवेदकों का काम है), मेढ़क फौरन इस 'गतिमान वस्तु' पर आक्रमण करता है। ठीक वैसी ही मक्खी यदि निश्चल पड़ी होगी, तो मेढ़क उस पर आक्रमण नहीं करेगा। यदि चारों ओर खाने लायक मक्खियों की भरमार
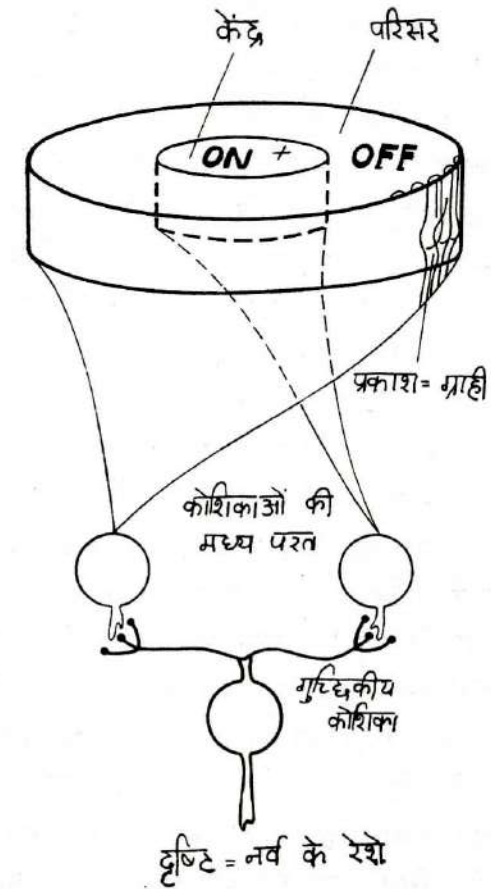
आदमी (तथा बंदर, कुत्ते, बिल्ली आदि उच्च जंतुओं) की रेटीना में प्रकाशग्राहित्रों का और उनके साथ दृष्टि-नर्वों के संबंध का आरेख।

रहेगी, लेकिन वे निश्चल बैठी रहेंगी, तो मेढ़क भूखों मर जायेगा। इस तरह, मेढ़क की आँखें कुछ ज्यादा ही विशिष्ट ज्ञान कराती हैं, लेकिन उनमें समझदारी बिल्कुल नहीं होती। वे मस्तिष्क को वस्तु के कुछ गुणों के बारे में सूचनाएं भेजती

11—1646

हैं और स्वचल रूप से निष्कर्ष भी दे देती है, जैसे: नन्ही वस्तु आ रही है – हमला करो, बड़ी वस्तु है – भागो, आदि।

उच्च-संगठित जंतुओं की आँखें (और उनमें भी आदमी की) इस तरह के पूर्व-निष्कर्ष नहीं देतीं। वे मस्तिष्क को चित्र-संबंधी सूचनाएं देती हैं, वे सूचनाओं के ग्राहक व प्रेषक का काम करती हैं, कमांडर का नहीं। इसीलिये मेढ़क की आँख के अध्ययन से प्रश्न ज्यादातर उत्पन्न ही हुए, हल नहीं हुए। उससे स्तनपायी जीवों तक का संक्रमण-सेतु ज्ञात नहीं हो पाया। प्रथम प्रयोगों से ही स्पष्ट हो गया कि व्योम में भलिभाँति दिग्ग्रह की क्षमता रखने वाले हिंसक पशु – बिल्ली – की आँख बिल्कुल दूसरी तरह से बनी है।

पहली बात तो यह है कि गुच्छिकीय कोशिकाओं के क्षेत्र कुछ और ढंग के दिखते हैं – वे इकहरे नहीं, दुहरे हैं। हर क्षेत्र एक भीतरी वृत्त – औन- या औफ-केंद्र – तथा बाहरी (परिसरीय) वृत्त – विपरीत कार्य वाले हिस्से – से बना है। इस तरह के क्षेत्र चित्र की परिरेखा को स्पष्ट कर सकते हैं, उन हिस्सों के बीच भी विपर्यास दिखा सकते हैं, जिनकी चमक लगभग समान होती है, आदि। यह सब हार्टलाइन 1959 में ही सिद्ध कर चुके थे। अब स्पष्ट हो गया कि ऐसे हिस्सों की सीमा-रेखा पर हमें पतली अंधेरी गोट – माख (Mach) की पट्टी – क्यों दिखती है: उन्हें हमारा दृष्टि-उपकरण 'कुछनहीं' से रच लेता है, क्योंकि उसकी बनावट ही ऐसी है।

सजीव प्राणियों के लिये यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि रेटीना परिरेखाओं को विभेदित कर सकती है। उनमें वस्तु के बारे में सबसे सारगर्भित सूचनाएं निहित होती हैं। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि रेटीना का काम यहीं पर समाप्त
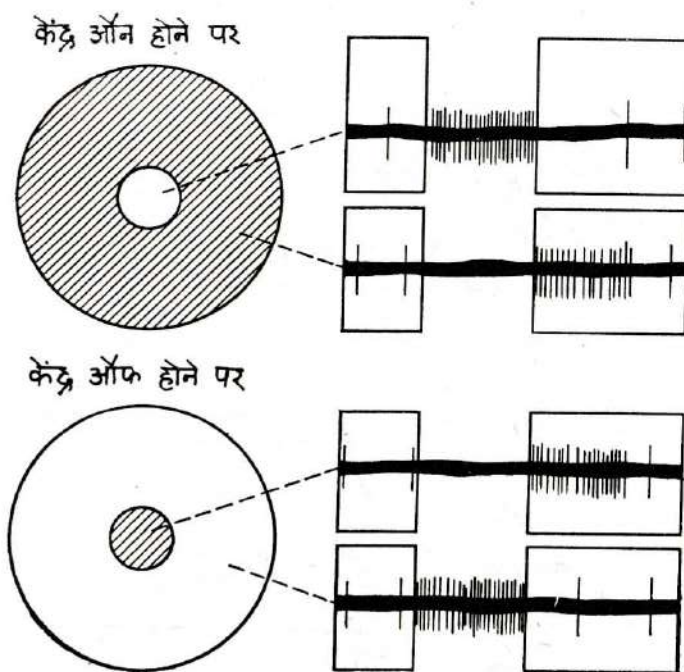
रेटीना की कोशिकाओं द्वारा प्रकाशग्राहित्र-क्षेत्र से आगत संकेतों का संयोजन-कार्य।

हो जाता है। यह तो काम की शुरुआत है; आगे कई-एक स्टेशन हैं, जिनमें से एक – बाह्य जानुल पिंड – का नाम पहले भी लिया जा चुका है। वह दृश्य-संकेतों के रूपांतरण में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। लेकिन इसके बारे में बात शुरू करने से पहले थोड़ा-सा विषयांतर आवश्यक है।

चित्रों में लोगों की आँखें तरह-तरह से देखती हैं – चिंतामग्न, खुशी से या दुखी हो कर, कड़ाई से या चालबाजी से, आदि। हम उनकी निश्चलता पर ध्यान नहीं देते, वैसे ही, जैसे अपनी आँखों की अनवरत चंचलता पर। मेरा
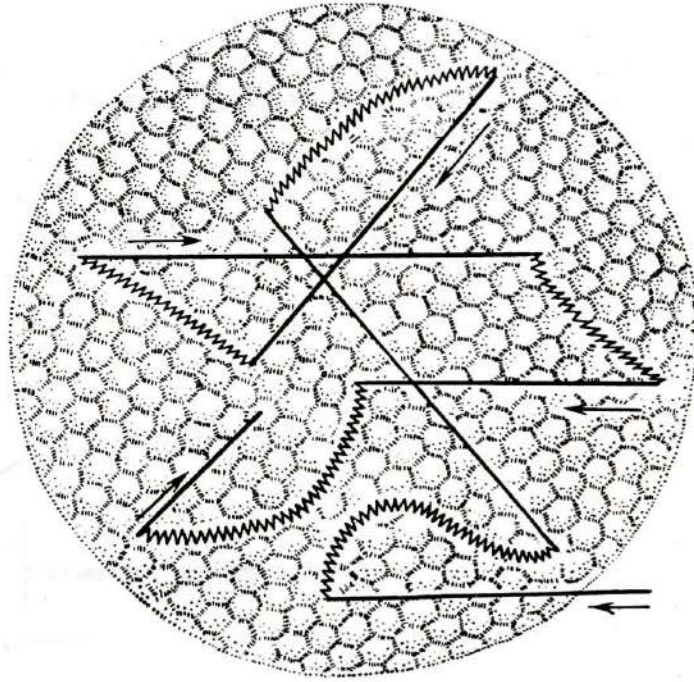
आँखों की सूक्ष्म गतियों (उच्चावत्तिक कंपन और साक्काडिक छलांगों) के कारण ही हम देखने में समर्थ होते हैं।

मतलब आँख की उस गति से नहीं है, जिससे वह चित्र के सूचना-प्रधान हिस्सों को विभेदित करती है। अन्य गतियां भी हैं, जो हमारी इच्छा-शक्ति के अधीन नहीं होतीं; उनका संचालन असंभव होता है। उन्हें रोकना भी संभव नहीं होता, आप दृष्टि को एक बिंदु पर स्थिर करने की कितनी भी कोशिश क्यों न करें।

पेशियां नेत्र-गोलक को पूर्ण विश्राम की अवस्था में रोक कर नहीं रख सकतीं। यही नहीं, उनका काम ठीक उल्टा

है: उसमें सतत सूक्ष्म कँपकँपी (ट्रेमर) उत्पन्न करती हैं, जिसकी आवृत्ति करीब 100Hz (हेर्ट्स) है (यह औसत मान है, जो 30 से 150Hz की सीमाओं में होता है)। कँपकँपी या कंपन का आयाम नगण्य होता है – करीब 20-40 कोणिक सेकेंड। यदि आँख एक पतली रेखा को देखती है, तो वह केंद्रीय खातिका के एक प्रकाश-ग्राहित्र से निकटस्थ दूसरे पर ही उछल कर आती है, इससे आगे नहीं, लेकिन वहां एक वर्ग मिलिमीटर में ही उनकी संख्या करीब 50 हजार होती है... दूसरे प्रकार की गति है – बहाव, अर्थात् दृष्टि का धीमा एवं संतत स्थानांतरण (बिना छलांगों के)। कोणिक मापों में इसकी लंबाई तीन से तीस मिनट तक हो सकती है। तीसरे, बहाव की प्रक्रिया हठात् सूक्ष्म छलांगों (मिक्रो-साक्काड) में बदल जाती है: दृष्टि धीरे-धीरे बहती है और अचानक उछल कर कुछ बगल में आ जाती है, जहां से पुनः बहाव शुरू हो जाता है। इन गतियों के भी आयाम अधिक बड़े नहीं होते, बहाव के क्रम के ही होते हैं। इसीलिये रेटीना की केंद्रीय खातिका पर प्रक्षिप्त बिंदु सबसे बड़ी सूक्ष्म छलांग के बाद भी उसकी सीमा से बाहर नहीं निकलेगा। और अंत में, आँख एक सेकेंड में चार बार बड़ी साक्काडिक छलांगें भी लगा लेती है, जिनका हमें पता नहीं रहता (यह संख्या भी औसत ही है: इन छलांगों के बीच का अंतराल सेकेंड के तीन शतांश से लेकर दो सेकेंड के बराबर तक हो सकता है; ध्यानमग्नता और रागात्मकता भी अपना प्रभाव डालती हैं)।

ये गतियां किस लिये होती हैं? यह स्पष्ट करने के लिये एलेक्ट्रोनी कंपलेखी के सामने छात्रों को बिठाया गया (शरी-

रलोचकों के ये प्रिय प्रयोग-वस्तु हैं!)। स्क्रीन पर किरणें एक सरल रेखा खींचती हैं, जिसपर एक पहाड़नुमा तीछ वक्र एक लय में प्रकट होता रहता है। उसे सभी देखते हैं, लेकिन उसका जन्मदाता उसे नहीं देख पाता। उसकी आँख की पेशियों में प्रयोग करने वाले वैज्ञानिक ने अपवाही एलेक्ट्रोड लगा रखे हैं, अर्थात् उसने त्वचा के आवश्यक बिंदु पर महीन तार चिपका दिये हैं। हर बार जब पेशियों के रेशों में साक्काडिक छलांग के लिये संकोचन होता है, उनमें एक वैद्युत संकेत भी उत्पन्न होता है। यह सभी पेशियों का गुण है। तार इस संकेत को ग्रहण करते हैं, उसे प्रवर्धक प्रयुक्ति में भेजते हैं, जिससे पर्दे पर पर्वतीय शिखर उत्पन्न होता है। जिस आदमी की कृपा से वह उत्पन्न होता है, वह उसे देख नहीं पाता। उसे विश्वास दिलाना ही असंभव होता है: उसे लगता है कि बाकी लोग मिल कर उसे ठग रहे हैं।

इसका मतलब है कि साक्काडिक छलांग के क्षण हम अंधे होते हैं? लेकिन आदमी की, या बिल्ली की ही आँख के प्रति सेकेंड कई-कई बार अंधी होने का क्या तुक है?

इसका उत्तर बाह्य जानुल पिंड की कोशिकाओं के अध्ययन से प्राप्त हुआ। दोनों गोलार्धों में एक-एक बाह्य जानुल पिंड रेटीना से वृहत गोलार्ध के पश्च वल्कुट तक दृश्य संकेतों के पथ पर स्थित होता है। एक जमाने में यह सोचा जाता था कि बाह्य जानुल पिंड (संक्षेप में: बा. जा. पि.) एक तरह से प्रवर्धक-केंद्रों का काम करते हैं, जैसे कि महासागर पार जाने वाले केबुलों में संकेतों को प्रवर्धित करने के लिये लगाये जाते हैं। यह संभाव्य है, लेकिन प्रश्न उठता है कि अन्य नार्विक परिपथों में ऐसे केंद्र क्यों नहीं हैं? एक अन्य

परिकल्पना अस्तित्व में आयी: बा. जा. पि. संकेतों को प्रवर्धित नहीं करता, सिर्फ उनकी शक्ति को नियंत्रित करता है; इसीलिये तो प्रकाशिता में दस लाख गुना परिवर्तन होने पर भी दृश्य तंत्र काम करता रहता है। लेकिन यह परिकल्पना तब प्रस्तुत की गयी थी, जब रेटीना की कोशिकाओं का कार्य स्पष्ट नहीं हुआ था (ये कोशिकाएं नर्व-परिपथ में प्रकाश-ग्राहित्रों और गुच्छिकीय कोशिकाओं के बीच स्थित हैं)। स्पष्ट होते ही यह परिकल्पना बेकार सिद्ध हो गयी। "आदमी में सूचना-संसाधन" नामक पुस्तक में इसके बारे में यही लिखा है: मस्तिष्क के इस क्षेत्र की सुव्यवस्थित संरचनाओं की रहस्यमय भूमिका।

सचमुच, जब न्युरोनों का संकेत अपवहन करने वाले सूक्ष्म एलेक्ट्रोड यहां उतारे जाते हैं, तो अन्वीक्षक को ऐसे क्षेत्र नजर आते हैं, जिनके केंद्र 'औन' या 'औफ' कार्य करते हैं और परिसर उसका विपरीत कार्य करते हैं, ठीक वैसे ही, जैसे गुच्छिकीय कोशिकाओं के निकास-स्थल पर। क्या एक ही चीज दुहरा कर बन गयी है? नहीं, प्रकृति में ऐसी बातें नहीं होती हैं।

"प्रयोग बहुत ही समझदारी से किये गये थे, लेकिन असली बात उनकी रीति में नहीं बल्कि उनके परिणामों में है,"–यह प्रयोगशाला में मुझसे जीवलोचनी विज्ञानों के डाक्टर निकीता पोव्दीगिन ने कहा था। परिणाम ये हैं: "हमने सिद्ध किया है कि बा. जा. पि. में दृश्य-नर्व के सहारे प्रेषित 'औन-औफ क्षेत्रों' का 'स्क्रीन' स्पंदी प्रकृति ग्रहण कर लेता है। ये स्पंदन उसी आवृत्ति से होते हैं, जिससे नेत्र-गोलक में साक्कादिक कंपन होते हैं।"

यह सब निम्न प्रक्रिया से होता है। छलांग के तुरंत बाद हर क्षेत्र का व्यास काफी बड़ा होता है। इसके बाद वे तेजी से घटने लगते हैं और 0.04-0.07 सेकेंड बाद वे सिकुड़ कर नन्हे बिंदुओं में परिणत हो जाते हैं। क्षेत्र का आकार कभी-कभी 250 गुना सिकुड़ जाता है। ये बिंदु सेकेंड के कुछेक शतांश तक रहते हैं, फिर अचानक तेजी से फैलने लगते हैं; उनका व्यास तबतक बढ़ता रहता है, जबतक कि उनकी सीमा अस्पष्ट तथा अनिश्चित रूप से बड़ी नहीं हो जाती। इस क्षण से अगली छलांग तक दृष्टि मस्तिष्क के उच्च विभागों को कुछ भी प्रेषित नहीं करती।

रेटीना की गुच्छिकीय कोशिकाओं के ही क्षेत्रों की तरह बा. जा. पि. के न्युरोनों के भी क्षेत्र परिरेखा को या कम से कम चित्र के प्रकाशमान एवं अंधेरे क्षेत्रों की सीमा को पहचानने की क्षमता रखते हैं। इसलिये साक्काडिक छलांग के बाद प्रथम क्षण में बा. जा. पि. का 'स्क्रीन' उच्च विभागों को सिर्फ बहुत निकटवर्ती सूचनाएं ही भेजने की क्षमता रखता है, जिनसे चित्र की सीमाओं और परिरेखाओं को मोटा-मोटी पहचान लिया जा सके। इसके बाद क्षेत्रों के सिकुड़ने के साथ-साथ बिंब में उसके विवरण प्रकट होते हैं, जिनका आकार घटता जाता है। और जब चित्र से महत्तम सूचनाएं निकाल ली जाती हैं, तब अनुभूति समाप्त हो जाती है, क्षेत्र विघटित हो जाते हैं और अगली साक्काडिक गति तक के लिये अस्पष्ट हो जाते हैं। दो छलांगों के बीच दृष्टि-वल्कुट बा. जा. पि. से प्राप्त सूचनाओं का संसाधन करता है। इसके बाद विश्लेषण का नया चक्र आरंभ होता है। अनुभूति की चक्रीयता किसी भी कंप्युटर के कार्य की चक्रीयता जैसी ही

है। नयी सूचना प्राप्त करने के लिये पुरानी सूचना अल्पकालीन स्मृति से मिट जाती है (अगली छलांग के वक्त), जिससे नयी सूचनाएं पुरानी के साथ गड्ड-मड्ड नहीं होतीं। छलांग के वक्त देखने की आवश्यकता नहीं होती, ताकि बिंब हिले-डुले नहीं; इसीलिये इस क्षण आँख अंधी हो जाती है। प्रकृति ने दृष्टि उपकरण कितना सोच-समझ कर बनाया है (यदि प्रकृति के बारे में ये शब्द कहे जा सकते हैं) – इस पर हम आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सकते।

एक बात बहुत महत्त्वपूर्ण है: बा. जा. पि. के स्क्रीन के क्षेत्रों का सिकुड़न-स्तर रेटीना की प्रकाशिता पर, प्रकाश के कुल प्रवाह पर निर्भर करता है। मद्धिम लालटेन के प्रकाश में दृष्टि आस-पास के नन्हे विवरणों में सिद्धांततः भेद नहीं कर पाती: क्षेत्र बहुत बड़े होते हैं। यदि तेज बल्ब लगा दिया जाये, तो? घड़ी और रेडियो के मिस्त्री काम करने की मेज पर तेज लैंप ही रखते हैं। ट्रैफिक इंस्पेक्टर यही कहेंगे कि सड़क पर प्रकाश अच्छा होने पर दुर्घटनाएं कम होती हैं। मुख्य इंजिनियर कहेंगे कि अच्छा प्रकाश होने से कारखाने में दुर्घटनाएं कम हो जाती हैं, श्रम की उत्पादन-शक्ति बढ़ जाती है। इन सब का कारण यह है कि अधिक प्रकाश में "स्पंदमान क्षेत्र" तेजी से सिकुड़ते हैं और जब दृष्टि स्पष्ट होती है, तो हाथ भी विश्वास के साथ काम करते हैं।

बा. जा. पि. के क्षेत्रों की कृपा से बिंब एक तरह से अनेक छन्नों द्वारा छन कर दृष्टि-वल्कुट में पहुँचते हैं: एक में सिर्फ बड़े-बड़े 'पत्थर', अर्थात् चित्र के बड़े-बड़े खंड रुकते हैं, दूसरे में कुछ छोटे, और अंत में सिर्फ महीन 'रेत'। इससे

क्या निष्कर्ष निकलते हैं? ढेर सारे! लेकिन उन्हें ठीक-ठीक समझने के लिये पहले कुछ देर एक रोचक समस्या पर विचार करें।

देखिये: टेबुल पर करीब सौ स्त्री-पुरुषों के चित्र पड़े हैं। उन्हें अलग-अलग करना है। काम बस दो मिनट में पूरा हो जाता है और बायीं गड्डी में पुरुषों के चित्र आ जाते हैं और दायीं में स्त्रियों के। अब आप अपने से पूछिये: किन लक्षणों के आधार पर ये चित्र अलग-अलग छाँटे गये हैं? किन चिन्हों से हम निर्धारित करते हैं कि यह पुरुष का चेहरा है और यह स्त्री का? छाँटने का आधार था तो जरूर लेकिन क्या हम उसे ठीक-ठीक परिभाषित कर सकते हैं? अभी, इसी क्षण नहीं, कल, या एक सप्ताह बाद ही?..

मैं इमानदारी से सलाह देता हूँ कि इसकी कोशिश न करें। कंप्युटर-तकनीक के हजारों अच्छे-अच्छे विशेषज्ञ इस प्रश्न से टक्कर ले चुके हैं। बात समझ में आने वाली भी है। 'पुरुष', 'स्त्री', 'कुर्सी', 'टेबुल' आदि जैसे सामान्यकृत बिंबों को शब्दों में परिभाषित करना इतना कठिन काम है कि इसे आप असंभव भी कह सकते हैं। कारण यह है कि ये बिंब दृश्य-विविक्तियां हैं। और विविक्तियों (अमूर्त्तिकरण) से सम्हल कर रहना चाहिये। फ्रिड्रिख एंजेल्स ने पराभौतिकविदों की चालाकी को उनकी अतिस्वैच्छिक तार्किक संक्रियाओं से ही पकड़ा था: "पहले तो वे स्पृश्य वस्तुओं से निष्कर्षित कर के विविक्तियां रचते हैं, फिर इन विविक्तियों को प्रत्यक्ष स्पर्शादि विधि से जानने की इच्छा करते हैं, समय और व्योम को गले लगाना चाहते हैं... यह ठीक हेगेल द्वारा निर्दिष्ट कठिनाई जैसा ही है कि हम बेर और आड़ू निश्चय ही खा सकते हैं, लेकिन फल नहीं खा सकते, क्योंकि अपने-आप में फल अभी तक किसी ने नहीं खाया है।" इसलिये जब हमारे कंप्युटर-युग में इंजिनियर लोग एलेक्ट्रोनी मस्तिष्क में दृश्य-विविक्तियों की शाब्दिक (तार्किक) परिभाषा भरने की कोशिश कर रहे थे, तो उनका असफल होना स्वाभाविक ही था।

खास आदमियों के चेहरों के शाब्दिक वर्णन कुछ ज्यादा सफल रहे हैं, लेकिन उनका उपयोग (और उनकी रचना) आदमी ही कर सकते हैं, मशीनें नहीं। पिछली शती में ही पेरिस पुलिस में अपराधी पहचान-विभाग के अध्यक्ष आलफोंस बेर्टिलिओन ने शाब्दिक चित्र के सिद्धांत विकसित किये जो आज भी प्रयुक्त होते हैं।

भूतपूर्व अपराध-अन्वीक्षक और लेखक लेव शेइनिन एक कहानी में एक सच्ची घटना याद करते हैं: "यानाकी का शाब्दिक चित्र प्राप्त करने के लिये मैंने साक्षियों के बहुत बड़े ग्रुप से पूछताछ की... उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म लक्षण ज्ञात किये जिससे निम्न चित्र प्राप्त हुआ: यानाकी का कद मध्यम है, शरीर का गठन कुछ मोटा है, चेहरा अंडाकार है, ललाट नीचा और दोनों तरफ से तिर्यक है, भौंहें मेहराबी हैं, बीच में वे आपस में कुछ मिलती सी हैं, थोड़ी लाल-भूरी हैं। नाक लंबी है, उस पर बीच में कूबड़ जैसा है, आधार पर कुछ पसरी हुई है। मुँह की लंबाई मध्यम है, होठ मोटे हैं, निचला होठ कुछ लटका रहता है; होठों के कोने नीचे को झुके हैं। ठुड्ढी कुंद और दुहरी है, कान थोड़ा अलग निकले हुए त्रिभुजाकार हैं, हल्की सूजी आँखें हरी-सी हैं, बाल लाल-भूरे हैं।" देख रहे हैं कि चित्र कितना सजीव है! सरल

व शुद्ध शब्दों की सहायता से आदमी का बिंब आँखों के सामने नाचने लगता है। इस तरह की परिभाषाओं की "शुद्धता" मापक उपकरणों के पठनों से निश्चय ही बहुत दूर है, लेकिन इनके आधार पर, यदि आप चित्रकार हैं, यानाकी का चित्र बना ले सकते हैं। बेशक, यदि नाक एक आदमी के चेहरे पर लंबी है, तो वही नाक दूसरे के चेहरे पर सामान्य हो सकती है या तीसरे के चेहरे पर छोटी भी हो सकती है, इसलिये शाब्दिक चित्र बनाना भी एक कला ही है। इसके लिये अपराध-विशेषज्ञों को अभ्यास करना पड़ता है, ठीक उसी तरह, जैसे भूलोचक नीले, नीले-लाल, नीले-भूरे खनिजों को पहचानने का अभ्यास करते हैं।

लेकिन यदि साक्षी शाब्दिक चित्र बनाने में माहिर नहीं है, वह इसके विशेष शब्दों को नहीं जानता (अधिकांशतः ऐसा ही होता है), यदि उसने अपराधी को सिर्फ क्षण भर के लिये देखा है, या यदि डर के मारे उसके मानस पर सिर्फ सामान्य लक्षण बचे हैं, तो? इस स्थिति में रोबट-चित्र का उपयोग होता है। पुलिस की फाइल में अनेक पोजिटिव एकत्र रहते हैं, जिनमें नाना प्रकार के कान, नाक, मुँह, दाढ़ी, चेहरे की पर्याकृति, बाल की कटिंग आदि अलग-अलग बने होते हैं। इन्हीं को जोड़-जोड़ कर चित्र बनाया जाता है और साक्षी देख-देख कर बताता जाता है:

"नहीं, चेहरा कुछ चौड़ा था... नहीं, थोड़ा और चौड़ा... बस अब ठीक है। लेकिन बाल इतने लंबे नहीं थे।..."

बेशक, इसमें पूरे विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता कि रोबट (पर्दे पर जोड़-जोड़ कर बनाया गया चेहरा) अपराधी का बिल्कुल शुद्ध बिंब देता है, लेकिन इससे सुराग तो

मिल ही जाता है। एक और प्रश्न उठता है: क्या इस तरह के चित्र बनाने की प्रक्रिया के अध्ययन से उन लक्षणों की, उन निकषों की खोज हो सकती है, जिनका उपयोग आदमी चेहरा पहचानने में अचेतन रूप से करता है?

अमरीकी शरीरलोचक लेओन डी. हार्मोन ने कुछ प्रयोग किये। एक अनुभवी अपराध-विशेषज्ञ चित्रकार ने 'खोज किये जाने वाले' व्यक्तियों को अच्छी तरह जानने वाले 'साक्षियों' के निर्देश पर उनके चित्र बनाये। इसके बाद चित्रकार ने इन चित्रों की तुलना फोटो-चित्रों से की और सरसरी निगाह से दिखने वाले अंतरों को लिख लिया: "होंठ कुछ और मोटे होने चाहिये, कान कुछ और दबे हुए हैं, चेहरा कुछ और गोल है..." चित्रों और शाब्दिक सुधारों को लेकर एक अन्य अपराध-विशेषज्ञ चित्रकार ने (जिसने अबतक प्रयोग में भाग नहीं लिया था) एक अन्य रोबट-चित्र बनाया। इसके बाद प्रदर्शनी लगायी गयी।

साक्षियों ने साश्चर्य स्वीकार किया कि उनके कथनानुसार बने चित्र वास्तविकता से बहुत दूर थे। लेकिन वास्तविकता से विचलन के मूल्यांकन-कार्य में शब्द अधिक शुद्ध निकले: दूसरे चित्रकार द्वारा चित्रों को सबों ने वास्तविकता से निकट माना। फिर भी पहचान की 90 प्रतिशत से अधिक गारंटी देने वाले चित्र वे थे, जो फोटो चित्रों को देख कर बनाये गये थे: "सौ बार सुनने से एक बार देख लेना अच्छा होता है..."

तब अन्वीक्षक ने समस्या को दूसरे दष्टिकोण से देखना शुरू किया। उसने प्रश्न रखा: 'सीधे' चित्र का वर्णन करने से स्पष्ट परिणाम नहीं निकलता; ऐसा तो नहीं है कि उनमें जरूरत

से अधिक विवरण होते हैं, और वह भी गौण प्रकार के, जिससे बिंब की संपूर्णता विकृत हो जाती है? शायद शैलीकृत चित्र, बड़े-बड़े धब्बों से बने चित्र दर्शक का ध्यान चित्र के महत्त्वपूर्ण सूचनाप्रधान विवरणों तक सीमित रखें? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिये दीवार रंगने की मोटी कूचियों से चित्र बनाने का निश्चय किया गया।

रंगने का काम टेलीवीजन और कंप्युटर को सौंपा गया। आखिर टेलीवीजन के पर्दे पर चित्र क्या है? ये विभिन्न चमक वाले बिंदे हैं, जो पंक्तियों में विशेष प्रकार से मिल कर चित्र बनाते हैं। हरेक की चमक को नापा जा सकता है और संख्या में व्यक्त किया जा सकता है – सबसे चमकदार बिंदे को 100 और सबसे काले को 0 मान कर। हर बिंदे का अपना पता होगा: पंक्ति की क्रमसंख्या और किसी एक किनारी (बायीं या दायीं) से उसकी दूरी (अर्थात् स्तंभ की क्रमसंख्या)। चमक व्यक्त करने वाली संख्या के साथ ये दो संख्याएं कंप्युटर की स्मृति में अभिलेखित कर दी जाती हैं। अब चित्र संख्याओं के एक लंबे स्तंभ में परिणत हो जाता है, जिसे किसी भी क्षण चित्र में बदला जा सकता है; इसके लिये चेहरे के गणितकरण की विपरीत संक्रिया संपन्न करनी पड़ेगी।

असली काम यहीं से शुरू होता है। चित्र पर एक जाली रख दी गयी, जिसमें 400 वर्ग बने थे (20 पंक्तियों और 20 स्तंभों का मातृक्स)। फिर कंप्युटर को आज्ञा दी गयी: "हर वर्ग की सीमा में आने वाले बिंदुओं का पता तुम्हारे पास है, उनकी औसत चमक ज्ञात करो और उससे पूरे वर्ग को रंग दो; पर्दे पर दिखाओ।"

इस तरह बड़े-बड़े ब्लौकों (वर्गों) के मोजेक से बना चित्र

स्क्रीन पर प्रकट हुआ... नहीं, यह कोई चित्र नहीं लगता था, बस, अलग-अलग चमक के ईंट बेतरतीबी से लगे थे। लेकिन इसके बावजूद भी प्रयोगाधीन व्यक्तियों को उसमें आदमी का चेहरा नजर आ जाता था और वे टेबुल पर बिखरे फोटो-चित्रों में उसे अवश्य ढूंढ़ लेते थे (उल्लेखनीय है कि उन्हें बिल्कुल अपरिचित आदमी का चित्र दिखाया जाता था)। यदि वे अंदाजी टक्कर से फोटो-चित्र चुनते होते, तो उनके सही होने की संभाव्यता दस लाख प्रयत्नों में सिर्फ चार से अधिक नहीं होती, अतः सही चयन को मात्र संयोग नहीं माना जा सकता। तो क्या इसका मतलब है कि आदमी की दृष्टि बेडौल मोजेक को फोटोग्राफी के सूक्ष्म और सुडौल रूप में परिणत करने की क्षमता रखती है? या उल्टा, हमारी स्मृति में चेहरे की सूक्ष्म लकीरें ब्लौकों से बने चित्र के रूप में अंकित होती हैं? या...?

जो हो, यदि हम ब्लौकों से बने चित्र को कुछेक कदम की दूरी से या आँखों को कुछ सिकोड़ कर देखेंगे, तो हमें फोटो-चित्र से मिलती-जुलती चीज ही दिखयी देगी। ऐसी कायापलट का कारण क्या है? इसके बारे में बताने के लिये फुरिये (Fourier) की शृंखला की याद दिलानी होगी।

1820 में फ्रांसीसी गणितज्ञ फुरिये ने एक अमर-कृति रची: "ताप का वैश्लेषिक सिद्धांत"। वाष्पचालित मशिनों का उद्योग में कस कर उपयोग होने लगा था और इंजिनियरों को ताप-प्रेषण के एक सिद्धांत की आवश्यकता थी; फुरिये ने इसी को रचा था। बाद में पता चला कि फूरिये ने जो "गणितीय कमीज" सीयी थी, वह वैद्युतकर्मियों तथा हजारों अन्य

पेशे के लोगों के भी काम आ सकती थी, यहां तक कि मनोलोचकों और शरीरलोचकों के भी।

उनके सूत्रों की व्यापकता सांयोगिक नहीं थी। तापीय गति दर-असल सामान्य गति का ही एक विशेष रूप है। गणितीय उपकरण समान शुद्धता से तारों के कंपन का भी वर्णन कर सकते हैं, नलियों में ताप के प्रसार का भी, गाड़ियों में लगे स्प्रिंगों के कंपन, लहरों पर झूलते विशाल जहाजों और तारों के बीच शांति से चांद की ओर उड़ते राकेट की गति का भी, हृदय की धड़कनों का भी...

दोलक के दोलन ग्राफ पर एक सतत वक्र – ज्यावत वक्र (या सिर्फ ज्यावक्र) – के रूप में अंकित किये जाते हैं। शरद के थरथराते पत्ते का अनियमित कंपन अनेक सरल (नियमित) कंपनों का, अर्थात् विभिन्न ज्यावक्रों का योग है, जो आयाम और आवृत्ति में भिन्न होते हैं। फुरिये ने सिद्ध किया कि कोई भी जटिल दोलन, चाहे उसका ग्राफ कितना भी विचित्र क्यों न हो, सरल ज्यावक्रों के अनंत संकल (योगफल) में परिणत किया जा सकता है (निश्चित क्रम में आने वाली संख्याओं का अनंत संकल गणित में श्रृंखला कहलाता है)। इसके विपरीत, फुरिये के सूत्र के आधार पर चुने गये कई-एक सरल दोलनों को जटिल दोलनों में परिणत करना भी कठिन नहीं होगा, जिसकी हमें जरूरत है।

हमारे युग के वैज्ञानिकों के बीच इन रीतियों का विस्तृत उपयोग होता है। हमारे परिचित शरीरलोचक बेर्न्श्टेइन ने दुनिया में पहली बार यह सिद्ध किया कि आदमी के हाथ या पैर की गति भी 'फुरिये की भाषा' में वर्णित की जा सकती है (याद रखें कि हर हाथ या पैर अनेक संधियों

वाला सुचल चूल है)। उनके विचारों को आगे विकसित करते हुए उप्सल विश्वविद्यालय में कार्यरत स्विडिश वैज्ञानिक योहांसन (Johanson) ने यह स्थापित किया कि फुरिये के सूत्रों से नृत्य भी व्यक्त हो सकते हैं: नर्त्तक की गति अपघटित करने वाली श्रृंखला जितनी ही लंबी होगी, नृत्य में उतने ही अधिक छोटे-छोटे विवरण होंगे, वह उतना ही अनुपम होगा।

अब पुनः ब्लौकों से बना चित्र देखें। इसकी हर पंक्ति में वर्गों की चमक के बारे में क्या कहा जा सकता है? यही कि उनमें भी किसी प्रकार के दोलन उपस्थित हैं (व्यापक अर्थ में दोलन किसी भी प्रकार के आवर्ती परिवर्तनों को कहते हैं – अनु.)। तात्पर्य यह है कि फुरिये की श्रृंखला का उपयोग यहां भी हो सकता है। लेकिन यहां हम आवृत्ति को हेर्ट्स में नहीं नापेंगे; जैसा वैद्युतकर्मी तथा रेडियो-तकनीशियन करते हैं। हम उसे शरीरलोचकों की तरह 'चक्र प्रति डिग्री' नामक इकाइयों में नापेंगे। इसका अर्थ निम्न है। मान लें कि हम चित्र को ऐसी दूरी से देख रहे हैं कि एक पंक्ति आँख पर एक डिग्री का कोण बनाती है। यदि एक पंक्ति में प्रकाश और अंधेरे के दस उतार-चढ़ाव, दस आवर्त या चक्र मिलते हैं, तो हमारे सामने व्यौम आवृत्ति होगी : 10 चक्र/डिग्री (चक्र प्रति डिग्री)।

ब्लौक-चित्रों की अल्पतम व्यौम आवृत्ति स्पष्ट है कि शून्य होगी – चमक में किसी भी प्रकार के परिवर्तन की अनुपस्थिति। यदि पंक्ति दृष्टि-क्षेत्र में ठीक एक डिग्री का कोण बनायेगी, तो अगली आवृत्ति 1 चक्र प्रति डिग्री होगी, अर्थात् आधी पंक्ति प्रकाशमान होगी और आधी अंधेरी। इस तरह किसी भी पंक्ति में आवृत्ति 10 चक्र प्रति डिग्री से

12—1646

अधिक नहीं हो सकती क्योंकि एक पंक्ति में सिर्फ बीस वर्ग हैं : प्रकाश और अंधेरे का संक्रमण दस से अधिक नहीं हो सकता। यह अधिकतम आवृत्ति है, जो दी हुई परिस्थितियों में (अर्थात् जब पंक्ति आँख पर एक डिग्री का कोण बनाती है) उपयोगी सूचना वहन करती है। उपयोगी : क्योंकि ब्लौक-चित्र में बहुत ज्यादा उत्क्रोश (शोर; सूचना-मार्ग में बाधक तत्त्व) होता है; ये वर्गों के बीच चमक के तीव्र उतार-चढ़ाव के कारण अपेक्षाकृत अधिक ऊँची आवृत्तियां हैं। फुरिये का विश्लेषण कहता है कि ये उतार-चढ़ाव और कुछ नहीं, अनंत बड़ी संख्या में विभिन्न दोलनों का संकल (योग) है, जिनके आयाम आवृत्ति में वृद्धि के साथ-साथ घटते जाते हैं। लेकिन अनंत तो सिर्फ सैद्धांतिक बात है : आयाम बहुत ही जल्द, दसवें ज्यावक्र पर ही, इतना नन्हा हो जाता है कि अक्सर उसकी उपेक्षा कर दी जाती है।

उत्क्रोश की व्यौम आवृत्तियां उपयोगी सूचना को दबा देती हैं। ऐसा तब होता है, जब (उदाहरणतया) हरिण घनी झाड़ियों के पीछे छिप जाता है : टहनियों और पत्तियों की छिटपुट अपनी उच्चावृत्तिक सिग्नलों से उसके धड़ की सूचना को दबा देती है, जिसकी व्यौम आवृत्ति कम होती है।

अब यदि बा. जा. पि. के स्क्रीन को स्मरण करेंगे, तो देखेंगे कि उसका काम वही था, जो टेलीवीजनी कैमरे से देखते वक्त कंप्युटर कर रहा था। बा. जा. पि. के स्पंदमान क्षेत्र यही काम करते थे कि चित्र को ढेर सारे बिंबों में छाँट देते थे – चलनी की तरह। स्पष्ट है कि हम छिपे हुए हरिण को नहीं देख पायेंगे, यदि सिग्नल के निम्नावृत्तिक घटक छोटे होंगे, उत्क्रोशित होंगे। सैन्य तकनीक (टैंक आदि) को छिपाने

की कला इसी सिद्धांत पर आधारित है : रंग-बिरंगे धब्बों के 'उच्चावृत्तिक' रंग मशीनों, गाड़ियों आदि की पर्याकृति को दबा देते हैं; छाताधारी सैनिकों के धब्बेदार कपड़े इसीलिये बनाये जाते हैं।

अब स्पष्ट हो जाता है कि ब्लौक-चित्र दूरी से देखने पर क्यों अधिक पहचानने लायक हो जाता है। इस स्थिति में रेटीना अधिक उच्च व्यौम आवृत्तियां प्रेषित करने में असमर्थ हो जाती है : प्रकाश-ग्राहित्र यद्यपि नन्हे होते हैं, उनकी अपनी माप होती है, अभिग्राही क्षेत्र और भी बड़े होते हैं, इसलिये प्रकाश का उतार-चढ़ाव (प्रकाश और अंधेरे का संक्रमण), जो ऐसे क्षेत्र पर पूर्ण रूप से आ जाता है, एक औसत चमक वाले क्षेत्र के रूप में अनुभूत होता है। उत्क्रोश कम हो जाता है, उपयोगी सूचना स्पष्ट हो जाती है।

और आँख सिकोड़ने से क्या होता है? यहां दूसरी प्रक्रिया चलती है। आँख सिकोड़ने पर पपनियां डायफ्राम का काम करने लगती हैं : वे रेटीना पर आने वाले प्रकाश की मात्रा को कम कर देती हैं। इसीलिये बा. जा. पि. के क्षेत्र बहुत ज्यादा नहीं सिकुड़ते। यह बात दृष्टि-उपकरण के उच्च विभागों के लिये उच्च व्यौम आवृत्तियों में कटौती, अर्थात्. उत्क्रोश में कमी के रूप में ग्रहण होती है। बा. जा. पि. की चलनी अपेक्षाकृत बड़ी कोष्ठिकाओं की सहायता से चित्र का विश्लेषण करती है, और चमक के उच्चावृत्तिक उतार-चढ़ाव दृष्टि द्वारा गृहित नहीं हो पाते; और जब उत्क्रोश नहीं होता, तो देखने का काम अपेक्षाकृत अच्छा हो जाता है।

मनन के लिये एक और तथ्य है। हमने बताया था कि चित्र को देखते समय आँख अधिकांशतः पर्याकृति के टूटन

या महत्तम वक्रता वाले खंडों पर टिकती है, जो अत्यधिक सूचनाप्रद होते हैं। संचार-सिद्धांत के विशेषज्ञ (टेलीफोनिस्ट आदि) तुरंत कहेंगे: इन खंडों पर अनेक उच्च व्यौम आवृत्तियां होती हैं, परिरेखा के खंड में जितनी ही तीव्र मोड़ होती है, आवृत्तियों का क्रम उतना ही लंबा होता है और उनमें उच्चावृत्तिक घटक उतने ही स्पष्ट होते हैं। कहीं इसी लिये तो नहीं पुतलियां इस स्थल को देर तक देखती हैं – दृष्टि-तंत्र इंतजार करता रहता है कि बा. जा. पि. की चलनी से होकर फुरिये के संकल-क्रम में विघटन के सबसे ऊँचे पद भी पार हो जायें? यदि हम किसी रीति से व्यौम आवृत्तियों की खिचड़ी में से सिर्फ अपने काम की आवृत्तियों को निकाल कर दृष्टि के समक्ष उपस्थित करेंगे, तो क्या इससे दृष्टि को सहायता नहीं मिलेगी?

प्रकाशिकीविद इस स्थिति में फुरिये के छन्नों – विभिन्न प्रकार की नियमित संरचनाओं – का उपयोग करते हैं। ये कुछ भी हो सकती हैं – जालियां, शतरंजनुमा पर्दे, सहकेंद्रिक वृत्त तथा अन्य वस्तुएं, जिनमें पारदर्शक एवं अपारदर्शक क्षेत्र बारी-बारी से आते रहते हैं। आवश्यक व्यौम आवृत्ति जितनी ऊँची होगी, छन्ने के तत्त्व उतने ही सूक्ष्म होते जायेंगे।

यदि आपके हाथों में ऐसा छन्ना होगा, तो यह ज्ञात करना कठिन नहीं होगा कि चित्र में आवश्यक व्यौम आवृत्तियां हैं या नहीं: उससे हो कर चित्र को देखिये। जिस आवृत्ति के लिये उसे समंजित किया गया है, वह निर्बाध पार कर के आँखों तक पहुँच जायेगी, बाकी सब रुक जायेंगी। ऐसी संभावना की खबर कोल्तुश में स्थित प्रयोगशला के कार्यों

पर लिखे गये एक निबंध में दी गयी थी, जो "ज्नानिये – सीला" (ज्ञान शक्ति है) नामक पत्रिका में छपी थी। दो महीने बाद मागादान जिले के ओम्सुकचान नामक शहर से एक पत्र आया:

"आदरणीय संपादक महोदय!

आपकी पत्रिका के 11-वें अंक, 1974 में वि. देमीदोव का निबंध "आँख और बिंब" छपा था। इसमें फुरिये के छन्नों के बारे में कुछ था। लिखा गया था कि प्रकाशिकीविद जालीनुमा छन्नों का उपयोग बहुत समय से करते आ रहे हैं। इससे मेरे मन में विचार आया कि हवाई जहाज से खींचे गये भू-चित्रों के भूलोचनी विश्लेषण में भी इन छन्नों का उपयोग हो सकता है। बात यह है कि फोटो-चित्रों में फोटोन के सांयोगिक दोलन सदैव उपस्थित रहते हैं, जो भूतल के भिन्न क्षेत्रों की सीमा-रेखाओं को अस्पष्ट कर देते हैं। फुरिये के छन्ने इन सांयोगिक दोलनों को मिटा कर समज क्षेत्रों को अधिक स्पष्ट एवं असमज क्षेत्रों को अधिक विपर्यासयुक्त बना सकते हैं। मैंने खुद अपने हाथों से सरल प्रकार के कुछेक छन्ने बनाये (पारदर्शक सेलुलोयड के पत्तरों पर काली स्याही से जाली बना कर)। परिणाम अच्छा मिल रहा है। संरचनाओं की अस्पष्ट परिरेखाएं अधिक स्पष्ट हो जाती हैं, सरलतापूर्वक दिखने लगती हैं..."

विभिन्न प्रकार के छन्नों के उपयोग पर बहुत बड़ा निबंध "प्राकृतिक परिवेश का अंतरिक्षीय साधनों से अन्वीक्षण" नामक पुस्तक में छपा है। पुस्तक विमान एवं अंतरिक्षी राकेटों से प्राकृतिक निधियों की खोज का अध्ययन करने वाले सोवियत एवं अमरीकी विशेषज्ञों की सम्मिलित वार्त्ता से पूर्व सोवि-

यत विज्ञान अकादमी ने प्रकाशित की थी। लेखकों ने इन छन्नों की सहायता से विमान द्वारा खींचे गये फोटो-चित्रों के विश्लेषण के विचार की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि इससे चित्र बेहतर हो जाते हैं।

उत्क्रोश के विरुद्ध फुरिये के छन्ने... लेकिन उत्क्रोश सिर्फ बाधक तत्त्वों को ही नहीं, बिंब के सभी वैकल्पिक रूपों को भी माना जा सकता है, जैसे लिखने में अक्षरों के भिन्न रूपों और आकारों को। कंप्यूटर हस्तलिपियों को पढ़ने में आज भी असमर्थ हैं, उनके लिये विशेष शैलीकृत अक्षर रचने पड़ते हैं। एक जमाने में इस समस्या का हल निम्न विधि से ढूंढ़ा जा रहा था: कंप्यूटरों की स्मृति बढ़ा कर उसमें हर प्रकार की लिखावटों का सन्निवेश करना। लेकिन क्या सभी प्रकार की लिखावटों का लेखा-जोखा संभव है? आदमी का दृष्टि उपकरण किसी न किसी प्रकार से इन सभी विकल्पों में निहित मुख्य, सामान्य विशेषताओं को ग्रहण कर लेता है और गौण विशेषताओं पर ध्यान नहीं देता। क्या यहां फुरिये के छन्नों से कोई सादृश्यता नहीं दिखती? कहीं हमारे तथा विकास-क्रम में अन्य उच्च जंतुओं के दृष्टि-तंत्र में यह अनुपम क्षमता बा. जा. पि. के कार्यों से तो संबंधित नहीं है, जिसमें चित्र स्पंदमान क्षेत्रों की चलनी से छन जाया करतेहैं?

देखिये कि पहचान करने वाली एक परिकाल्पनिक कंप्यूटर मशीन कैसे बनायी जा सकती है। फुरिये के चंद छन्ने लें (जो भिन्न व्यौम आवृत्तियों के लिये समंजित हों) और हरेक के पीछे प्रकाश-संवेदी बैटरी लगा दें। उसके सिग्नल, जैसा कि हम जानते हैं, चित्र में (जिसे रोबट देख रहा है) प्रदत्त व्यौम आवृत्ति की तीव्रता दिखायेंगे। हर छन्ने से आने

वाले सभी सिग्नलों का मेल भिन्न चित्रों के लिये भिन्न होगा, क्योंकि हरेक में आवृत्ति की तीव्रता का एक अपना अलग प्रकार का वितरण होगा। लगता है कि इस तरह की सरल स्वचल मशीन से सरल चित्रों के सादृश्य और उनकी भिन्नता का मोटा-मोटी मूल्यांकन संभव है। एलेक्ट्रोनी उपकरण मूर्त्त चित्र को वोल्टताओं के अमूर्त मेल में परिणत कर लेगा।

बेशक, दसेक छन्ने लेने से तो बहुत सरल प्रकार का रोबट बनेगा, लेकिन सैकड़ों छन्नों का उपयोग करने पर कोई निषेध तो है नहीं। पूरे चित्र का एक साथ विश्लेषण करना भी आवश्यक नहीं है, उसे अलग-अलग खंडों में बांटा जा सकता है: हरेक को पहचानने के परिणाम अंत में पूर्ण आंकिक (संख्यात्मक) परिणाम के रूप में जोड़ लिये जा सकते हैं। पहले से अनुमान लगाया जा सकता है कि पहचान की शुद्धता काफी उच्च होगी, यद्यपि गलतियों के विरुद्ध शत-प्रतिशत गारंटी देना बेशक असंभव होगा: फुरिये की शृंखला अनंत है। चित्र में सदा ही किसी ऐसे विवरण के होने की आशा की जा सकती है, जो उसे अन्य चित्रों से भिन्न कर देगा (अन्य सभी परामितकों के अनुसार)। सदृश है या असदृश है – इसकी समस्या सदा एक विवेकसंगत शुद्धता-स्तर के साथ ही हल की जा सकती है।

लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि इस तरह का अभिगम – फुरिये के छन्नों से देखना – होलोग्राफिक रूप से पहचानने की समस्या को भी समझने में सहायक हो सकता है; आगे हम देखेंगे कि यह बिल्कुल निरर्थक नहीं है। कारण यह है कि होलोग्राफी में ही चित्रों को फुरिये की शृंखलाओं में विघ-

टित किया जाता है और चित्र को पुनः उत्पन्न करने के लिये उन्हें पुनः जोड़ा जाता है।

होलोग्राफी... उसके भौतिक आधार – तरंगी प्रक्रिया – को विज्ञान 7-वीं शती में ही अनुभव कर चुका था। उसे मूर्त रूप प्रदान करने के लिये आवश्यक ज्ञान यंग (Young) फ्रेनेल (Fresnel), फ्राउनहोफेर (Fraunhofer') को भी था, जिन्होंने प्रकाश की तरंगी प्रकृति और उसकी तरंगों की व्यतिक्रिया (आपसी क्रिया) का फलप्रद अध्ययन किया था। किर्खहोफ (Kirchhoff), रेले (Rayleigh), आब्बे तथा 19-वीं शती के उत्तरार्ध व 20-वीं शती के पूर्वार्ध के अनेक अन्य भौतिकविद इसके सिद्धांतों के बहुत निकट पहुँच गये थे, फिर भी वह अस्तित्व में नहीं आ पाया। इंगलैंड में कार्यरत हंगेरी के वैज्ञानिक देनिस गाबोर ने जब 1947 में होलोग्राफी का आविष्कार कर लिया, तो वे उसका कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं ढूंढ़ पाये। कालांतर में वे इस असाधारण प्रकार के फोटोग्राफिक चित्र प्राप्त करने की रीति लगभग भूल गये। 1962 में इंजिनियर (अब सोवियत विज्ञान अकादमी के पत्र-सदस्य) यूरी देनीस्युक ने होलोग्राम प्राप्त करने का एक व्यापक आरेख प्रस्तुत किया, जिससे होलोग्राफी की अन्य रीतियां निष्कर्षित हो सकती थीं। लेकिन इन दोनों वैज्ञानिकों के पास इस काम के लिये प्रकाश का कोई अच्छा स्रोत नहीं था। वे मर्करी लैंप का उपयोग करते थे, जबकि आवश्यकता थी लेसर जैसे प्रकाश-किरणों की। इसीलिये जब अमरीकी रश्मिभौतिकविद एम्मेट लेइथ (Emmet Leith) और जूरी उपाट्निक्स (Juris Upatnicks) ने लेसर का उपयोग आरंभ किया तब से होलोग्राफी का तेजी से विकास होने लगा। सर्वसाधारण जिस रूप में होलोग्राफी को समझता है, उसके अनुसार यह फोटोग्राफी (प्रकाश-चित्रण) की एक विशेष विधि है; इसमें सामान्य कैमरे का उपयोग नहीं होता; चित्रण एक फोटो-प्लेट पर होता है, जिसे लेसर-स्रोत और होलोग्राफी की जाने वाली वस्तु के बीच रखते हैं। वस्तु से परावर्तित लेसर-किरणें – वस्तुज किरणें – और प्लेट से गुजरने वाली लेसर-किरणें – अवलंबी किरणें – उसी तरह व्यतिक्रिया करती हैं, जैसे तरंगों के दो प्रवाह (तरंगों की इस आपसी क्रिया को व्यतिकरण कहते हैं)। तरंगों के शिखरों और गर्त्तों के जाल प्लेट पर प्रकाशमान एवं अंधेरे धब्बों की एक विशिष्ट नक्काशी बना देते हैं; प्रत्येक धब्बे की लंबाई चौथाई प्रकाश-तरंग होती है। प्लेट को डेवेलप और फिक्स करने के बाद उसका श्वेतकरण करते हैं (सामान्य फोटोग्राफी में यह काम नहीं किया जाता)। अब यदि उसे सूर्य के प्रकाश में रखा जाये, तो वस्तु का व्यौम चित्र दिखने लगता है।

यह कैसे होता है? मोटा-मोटी कहें, तो बात यूं है कि मानो हर धब्बा प्रकाश का स्वतंत्र स्रोत बन जाता है। विद्युचुंबकीय तरंगें व्योम में एक-दूसरे के साथ व्यतिक्रिया करती हैं, कहीं एक-दूसरे को प्रबल बना देती हैं, तो कहीं क्षीण; ऐसी ही प्रकाश-किरणों के ताने-बाने से वस्तु का दृश्य बिंब बन जाता है। यह बिंब और कुछ नहीं, उन विद्युचुंबकीय तरंगों के बारे में स्मृति है, जो होलोग्राफी की प्रक्रिया में वस्तु से परावर्तित हुई थीं।

"मैं होलोग्राफिक अभिलेख और आदमी की स्मृति के बीच संबंध जैसी आश्चर्यजनक संवृत्ति के दार्शनिक पक्ष की ओर ध्यान आकर्षित कराना चाहूँगा", यह गाबोर ने लिखा था।

सचमुच, एक ही होलोग्राम में सैकड़ों-हजारों तस्वीरें अँटायी जा सकती हैं; उसके प्रति वर्ग सेंटीमीटर क्षेत्र में 10 करोड़ बिट सूचना को जगह मिल सकती है। किसी भी वस्तु का होलोग्राम एक आदर्श छन्ना है, जो उस वस्तु का चित्र हजारों अन्य चित्रों से अलग कर दे सकता है। मान लें कि टेबुल पर ढेर सारी चाबियां बेतरतीबी से बिखरी हैं और उनमें एक खास चाबी आपको ढूंढ़नी है। कितना समय आप बर-बाद करेंगे? लेकिन यदि आवश्यक चाबी का होलोग्राम आपके पास है, तो उससे गुजरती लेसर-किरणों में इन चाबियों को देखते ही आवश्यक चाबी के पास एक चमकदार बिंदु उत्पन्न हो जायेगा। पहचान करने वाले होलोग्राफिक तंत्र के कार्य की गति सामान्य रीतियों से काम करने वाले अन्य अच्छे से अच्छे तंत्रों की तुलना में दसियों लाख गुना अधिक होती है; यह बात और है कि होलोग्रफिक तंत्र तभी काम करता है, जब उसे फोटोग्राफ दिखाया जाता है। इस तरह के तंत्रों का उपयोग उंगलियों की छाप अथवा हस्तलिपि के अक्षरों की तुलना के लिये होता है। यह सादृश्यता उल्लेखनीय है कि दृष्टि अनेक चेहरों के बीच किसी खास व्यक्ति को सेकेंड के शतांश में ही पहचान लेती है!

आँख जिन व्यौम आवृत्तियों के साथ काम करती और जिनका संबंध शायद सीधा बा. जा. पि. के साथ है, उनका जोड़-घटाव कहां होता है? विभिन्न देशों की प्रयोगशालाओं में विभिन्न प्रकार के प्रयोगों से सिद्ध होता है कि यह प्रक्रिया दृष्टि-तंत्र के उच्च विभागों में संपन्न होती है। वहां, जहां हमें अभी जाना है!

अध्याय 7

पुराने रहस्यों की नयी कुंजी

इस प्रकार होलोग्राम, जो शुरू-शुरू नर्व-तंत्र के कार्य में गड़बड़ी के कुछ पक्षों की व्याख्या के लिये उपमा या सादृश्य के रूप में प्रयुक्त हुआ था, अब उसके कार्य के सामान्य रूप का शुद्ध प्रतिमान बन गया है।

—कार्ल प्रिब्राम
(मस्तिष्क की भाषाएं)

—हाल ही में मैं आंतोकोल्स्की की कविताएं पढ़ रहा था, —ग्लेजेर ने बताया,—ये पंक्तियां मुझे बिल्कुल याद हो गयीं:

स्मृति क्या है?.. भंडार। अंधेरी गुफा।
जीवन फेंका जाता है जैसे-तैसे जहां।
खूँटों से बंधे मृत जहाज हैं सोये पड़े,
निश्चल, छिछाले पर अड़े-अड़े...

चित्र सचमुच प्यारा है, मन पर छाप डाले बगैर नहीं रह सकता। कविता में निस्संदेह कुछ भी हो सकता है, आखिर है तो कविता ही न! लेकिन जीवन में... बहुत से लोग अभी भी यही सोचते हैं कि स्मृति किसी चित्र-प्रदर्शनी का भंडार-घर है, वहां दीवारों के सहारे उठंगा कर एक के ऊपर एक

हजारों चित्र रखे हुए हैं; और याद करने का मतलब है –उनको निकाला और देख लिया...

किसने देखा? प्राचीन काल में कहते थे: आत्मा ने। लेकिन हम-आप तो जानते हैं कि शरीर से अलग जीने वाली कोई आत्मा नहीं होती। आदमी के मस्तिष्क में कोई अन्य नन्हा आदमी नहीं छिपा है, जो मानो टेलीवीजन में देखता रहता है: आदमी अपनी आँखों से क्या देखता है, कौन-से बिंब अपनी स्मृति में संजो कर रखता है? हमारे मस्तिष्क में 10 अरब या अन्य आँकड़ों के अनुसार 50 अरब नर्व-कोशिकाएं हैं, उनमें एक से दूसरी की ओर विभिन्न आवृत्तियों और आयामों के वैद्युत स्पंद भ्रमण करते रहते हैं, अंतराकोशिकीय व्योम और खुद कोशिकाओं में रासायनिक परिवर्तन होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त वहां कुछ भी नहीं है। कुछ भी नहीं। लेकिन हम देखते हैं, हमारी स्मृति भी अस्तित्व रखती है, पुराने चित्रों को हम याद करते हैं। फिर आँखों से हो कर मस्तिष्क में क्या पहुँचता है?

मध्य युग में माना जाता था कि विचार पहुँचते हैं। वे दृष्टि-नर्वों पर चलते हैं और स्मृति के भंडार में जमा होते हैं, जो पश्च कपाल के पास कहीं स्थित है। लेकिन शब्द 'विचार' से कुछ भी स्पष्ट नहीं हुआ। जब पुस्तकें छापने के काम, धार्मिक एवं सामान्य जीवन के चित्र छापने के काम का विस्तृत प्रचलन हुआ, तो नयी शिक्षा आयी: मस्तिष्क में किसी प्रकार से उन चित्रों की छाप बन जाती है, जिनके बिंब आँख का लेंस नेत्र-गोलक की पिछली दीवार पर प्रक्षिप्त करता है। इस तरह की परिकल्पनाओं ने विशेषकर 19-वीं शती के उत्तरार्ध में अपनी जड़ें फैलायी थीं, जब आँख की

बनावट और रेटीना, उसके प्रकाश-संवेदी शंकुओं और छड़ियों की भूमिका स्पष्ट हुई थी। यह विचार बहुत लोकप्रिय था कि हर प्रकाश-संवेदी ग्राहित्र से मस्तिष्क में एक नर्व-तंतु (नर्व का रेशा) जाता है; इसी से वल्कुट में "उद्दीपनों की तलाकृति" उत्पन्न होती है, जो एक तरह से दृश्य का फोटो-चित्र होता है। लंबे समय तक यह परिकल्पना एकमात्र सत्य मानी जाती थी, इसका समर्थन बड़े-बड़े शरीरलोचक करते थे, जिनमें इवान सेचेनोव का भी नाम आता है। यह परिकल्पना बहुत ही सरल और सुगम थी, लेकिन जब पता चला कि रेटीना में संवेदी तत्त्वों की संख्या दृष्टि-नर्व के रेशों से डेढ़ सौ गुनी अधिक है, तो उसका त्याग करना ही पड़ा, क्योंकि ऐसी स्थिति में चित्र बनना संभव नहीं था। (भूलें बहुत ही जीवंत होती हैं। अभी हाल में, 30 ही वर्ष पहले इस विचार की गंभीरतापूर्वक रक्षा की जा रही थी कि दृष्टि-अनुभूतियां दृष्टि के समक्ष उपस्थित वस्तुओं की फोटोग्राफिक प्रतिकृतियां हैं। यह बात अच्छी-अच्छी पुस्तकों में लिखी जा रही थी...)

मस्तिष्क में नन्हे आदमी के छिपे होने का विचार तो बिल्कुल निष्फल है। आधुनिक विज्ञान उसके बदले में क्या रखता है? "मस्तिष्क की सूचनात्मक प्रक्रियाएं और मानसिक कार्यकलाप" नामक पुस्तक में यह विचार प्रस्तुत किया गया है कि मनुष्य का लंछक गुण "मैं"–यह स्मृति में स्थित ऐसी चीज है, जो वहां से उसी क्षण निकलती है, जब मस्तिष्क में ज्ञानेंद्रियों से संकेत (सिग्नल) पहुँचते हैं: बाह्य संकेत को बिना अपने "मैं" के नहीं महसूस किया जा सकता और अपने "मैं" को बिना बाह्य संकेत के नहीं महसूस

किया जा सकता। इसीलिये मस्तिष्क में मानवीय "मैं" को उस तरह ढूंढ़ना निरर्थक है, जिसतरह रेत के ढेर में सोने के कण ढूंढ़े जाते हैं। सिर्फ बाह्य दुनिया से व्यतिक्रिया कर के उससे कोई संकेत (सिग्नल) प्राप्त करते हुए ही स्वयं को अनुभूत किया जा सकता है : आदमी के पास उसका "मैं" सिर्फ सूचना-तंत्र के रूप में होता है, जब स्मृति और तत्कालिक-अनुभूति की टक्कर होती है (तभी तो कई लोगों का आत्म चित्र, अर्थात् अपने बाह्य रूप-रंग के बारे में कल्पना-चित्र उस चित्र से बहुत भिन्न हो जाता है, जिसे वस्तुगत दर्पण दिखाता है : "अरे तू, कमीना काँच, बताता क्यों नहीं साँच-साँच!")। जो हो, यह प्रश्न कि बाह्य दुनिया के चित्र मस्तिष्क में किस रूप में प्रविष्ट होते हैं और किस तरह बिंब में परिणत होते हैं, 'सूचनात्मक टक्कर' जैसे शब्दों से हल नहीं हो जाते।

समस्या पर कुछ प्रकाश पड़ेगा, इसकी आशा तब जगी जब 1959 में हार्वार्ड आयुर संस्थान के दो शरीरलोचकों डेविड ह्युबेल (Hubel) और टोर्स्टेन वीजेल (Wiesel) ने बिल्ली के पश्च वल्कुट में (जहां दृष्टि-नर्व के रेशों का अंत होता है) एक सूक्ष्म एलेक्ट्रोड प्रविष्ट कराया और वहां ऐसे न्युरोन ज्ञात किये, जिनतक संकेत रेटीना की गुच्छिकीय कोशिकाओं की तरह कुछेक सौ नहीं, वरन् एक साथ हजारों प्रकाश-ग्राहित्रों से आ रहे थे। यह अद्भुत खोज प्रयोग में नयी तकनीक के उपयोग से हुई थी। इससे पहले, गुच्छिकीय कोशिका से जुड़े क्षेत्र को ज्ञात करने के लिये एक सरल संकेत – सूई की तरह पतला एक किरण-पुंज – काफी रहता था। स्क्रीन पर एक चमकदार बिंदु ही तो रेटीना के 'औन' एवं 'औफ' क्षेत्रों को उद्दीपित करता है। लेकिन वल्कुट की कोशिकाओं को उद्दीपित करने के लिये अन्य उद्दीपक संकेतों की जरूरत पड़ती है – ऋजु (सीधी) रेखाओं और समकोणों की।

लेकिन कोशिका को हर प्रकार का उद्दीपक बोलने को विवश नहीं कर सकता (अर्थात् उद्दीपित नहीं कर सकता)। ह्युबेल लिखते हैं : "वल्कुट की नियत कोशिका से जुड़े हुए रेटीना-क्षेत्र को ढूंढ़ने में और उस कोशिका के लिये श्रेष्ठ उद्दीपक ज्ञात करने में अक्सर कई-कई घंटे लग जाते हैं।" उद्दीपक के ही आधार पर अमरीकी अन्वीक्षकों ने दृष्टि वल्कुट की कोशिकाओं के क्षेत्रों (संक्षेप में सिर्फ : वल्कुट-क्षेत्रों) का वर्गीकरण किया था।

'सरल' क्षेत्र सिर्फ ऋजु (सीधी) महीन रेखाओं को ही विभेदित कर पाते हैं (अलग कर पाते हैं या पहचान पाते हैं)। जैसे ही रेखा रेटीना के उस हिस्से में पड़ती है, जहां क्षेत्र स्थित होता है, वल्कुट का न्युरोन शब्दश: चीखने लगता है : दिख रहा है, दिख रहा है! रेखा को एक ओर खिसका दिया जाता है, तो कोशिका भी चुप हो जाती है, मानो सिग्नल-लैंप बुझ गया हो।

'जटिल' क्षेत्र 'सीधी किनारी', 'कोण', 'चाप' (मेहराब) जैसी चमक के साथ समंजित होते हैं। वे उस स्थिति में भी कार्यरत हो जाते हैं, जब दृष्टि-क्षेत्र में कोई गतिमान वस्तु आ जाती है; वे कुछ हद तक मेढ़क के अनुवेदक से मिलते-जुलते होते हैं। लेकिन यह बात कि संकेतक कोशिकाएं रेटीना में नहीं, बल्कि मस्तिष्क के वल्कुट में होती हैं, यह सिद्ध करती हैं कि स्तनपायी जंतुओं का दृष्टि-उपकरण अधिक जटिल और अधिक लचीला है। सभी क्षेत्र रेखाओं की दिशा

अनुभूत कर सकते हैं; अब आप ही सोचिये कि शून्य से 180 डिग्री के परास में करीब हर 6 डिग्री का झुकाव पहचानने के लिये कितना जटिल उपकरण चाहिये।

ऐसे भी क्षेत्र हैं, जो (उदाहरण के लिये) सिर्फ नीचे की ओर गतिमान क्षैतिज रेखा को ही देखते हैं, लेकिन दायें से बायें खिसकने वाली उदग्र रेखा पर कोई ध्यान नहीं देते।

सबसे दिलचस्प 'अतिजटिल' क्षेत्र रेखा नहीं, सिर्फ खास लंबाई की रेखा को ही देखते हैं। लंबाई में थोड़ा भी कमोवेश होने से न्युरोन में कोई भी प्रतिक्रिया नहीं दिखेगी; सिग्नल-लैंप नहीं जलती। कभी-कभी सूक्ष्म एलेक्ट्रोड किसी अतिजटिल कोशिका पर पहुँच जाती है, जिसे प्रकृति ने निम्न काम दे रखा है: एक साथ दोनों आँखों से आने वाली सूचनाओं पर प्रतिक्रिया करना, और यदि एक आँख स्क्रीन पर उद्दीपक को नहीं देखती, तो चुप रहना। यदि एलेक्ट्रोड को कुछ गहरा या थोड़ा अगल-बगल पहुँचाया जाये, तो (यह न भूलें कि बिल्ली में मस्तिष्कवल्कुट ज्यादातर दो मिलिमीटर मोटा होता है; जबकि आदमी का – साढ़े चार मिलिमीटर) यहां ऐसा न्युरोन मिलेगा, जो मुख्यत: दायीं आँख के सिग्नल ग्रहण करेगा; कुछ हट कर – मुख्यत: बायीं आँख के। ये न्युरोन दो आँखों की व्यौम दृष्टि से संबंधित हैं, जिसके बारे में हम आगे चलकर बातें करेंगे।

वल्कुट के क्षेत्र हजारों से लेकर दसियों लाख तक हैं। एक-दूसरे पर अतिछादन करते हुए वे ही रेटीना के एक ही ग्राहित्रों और परिरेखाओं के एक ही खंडों की सहायता से चमक, रंग तथा अनेक अन्य बातों का मूल्यांकन करने में दृष्टि-उपकरण की सहायता करते हैं। और यह काम वे आँख के

सामने उपस्थित पूरे दृष्टि-व्योम में एक साथ करते हैं। अधिकतम स्पष्ट दृष्टि के प्रांत में (अर्थात् रेटीना की केंद्रीय खातिका के प्रांत में) नन्हे-नन्हे ऐसे क्षेत्र होते हैं, जो वस्तुओं की आकृति को सूक्ष्मता से पहचानने में सहायता करते हैं। रेटीना की किनारी पर के बड़े क्षेत्रों से वस्तु की आकृति नहीं, सिर्फ चमक और गति अनुभूत होती है। इसीलिये तेजी से आती कार या अचानक जल उठी बत्ती पार्श्व दृष्टि से भी दिख जाती है (इस तरह के विशिष्ट क्षेत्र उन सभी स्तनपायी जंतुओं में पाये गये हैं, जिनके साथ वैज्ञानिकों ने काम किया है)। दृष्टि-क्षेत्र की किनारी पर जैसे ही कोई गतिमान वस्तु प्रकट होती है, सेकेंड के 15-17 शतांश में दृष्टि अनायास उधर उन्मुख हो जाती है। इसकी रीति बहुत ही शुद्ध है: क्षणिक विश्राम, फिर एक तेज छलांग (वेग संतत रूप से महत्तम मान तक पहुँचता है और फिर उसी तरह संतत रूप से शून्य तक उतर आता है); बस इतने से ही केंद्रीय खातिका वस्तु की ओर निर्दिष्ट हो जाती है, ताकि उसकी गति का अनुसरण कर सके। इन सब का अर्थ क्या है? यही कि वस्तु के स्थानांतरण से संबंधित सूचनाएं – वेग, दिशा, त्वरण – दृष्टि-उपकरण उसे स्पष्ट रूप में देखने से पहले ही प्राप्त कर लेता है। वस्तु का रूप पहचानने के साथ इस ज्ञान का कोई संबंध नहीं होता। नर्व-अनाटोमकों ने यही ज्ञात किया है कि अधोवल्कुटी संरचना, जो नेत्र-गतिप्रेरक नर्वों का केंद्र है, संकेत सीधे रेटीना से प्राप्त करती है (बीच में बा. जा. पि. की आवश्यकता नहीं पड़ती); साथ-साथ वह पश्च वल्कुट से भी संकेत प्राप्त करती है। शायद इस दुहरी अधीनता के ही कारण नेत्र-

-गोलक वस्तु को स्पष्ट देखने से बहुत पहले स्थानांतरित हो जाया करता है (मस्तिष्क में चलने वाली प्रक्रियाओं के वेग से)।

क्षेत्र जन्मजात संरचनाएं हैं: वे बिल्ली के बिल्कुल अपरिपक्व बच्चों में भी पाये गये हैं। एक पुस्तक "मस्तिष्क" में लिखा है: "मस्तिष्क में अधिकांश संपर्क सांयोगिक रूप से बने संबंधों में से चुने जाते हैं, – यह पुराना विचार आज के युग में गलत लगता है। जीव के निजी विकास के काफी प्रारंभिक चरणों पर ही अधिकांश संपर्क बिल्कुल शुद्ध-शुद्ध स्थापित हो जाते हैं; इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि ये स्थापित हो चुके संपर्क मस्तिष्क के प्रत्त क्षेत्र के लिये ही नहीं, उस क्षेत्र में प्रत्त न्युरोन के लिये भी (और कुछ स्थितियों में न्युरोन के प्रत्त भाग के लिये भी) विशिष्ट होते हैं"।

इसीलिये यह विचार उत्पन्न हुआ कि चित्र के अंगों – रेखाओं, कोणों, चापों, क्षेत्रों आदि – को अलग करने वाले क्षेत्र और कुछ नहीं, खास प्रकार के अनुवेदक हैं, जिनका काम है भिन्न चित्रों के लक्षण अलग करना (पहचानना)। इसके बाद ये लक्षण मस्तिष्क के उच्च विभागों में पहुँच कर आपस में जुड़ कर जटिल लक्षण बनाते हैं, फिर इससे भी जटिल लक्षण बनाते हैं, और अंत में कोई अभिज्ञानात्मक न्युरोन मिलता है, जो दृष्टि-क्षेत्र में विचाराधीन वस्तु के आने का संकेत देता है। इस प्रश्न पर हाल तक विवाद ही चल रहे थे और जार्ज सोमियेन ने अपनी "स्तनपायियों के नर्वतंत्र में अनुभूति-जनित सूचनाओं का कोडन" नामक पुस्तक में लिखा है कि "बिल्ली में अनुवेदक कोशिकाओं, अर्थात् नियत प्रकार की वस्तुओं को पहचानने के लिये विशेष न्युरोनों

या न्युरोन-समूहों के अस्तित्व का प्रश्न पुनः गंभीरता से उठाया जा रहा है।"

बाद के अन्वीक्षणों से ज्ञात हुआ कि 'अनुवेदक न्युरोनों' की परिकल्पना ठीक नहीं जँचती। उसमें कम से कम एक गंभीर त्रुटि तो है ही: वह इस प्रश्न का उत्तर नहीं देती कि हम शेर को उसका बिल्कुल यथार्थवादी चित्र और बिल्कुल विकृत, शैलीकृत चित्र या बच्चे के हाथ से बनाया हुआ चित्र देख कर भी उसे समान बखूबी से कैसे पहचान लेते हैं। चित्र के खंड हरेक में अलग-अलग प्रकार के होते हैं और हर बार अलग-अलग प्रकार के अनुवेदक कार्यरत होते हैं, फिर भी परिणाम एक ही होता है: हम शेर को पहचान लेते हैं। तो क्या शेर के हर प्रकार के चित्र के लिये अलग-अलग अनुवेदक होते हैं? दार्शनिक विलियम ओक्काम (करीब 1285-1349) सर हिलाते हुए कहते कि यह संदेहजनक है, क्योंकि उनका सिद्धांत था: यदि कम में काम चलता हो, तो बेशी की क्या जरूरत!

फिर उत्तर कहां ढूंढ़ा जाये? क्षेत्रों की भूमिका के प्रति नये अभिगम में, उस नयी परिकल्पना में, जिसे प्रो. ग्लेजेर की प्रयोगशाला के सहकर्मियों ने प्रस्तुत किया है।

बिल्ली का कपाल-छेदन किया गया, उसकी खोपड़ी में एक छेद कर दिया गया। बिल्लियां इस तरह का आपरेशन अच्छी तरह सहन कर लेती हैं, शाम होते-होते उछलना-कूदना भी शुरू कर देती हैं।

लेकिन यह बिल्ली निश्चल पड़ी है। उसकी शिरा में नन्ही बूंदों के रूप में कुरारी आधान कराया गया है (कुरारी लकवा उत्पन्न करने वाला एक विष है, जिससे दक्षिणी अमरीका के

आदिवासी तीर-भाले की नोक बुझा कर रखते थे ; कुरारी बिजली का लाइन काटने वाले स्विच की तरह पेशियों का कार्य ठप कर देता है)। इसीलिये बिल्ली की निगाह ठीक एक बिंदु पर टिकी हुई है, जहां उसे स्क्रीन पर 'सिनेमा' दिखाया जा रहा है। चुप्पी में सिर्फ कृत्रिम साँस देने वाले उपकरण की सरसराहट सुनायी दे रही है। बिल्ली बिजली के कंबल पर लेटी हुई है, संभव है कि मस्ती मार रही है। इतना जरूर है कि वह नाराज नहीं है और अपनी नाराजगी से प्रयोग के परिणामों को विकृत नहीं कर रही है।

स्क्रीन पर एक प्रकाशमान पट्टी तैरती हुई गुजरती है; यदि ऐसा नहीं होगा, तो निश्चल आँखें कुछ भी नहीं देख सकेंगी। अब एक की जगह दो धारियां गुजरती हैं; प्रयोगकर्त्ता की आज्ञा से कभी तीन भी गुजरती हैं, चार और पाँच भी... कभी जालियां गुजरती हैं... व्यौम आवृत्तियां, जिनमें से प्रत्येक आवृत्ति मस्तिष्क को संबोधित कोई बात है...

—उन्होंने यह खोज की है कि मस्तिष्क सचमुच होलोग्राफी का काम करता है,—ग्लेजेर बता रहे हैं, लेकिन अपनी प्रयोग-शाला के बारे में नहीं, बल्कि ह्युबेल और वीजेल के कामों के बारे में, जिन्होंने 7-वें दशक के अंत में स्पष्ट किया कि बिल्ली के पश्च वल्कुट में कोई अकेली कोशिका नहीं होती, जो खास लंबाई की रेखा को अलग कर सकती है (पहचानती है); ऐसी कई कोशिकाएं होती हैं। यह स्पष्ट करने के लिये सिर्फ सूक्ष्म विद्युद (एलेक्ट्रोड) को वल्कुट की सतह की ठीक लंब दिशा में रखते हुए घुमाना पड़ा था; वैसी को-शिकाएं एक के बाद एक मिलती जा रही थीं, जैसे सिक्कों का स्तंभ हो; बगल में कोशिकाओं का दूसरा स्तंभ होता
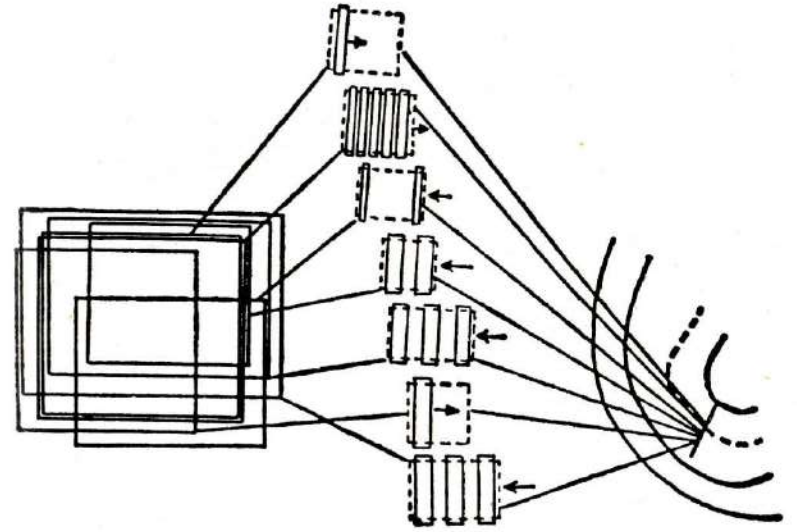
जब सूक्ष्म एलेक्ट्रोड वल्कुट के ठीक अभिलंब चलता है, तो रास्ते में भिन्न जालियों पर प्रतिक्रिया करने वाले न्युरोन मिलते हैं।

था, जो वैसी ही, लेकिन थोड़ा परिवर्तित झुकाव वाली रेखाओं के लिये समंजित होती थीं।

उपरोक्त प्रयोग से निष्कर्ष यह निकला कि 0.8×0.8 मिलिमीटर के क्षेत्र में उन सभी न्युरोनों के स्तंभ होते हैं, जो रेखा का 0 से 180 डिग्री तक का दिग्ग्रह (झुकाव) पहचान लेते हैं। हर स्तंभ में करीब 260 कोशिकाएं होती हैं और यह संख्या पूरे पश्च वल्कुट पर आश्चर्यजनक रूप से स्थायी है। (ध्यातव्य है कि आदमी व बंदर में वल्कुट के इस क्षेत्र के हर स्तंभ में 260 न्युरोन हैं, लेकिन अन्य स्तनपायी जंतुओं में सिर्फ 110 न्युरोन होते हैं। कोई गंभीर प्रमाण
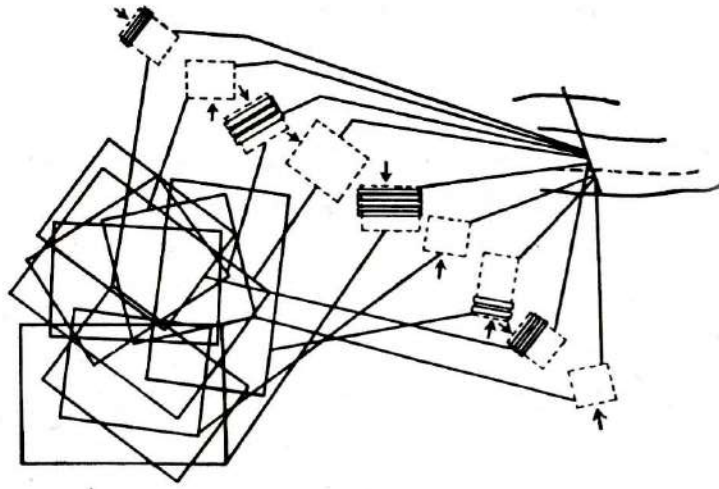
जब सूक्ष्म एलेक्ट्रोड वल्कुट के साथ किसी झुकाव पर गति करता है, तो एक-दूसरे को अतिछादित करने वाले क्षेत्र भिन्न व्यौम आवृत्तियों पर प्रतिक्रिया करते हैं।

नहीं मिला, फिर भी यह विचार व्यक्त किया गया है कि इस अंतर के परिणाम बड़े दूरगामी हैं: बिल्कुल संभव है कि यही अंतर प्रिमातों – मानव, मानव-सदृश बंदर – और उनके 'अनुजों' की बौद्धिक क्षमता में अंतर को भी निर्धारित करता है। क्योंकि आदमी समेत सभी स्तनपायियों में वल्कुट के अन्य सभी क्षेत्रों में स्तंभ 110 न्युरोनों से ही बने होते हैं।) अंग्रेज नर्वशरीरलोचक वेर्नोन माउंटकैस्ल ने वल्कुट के मोडुली (अपेक्षाकृत स्वतंत्र इकाइयों से निर्मित) गठन का विचार प्रस्तुत किया था। मस्तिष्क का यह गुण उन्होंने 6-ठे दशक के अंत में ज्ञात किया था; उन्होंने सिद्ध किया कि हर स्तंभ में उदग्र संपर्क कहीं अधिक शक्तिशाली हैं, बनिस्बत कि

क्षैतिज संपर्क, जिनके सहारे एक स्तंभ से संकेत दूसरे स्तंभ में पहुँचते हैं। अतः हर स्तंभ अपेक्षाकृत स्वतंत्र रूप से काम करता है, वह अपना काम पूर्ण प्रभुतासंपन्न तंत्र की तरह करता है; उसमें संकेत का अपना प्रवेश-द्वार और निकास-द्वार होता है। माउंटकैस्ल ने मस्तिष्क के विशेष क्षेत्र – कायानुभूतिक वल्कुट – का अध्ययन किया था, जिसमें त्वचा और आंतर अंगों की सूचनाएं वहन करने वाली नर्व-सिराएं प्रक्षिप्त होती हैं। ह्युबेल और विजेल के कार्यों से सिद्ध हुआ कि दृष्टि-वल्कुट भी इसी तरह से बना है।

चालाकी सिर्फ यही है कि हर प्रकाश-ग्राहित्र किसी एक न्युरोन से नहीं, बल्कि अनेक हजार न्युरोनों से जुड़े होते हैं। प्रकाश-संवेदी कोशिका से संपर्क-पथ वल्कुट में पूरे एक बेलन को अपनी चपेट में ले लेता है; कोशिका पर बेलन करीब ढाई मिलिमीटर व्यास वाले वृत्त के रूप में प्रक्षिप्त होता है (जबकि वल्कुट के हर वर्ग मिलिमीटर क्षेत्र में करीब 100 हजार न्युरोन गहराई में उतरते हैं)। ऐसे हरेक बेलन में करीब तीस मोडुल (अपेक्षाकृत स्वायत्त, आत्मनिर्भर तत्त्व) होते हैं; न्युरोनों के स्तंभों की संख्या इन्हीं के अनुरूप होती है। 19-वीं शती में प्रस्तावित परिकल्पना – कि प्रकाश-ग्राहित्रों और वल्कुट के न्युरोनों का संपर्क सीधा होता है – पूरी तरह सही नहीं उतरी, लेकिन उसकी कुछ बातें सही हैं। रेटीना और दृष्टि-वल्कुट के बीच मध्यवर्त्ती विरचनाएं होने पर भी उनका संपर्क स्थलाकृति के अनुसार व्यवस्थित है (बेन्शॉतीइन की परिकल्पना याद करें)। अन्यतः, यदि रेटीना पर कोई चमकदार तारा (नन्हा प्रकाशमान बिंदु) भटकने लगेगा, तो पश्च वल्कुट में न्युरोनों के अधिकतम उद्दीपन (लोकस)

का पथ तारे के पथ का अनुकरण करेगा। यदि तारा दायीं ओर जायेगा, तो लोकस भी तदनुरूप दिशा में गतिमान हो जायेगा; यदि तारा ऊपर की ओर जायेगा, तो लोकस भी वल्कुट की उस दिशा में बढ़ेगा, जो रेटीना के ऊपरी भाग के अनुरूप होगा।

लेकिन दृष्टि-तंत्र के गठन की यह आश्चर्यजनक जटिलता इसी स्तर पर समाप्त नहीं होती। आखिर प्रकाश-ग्राहित्र और वल्कुट के बेलन के विशाखित संपर्क का अर्थ क्या है? यही कि यद्यपि प्रकाश-ग्राहित्र एक-दूसरे से काफी दूर होते हैं (परस्पर अवछिन्न होते हैं – विशेषज्ञ की भाषा में), उनकी सजावट वल्कुट में परस्पर अतिछादित न्युरोन-बेलनों की विराट संख्या द्वारा व्यक्त होती है। कहने का मतलब है कि एक तरह से परस्पर अवछिन्न बिंदुओं की सजावट की छाप वल्कुट में संतत होती है। अवछिन्न तलाकृति सतत में रूपांतरित हो जाती है – यही इस आश्चर्यजनक तथ्य का रहस्य है कि हम रेखाओं को सतत रूप में देखते हैं, जबकि उन्हें अनुभूत करते हैं रेटीना के परस्पर अवछिन्न तत्त्वों – छड़ियों और शंकुओं – की सहायता से।

यह भी बता दें कि इन बेलनों में अवस्थित मोडुलों की बारी बहुत नियमित होती है: एक दायीं आँख से संबद्ध होता है, पड़ोस वाला बायीं आँख से, आदि। जंतिकीय रूप से पूर्व-निर्धारित दृष्टि-तीक्ष्णता पूरे नर्वतंत्र में दिखायी देता है। फ्रैंसिस क्रीक लिखते हैं: "यद्यपि सामान्यतः मस्तिष्क में संपर्कों का आरेख बहुत पेंचीला है, पिछले समय के अन्वीक्षणों से सिद्ध होता है कि ये संपर्क कहीं अधिक व्यवस्थित हैं..." सचमुच में, एक केंचुए में न्युरोनों का जाल हमेशा 279 कोशिकाओं

से बना होता है, ज्यादे या कम से नहीं; और हर केंचुए में हर कोशिका अन्य कोशिकाओं के साथ एक ही प्रकार से जुड़ी होती है और एक ही प्रकार के कार्य करती है। आपको शायद केंचुए और आदमी की तुलना सही नहीं लग रही होगी? लेकिन देखें कि ह्युबेल क्या कहते हैं: न्युरोनों का कार्य-सिद्धांत आदमी और घोंघे जैसे परस्पर भिन्न जीवों में भी आश्चर्यजनक रूप से समान हैं; नर्व-स्पंदों के बारे में जो कुछ पता है, उसका अधिकांश ज्ञान ओक्टोपस जाति के जीवों का अध्ययन करके प्राप्त हुआ है। मस्तिष्क की मुख्य संरचना यहां तक कि बिल्ली और मनुष्य में भी इतनी सादृश्य रखती है कि कभी-कभी तो कोई फर्क ही नहीं पड़ता कि किसका अध्ययन किया जा रहा है।"

यह बात – कि दृष्टि-वल्कुट (और बाह्य जानुल पिंड भी) रेटीना की स्थलाकृति के अनुरूप संगठित है – अनेक दृष्टि-संवृत्तियों को समझाती है। यह आँखों के समक्ष उपस्थित किसी भी चित्र के सरलतम व्यौम गुणों को अलग करने की सबसे सरल और सबसे कारगर विधि है – दायें, बायें, नीचे, ऊपर, छोटा, बड़ा, गतिमान, निश्चल आदि। बेशक, जगत का ऐसा वर्णन इतना पर्याप्त नहीं होता कि उसका सविवरण प्रतिबिंब बन सके, लेकिन फिर भी उससे हम कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त कर ही लेते हैं।

जहां तक मोडुलों और उनमें स्थित न्युरोन-स्तंभों का प्रश्न है, तो क्या उनके द्वारा भिन्न दिग्ग्रहों (झुकावों) वाली रेखाओं को अलग करने (पहचानने) का संबंध होलोग्राफी के साथ नहीं है? यही प्रश्न प्रयोगशाला के सहकर्मियों ने अपने समक्ष रखा था। और उन्होंने बिल्ली को 'सिनेमा'

वामार्ध का दृष्टि वल्कुट (समतल पर फैली स्थिति में)
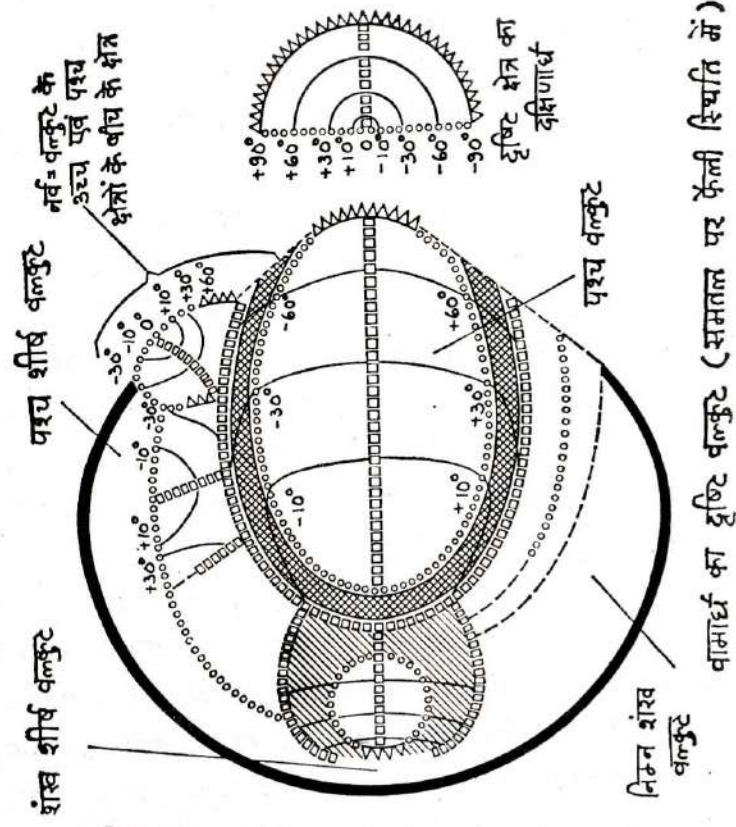
बंदर के प्रमस्तिष्क-वल्कुट में रेटीना की छाप इसी प्रकार प्रतिबिंबित होती है। धन चिन्ह का अर्थ है – दृष्टि-क्षेत्र का ऊपरी अर्ध, ऋण का – निचला अर्ध; संख्याएं केंद्रीय खातिका से डिग्रियों में दूरियां बताती हैं।

–भिन्न व्यौम आवृत्तियों वाली जालियां–दिखाना शुरू कर दिया। जालियां ही क्यों, कुछ और क्यों नहीं? ग्लेजर और उनके कलीगों को यह विश्वास कैसे हुआ कि ऐसे भी न्युरोन मिल जायेंगे, जो सिर्फ अकेली रेखा पर ही नहीं, धारियों पर भी प्रतिक्रिया करेंगे? यह दूरदर्शिता होलोग्राफिक प्रक्रिया के सार पर आधारित थी, फुरिये की शृंखला के विश्लेषण का प्रत्यक्ष निष्कर्ष थी।

चित्र के प्रकाशमान एवं अंधेरे क्षेत्रों के बीच की सीमा-रेखाएं और कुछ नहीं, चमक के उतार-चढ़ाव हैं। इसका मतलब है कि उसे व्यौम आवृत्तियों के संकुल के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, वह एक रेखा की जालियों से भी बना हो सकता है (ह्युबेल और वीजेल के अनुसार दृष्टि-वल्कुट का अन्वीक्षण करने पर वही तो हमेशा मिलती थी) और तीन, पाँच आदि रेखाओं से भी: फुरिये की शृंखला इन स्थितियों में ऐसी और सिर्फ ऐसी ही होती है। इसलिये यदि मस्तिष्क सचमुच होलोग्राफी करता है, यदि दृष्टि-वल्कुट इस तरह के रूपांतरण करती है, तो उसमें ऐसे न्युरोन अवश्य होने चाहिये, जो इन धारियों (या जालियों) को अनुभूत करने के लिये समंजित होंगे। 1966 में ही प्रतिभाशाली अंग्रेज नर्वशरीरलोचक कैंपबेल ने स्थापित किया था कि दृष्टि-तंत्र मोटा-मोटी फुरिये के बहुचैनेलीय छन्नों की तरह काम करता है, जिसमें हर चैनेल नियत व्यौम आवृत्ति को अलग करने के लिये समंजित होता है। उन्होंने यह निम्न प्रकार से सिद्ध किया था। पहले प्रयोगाधीन व्यक्ति को ऐसी जाली दिखायी गयी, जिसमें छड़ों और 'खाली स्थलों' के बीच विपर्यास (प्रकाश-भेद) बहुत ही क्षीण था, फिर भी जाली अनु-

भूत हो जाती थी। इसके बाद आदमी अपनी दृष्टि बहुत चमकीली, बहुत विपर्यासमय जाली की ओर घुमाता था; उसे करीब एक मिनट देखता था और तुरंत अल्प विपर्यास वाली जाली देखने की कोशिश करने लगता था। लेकिन वह मानो अदृश्य हो जाती थी, सारी कोशिशों के बावजूद वह कुछ भी नहीं देख पाता था: विपर्यासमय जाली का शक्तिशाली सिग्नल (संकेत) दृष्टि-चैनेल की संवेदिता को कम कर देता था। स्पष्ट था कि तीनों ही स्थितियों में चित्र रेटीना के भिन्न क्षेत्रों पर पहुँचता था, अतः प्रकाश-ग्राहित्रों की 'थकावट' का कोई प्रश्न नहीं उठता था। संवेदिता चैनेल के उच्च विभागों में, शायद वल्कुट में दमित होती थी। यदि 'क्षीण' और 'शक्तिशाली' जालियां अपनी व्यौम आवृत्तियों के अनुसार बहुत भिन्न होती थीं, तो दमन नहीं होता था: हर स्थिति में दृष्टि-संकेतों को ग्रहण करने वाले अलग-अलग चैनेल कार्यरत होते थे। लेकिन क्या ये चैनेल सचमुच वल्कुट से संबंधित हैं? कैंपबेल उस समय इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते थे।

इसका उत्तर प्रयोगशाला के सहकर्मियों ने ज्ञात किया। उन्होंने वे न्युरोन ढूंढ़ लिये, जिनके अस्तित्व की भविष्यवाणी उन्हीं ने की थी—कागज-कलम की सहायता से।

एकाकी धारियां ऐसी कोशिकाओं के लिये कोई फर्क नहीं रखतीं। यदि ह्युबेल और वीजेल की रीति से जाँच की जाती तो न्युरोन 'चुप' रह जाते। लेकिन जैसे ही मैजिक लालटेन कोई गतिमान जाली दिखाती थी, वैसे ही स्पष्ट संकेत मिलने शुरू हो जाते थे।

(अंग्रेज शरीरलोचक टाइलेर ने दृष्टि-तंत्र के कार्य में

होलोग्राफिक, व्यौम-आवृत्तिक अभिगम का विरोध करते हुए जब ग्लेजेर की एक कृति में यह पढ़ा कि कतिपय न्युरोन एक एकाकी धारी पर अधिक प्रतिक्रिया करते हैं, बनिस्बत कि जालियों पर, उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि पूरी परिकल्पना ही गलत है। उनकी विद्वता को सम्मान देते हुए इस परिकल्पना के विरोधी अन्य शरीरलोचक उन्हीं का संदर्भ देने लगे। लेकिन वे सभी पता नहीं क्यों यह भूल गये कि एकाकी धारी जाली की ही चरम स्थिति है, यह फूरिये का छन्ना है, जो व्यौम आवृत्ति के प्रथम 'संनाद' को अलग करता है, और अधिक संख्या में धारियों से बनी जालियां अधिक ऊँची आवृत्तियां अलग करती हैं...)

दूसरी खोज यह थी कि अनेक क्षेत्रों के लिये जाली नियत लंबाई व चौड़ाई वाले आयत लगनी चाहिये। रेटीना का सारा व्योम वल्कुट के न्युरोनों द्वारा अनेक व्यौम-आवृत्तिक क्षेत्रों में विभक्त है और चित्र हर खंड के 'धारीपन' के अनुसार विश्लेषित होता है। यह तथ्य, जैसा कि हम शीघ्र देखेंगे, बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

तीसरी खोज सबसे अधिक सनसनीखेज निकली। यह स्पष्ट हो गया कि दृष्टि-वल्कुट के हर मोडुल के स्तंभ में इतने ढेर सारे न्युरोन क्यों हैं। वे एक-दूसरे को आरक्षित नहीं करते, जैसा कि पहली नजर में लग सकता है (सभी जानते हैं कि न्युरोनों के जाल की विश्वसनीयता कितनी बड़ी है!)। बात कुछ दूसरी है। यद्यपि स्तंभ के सभी न्युरोन रेटीना के एक ही क्षेत्र से जुड़े होते हैं, उनमें से हरेक सिर्फ अपनी जाली पर (अर्थात् नियत व्यौम आवृत्ति पर) महत्तम प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। गणितज्ञ की भाषा में इसे 'भारिक फलन'

कहते हैं, जो वस्तुतः इसी जाली द्वारा प्रकट होता है और गणित में डिफरेंशियलों और इंटेग्रलों से युक्त सूत्रों द्वारा व्यक्त होता है। (भारिक फलन किसी ऐसे फलनक संगुणक को कहते हैं, जो अनंत शृंखला से गुणित हो कर उसे सांत में परिणत कर देता है।—अनु.)

'अपनी' जाली अलग करने वाले क्षेत्र के कार्य की एक दृश्य-सुगम तुलना दूकान में अपनी नाप की टोपी ढूंढ़ने वाले व्यक्ति के साथ की जा सकती है। उसके सर पर एक नियत नाप की टोपी फिट होगी, यद्यपि वह कोई भी टोपी चढ़ा ले सकता है: कोई-कोई मुश्किल से टिकी रहेगी और कोई बिल्कुल ढीली होगी। नापने वाले की प्रतिक्रिया हर बार भिन्न होगी। इसी तरह विचाराधीन भारिक फलन से युक्त न्युरोन भी सिर्फ अपनी श्रेष्ठ जाली पर ही नहीं, अन्य जालियों पर भी प्रतिक्रिया करता जाता है। ऐसी स्थिति में कहा जाता है कि उसमें प्रवेशरत संकेतों का परास बहुत विस्तृत होता है, जिनमें से एक उसका 'अपना' होता है। गणितीय विश्लेषण की दृष्टि से कोई भी उत्तर (प्रतिक्रिया) प्रत्त (प्रदत्त) जाली में प्रकाशिता-वितरण के भारिक फलन की एक 'पुड़िया' है; सारी संक्रिया गुणा कर-कर के जोड़ते जाने की प्रक्रिया की याद दिलाती है।

मतलब यह है कि स्तंभों के रूप में जुड़े न्युरोन प्रत्त झुकाव की हर उस जाली पर प्रतिक्रिया करने की क्षमता रखते हैं, जो रेटीना के ग्राहित्र-क्षेत्रों पर आती है (प्रक्षिप्त होती है)। हर न्युरोन अपने-अपने अनुसार प्रत्युत्तर देता है, श्रेष्ठ भी और अश्रेष्ठ भी—कोई फर्क नहीं पड़ता। कुल मिला कर प्रत्युत्तरों का एक समूह बन जाता है। यह कुछ ऐसा ही है, जैसे रोबट

पश्च वल्कुट में दृष्टि-क्षेत्र का प्रतिबिंबन (ह्युबेल, विज़ेल और ले वेई के अनुसार)। सफेद-काली धारियां रेटीना के प्रक्षेप हैं।

फुरिये के छन्नों और प्रकाश-संवेदी बैटरियों की सहायता से चित्र का विश्लेषण करता है। मोडुल के रूप में एकत्रित सभी स्तंभ अपने संकेतों से किसी भी झुकाव और किसी भी व्योम आवृत्ति की जाली को द्योतित कर देते हैं।

नेत्र-गोलक की पिछली दीवार पर उपस्थित चित्र की संपूर्णता पश्च वल्कुट के स्तर पर मोडुलों के संकेतों द्वारा प्रस्तुत कर दी जाती है। वे इस चित्र को अनेक खंडों में विभाजित कर देते हैं (क्षेत्रों की संख्या के अनुसार)। और हर खंड मोडुल के भीतर संकेतों के समूह के रूप में दिखता है। [illegible]

संकेत फुरिये के फलनों में विघटन के परिणाम हैं। अर्थात् चित्र होलोग्राफिक रूप में, या और भी सही कहें, तो खंड-होलोग्राफिक रूप में, या बिल्कुल शुद्ध-शुद्ध कहा जाये तो खंड-मिथ्याहोलोग्राफिक रूप में प्रस्तुत होता है। लेकिन मिथ्या क्यों ?

1970 में यह परिकल्पना प्रस्तुत करने वाले ग्लेजेर स्वयं उत्तर देते हैं : "क्योंकि सामान्य होलोग्राम का संबंध अनिवार्यत: लेसरों, संसक्त विकिरण और वस्तुज एवं अवलंबी (आधारीय) किरण-पुंजों के ताने-बाने के साथ जोड़ा जाता है, लेकिन दृष्टि-उपकरण में ऐसा कुछ नहीं है, और यहां उनकी जरूरत भी नहीं है। क्योंकि सही अर्थ में होलोग्राफी किसी दोलन-प्रक्रिया का फुरिये की शृंखला में विघटन और इस विघटन के परिणाम की स्मृति है। "होलोस" एक ग्रीक शब्द है; जिसका अर्थ है संपूर्ण। 'होलोग्राफी' शब्द इसी से बना है। अतः होलोग्राफी सभी विवरणों समेत संपूर्ण सूचना के अभिलेखन को कहते हैं। संपूर्ण अभिलेख की समस्या सिर्फ दृष्टि के साथ ही नहीं, पूरी शरीरलोचनी अनुभूति के साथ संबंधित है। "कार्मेन" की धुन सुन कर आदमी ध्वनियों के क्रम को नहीं याद रखता, वह उसे एक संपूर्ण श्रवण-बिंब के रूप में याद रखता है, इसीलिये बाद में वही धुन उसके लिये किसी भी टोन की ध्वनियों में, किसी भी परिवर्तन के साथ गूंज सकती है। कितना विस्तृत व्यापकीकरण है यह! यह सदा ही अनुमान लगाया जा सकता है कि जब इस रहस्य का पर्दाफाश होगा, तो पता चलेगा कि इसका संबंध फुरिये की शृंखला और मिथ्याहोलोग्राफी के साथ है... और जहां तक दृष्टि का संबंध है, तो होलोग्राफिक अभिगम ढेर सारी

बातें समझा देता है। जैसे – भ्रम की उत्पत्ति, जिसे दृष्टि-उपकरण के अन्य प्रतिरूपों से समझाना कठिन होता है।

ग्लेजेर ने टेबुल पर कागजों के बीच ढूंढ़ कर एक फोटो-चित्र निकाला। उसमें अंधेरी पृष्ठभूमि पर दो प्रकाशमान धब्बे थे।

– यह म्युलेर और लीयेर द्वारा रचे गये भ्रम की होलोग्राफिक व्याख्या है...

भ्रम का नाम नया लगता है, लेकिन इसे जानते सभी हैं : समान लंबाइयों के दो रेखाखंडों के हर सिरे पर दो-दो 'दुमें' लगी हुई हैं; एक में वे भीतर की ओर (एक दूसरे की ओर) हैं और दूसरे में बाहर की ओर हैं; इसी के फलस्वरूप पहला रेखाखंड छोटा लगता है और दूसरा – कुछ बड़ा (दे. पृ 99)। बहुत समय तक इस भ्रम का कारण यही समझा जाता था कि दृष्टि एक किनारी से दूसरी किनारी पर फिसलती है। यदि 'दुमें' दृष्टि की गति की दिशा में होती हैं, तो वह उस पर 'पसर' जाती हैं और मनोलोचनी (मनोवैज्ञानिक) रूप से उसे लंबा कर देती हैं। विपरीत स्थिति में रेखाखंड छोटा लगता है। इस व्याख्या का खंडन होलोग्राफिक प्रयोग से हुआ और उससे भी पहले – एक मनोलोचनी प्रयोग से। मनोलोचनी प्रयोग यूं था : चित्र को आँखों के सापेक्ष स्थिर कर दिया गया : सूक्ष्म डायेपोजीटिवों को नेत्र-गोलक पर चिपका दिया गया, जिससे चित्र आँख के साथ-साथ गति करने लगता था। पुतली अब रेखा के सहारे-सहारे गति नहीं कर पाती थी, लेकिन भ्रम तब भी उत्पन्न हो जाता था। इससे स्पष्ट हो गया कि भ्रम आँखों में नहीं, बल्कि वल्कुट के स्तर पर उत्पन्न होता है। होलोग्राफिक प्रयोग

14—1646

का सार यह था: भ्रम उत्पन्न करने वाले चित्र को होलोग्राम में परिणत किया गया, फिर उसमें से फुरिये की शृंखला के उच्चावृत्तिक पद अलग कर दिये गये। इसके बाद चित्र को पुनर्स्थापित किया गया; नया चित्र (जो स्वाभाविक है कि कुछ धुंधला था) ठीक वैसा ही निकला, जैसा वह प्रतीत होता था: भ्रमवश लंबा लगने वाला रेखाखंड होलोग्राम में सचमुच बड़ा दिखता था, जबकि रेखणी कुछ और कहती थी।

"पक्षियों के भ्रम" का कारण भी होलोग्राफी से ही पता चला। इस भ्रम का सार निम्न है: चित्र में समबाहु त्रिभुज की आकृति के पक्षी बिखरे पड़े हैं; देखने में कभी लगता है कि वे इस दिशा में उड़ रहे हैं, कभी उस दिशा में, तो कभी बिल्कुल तीसरी दिशा में। उनके इस 'स्वैच्छिक आचरण' का कारण यही है कि दृष्टि उपकरण मस्तिष्क में उपस्थित सभी "फुरिये-छन्नों" का उपयोग नहीं करता। यह प्रभाव कंप्यूटर पर बहुत सरलता के साथ दिखाया गया: उसके साथ जुड़े हुए किसी खास फुरिये-छन्ने से त्रिभुजों को देखते ही वह स्क्रीन पर उन्हें तदनुरूप दिशा में उड़ाने लगता है।

लेकिन फुरिये-विश्लेषक और खंड-मिथ्याहोलोग्राफी जैसे अतिजटिल मस्तिष्क-तंत्र के विरचन का प्राकृतिक जीवलोचनी अर्थ क्या है? 'दृष्टि-भ्रमों' की बात करते वक्त हमने सतह की बुनन (टेक्स्चर) के बारे में बहुत कुछ कहा था। लेकिन ये बुनन यदि प्रकृति द्वारा रची गयी जालियां नहीं हैं, तो और क्या हैं? इसलिये प्राकृतिक बुननों की विशाल विविधता मस्तिष्क के पश्च वल्कुट में कोडों की तदनुरूप विशाल विविधता के रूप में प्रस्तुत होती है; ये कोड हर मोडुल के प्रत्युत्तरों के समूह हैं (ऐसे समूह को संक्षेप में पैटर्न कह सकते
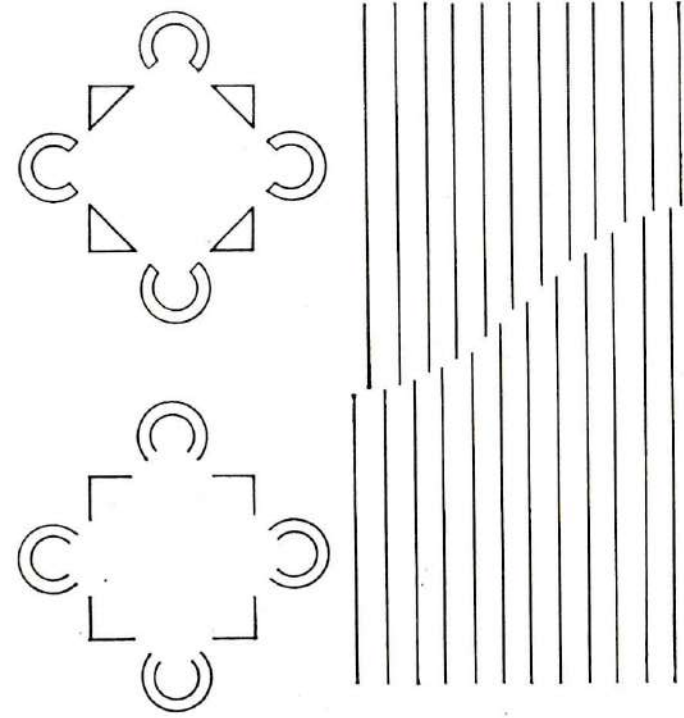
ऊपरी चित्र में 'भ्रामक वर्ग' की परिरेखा स्पष्ट लगती है, क्योंकि हमारा मस्तिष्क निश्चित व्योम आवृत्ति वाली जाली पर प्रतिक्रिया करने वाले न्युरोनों से प्राप्त संकेतों के आधार पर ऐसी अनंकित परिरेखाएं खींच लेता है।

हैं)। अर्थात् हम ये सूचनाएं प्राप्त करते हैं कि बुनन के तत्त्व कितने खंडित हैं और किस दिशा में झुके हैं।

जरा अपने गिर्द देखिये: जगत का चित्र बुननों का एक क्रम है, एक पच्चीकारी है। अन्यतः, पश्च वल्कुट में चित्र पैटर्नों की पच्चीकारी के रूप में प्रस्तुत होते हैं – न्युरोन क्षेत्रों की, मोडुलों की संचियों के अनुरूप। हर चित्र के लिये, हर

वस्तु के लिये अपनी विशेष पच्चीकारी होती है। कहने का मतलब यह है कि हम लक्षणों, गुणों या चिन्हों की पच्चीकारी प्राप्त करते हैं, जिसकी सहायता से हम एक वस्तु को दूसरी से, एक दृश्य को दूसरे से, एक चेहरे को दूसरे से इतरित (विभेदित) कर सकते हैं...

–हम इन लक्षणों को सरल कहते हैं,–ग्लेजेर ने बताया। –सबसे महत्त्वपूर्ण तो यह है कि उनकी सहायता से हम किसी भी चित्र का वर्णन कर सकते हैं, उसे स्मरण कर सकते हैं–चाहे चित्र बहुत रंगबिरंगी हो, चाहे वह सिर्फ रेखाकृति हो। बिल्कुल चिकनी सतह को 'शून्य तक' अवजनित बुनन कह सकते हैं। गणितीय दृष्टि से इसका मतलब यह है कि मोड्लों के संकेतों (सिग्नलों) का संकुल बहुविम व्योम के रूप में दिखता है और हर मूर्त्त चित्र उसमें एक बिंदु की तरह होता है। किसी चित्र को पहचानने के लिये पहले सभी लक्षणों को याद कर लेना चाहिये, फिर जब रेटीना से नया चित्र प्राप्त हो, तो उसके लक्षणों की तुलना स्मृति में पहले से अंकित पुराने लक्षणों से करनी चाहिये। यदि इसके परिणामस्वरूप तुलनाकारी उपकरण बहुविम व्योम के पुराने बिंदु पर पहुँच जाता है, तो कहा जा सकता है: "हां यह वही वस्तु है।" यदि नहीं–तो नहीं।

यहां बा. जा. पि. के स्पंदमान क्षेत्रों की याद करना बहुत ही सार्थक होगा। चूंकि पश्च वल्कुट के मोड्लों के पैटर्न इन्हीं क्षेत्रों पर आधारित होते हैं, इसलिये स्पष्ट है कि हर साक्काडिक छलांग के बाद प्रारंभिक क्षण वे ही वल्कुटी न्युरोन कार्यरत होंगे, जो सबसे निम्न व्यौम आवृत्तियों का प्रत्युत्तर देते हैं। सिर्फ बाद में बा. जा. पि. के क्षेत्रों के संकोचन के

साथ-साथ अधिक उच्च आवृत्तियां गृहित होंगी, पैटर्न के अधिक सूक्ष्म घटक वर्णित होंगे।

निष्कर्ष यह है कि चित्र स्मरण करते वक्त सरल लक्षणों के बहुविम व्योम में 'बिंदु' एकबारगी से अपने स्थान पर नहीं रख दिया जाता: पहले स्थूल लक्षणों के आधार पर उसका स्थान निर्धारण होता है, फिर सूक्ष्म लक्षणों के आधार पर। इसीलिये पहचानने का काम हर छलांग के बाद कई चरणों में संपन्न होता है–मोटा-मोटी से लेकर अति सूक्ष्मता तक। प्रक्रियाओं के इस क्रम में ही उन सभी प्रयोगों का रहस्य छिपा हुआ है, जिन्हें 1969 में अमरीकी शरीरलोचकों ने संपन्न किया था। उन्होंने टेलीवीजन के स्क्रीन पर चित्र को इस प्रकार रचा कि पहले निम्न व्यौम आवृत्तियां प्रकट होती थीं (चित्र के नन्हे विवरण)। यदि इन आवृत्तियों के प्रकट होने के बीच समय का अंतराल बहुत बड़ा नहीं होता था, तो आदमी ऐसे क्रमिक चित्र को सामान्य चित्र से विभेदित नहीं कर पाता था, जिसमें सारी आवृत्तियां एक साथ प्रकट होती थीं। अब समझ में आता है कि दोनों प्रकार के चित्र समान क्यों लगते थे: उच्चतर व्यौम आवृत्तियों के प्रकट होने की दर बा. जा. पि. के क्षेत्रों की संकोचन-दर के अनुरूप होती थी और दृष्टि-उपकरण के लिये इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता था कि उच्चावृत्तिक घटक मस्तिष्क में कुछ देर से पहुँचते थे।

–वादिम दाविदोविच,–मैंने ग्लेजेर से पूछा,–फिर हम परिरेखाएं कैसे देखते हैं? क्षेत्र तो बुनन की प्रकृति और उससे आच्छादित प्रखंडों के आकार दर्शाते हैं, फिर परिरेखाएं कहां गयीं?

–यह दिखाना विशेष क्षेत्रों का काम है। जब हमने उनकी खोज की, तो आश्चर्य हुआ कि वे तीन 'परतों वाले पराँठे' जैसे हैं: बीच वाले भाग को वल्कुट के न्युरोन उद्दीपित करते हैं और पार्श्व भागों को दमित करते हैं। यदि ऐसी बुनन पूरे क्षेत्र पर पड़ती है या पूरा क्षेत्र बुनन के भीतर आ जाता है (दोनों एक ही बात है) तो सिग्नल नहीं मिलता, पार्श्व भाग केंद्र के उद्दीपक सिग्नल को दमित कर देते हैं। लेकिन यदि एक भी पार्श्व भाग बुनन की सीमा से बाहर रहता है, दूसरे प्रकार की बुनन पर आ जाता है, तो क्षेत्र का उद्दीपक केंद्र एकाकी दमनकारी पार्श्व भाग पर विजय प्राप्त कर लेता है। फलस्वरूप उपबिंब की परिरेखा उद्दीपित न्युरोनों की लरी द्वारा पृष्ठभूमि से कट कर उभर आती है...

–आपने उपबिंब का नाम लिया? यह क्या है?

–इस शब्द से हम बुनन की दृष्टि से समज प्रखंडों को द्योतित करते हैं। घास भरी मैदान में वृक्ष को देखिये: चित्र में बुनन की दृष्टि से तीन उपबिंब हैं–तना, फुनगियां और पृष्ठभूमि के रूप में घास। लकड़ी पर खुदाई का कोई काम देख लीजिये: उत्कीर्णक की सारी कला बुनन के विभिन्न उप-बिंबों के प्रभावशाली उपयोग पर ही निर्भर करती है। वैसे, उपबिंब कोई परम अवधारणा नहीं है। 'पेड़' के बिंब के लिये उपबिंब 'तना' और 'फुनगियां' हैं, लेकिन फुनगी का बिंब 'टहनियों' और 'पत्तियो' के उपबिंबों से बना है।

विश्व विराट और बहुविध है, उसमें बिंबों और उपबिंबों की सोपानाधीनता भी उतनी ही बहुविध है। लेकिन हमारे लिये यह स्पष्ट हो जाना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है कि प्रकृति ने रेटीना और पश्च वल्कुट से निकासरत संकेतों के बीच इतने

ढेर सारे रूपांतरकारी चरण क्यों रख दिये। इन रूपांतरणों के बगैर पृष्ठभूमि से अन्य बुनन द्वारा बने उपबिंब को अलग करना संभव नहीं होता, जबकि यह काम जंतुओं के लिये जीवनावश्यक है–हिंसक पशुओं के लिये भी और उनका शिकार बनने वालों के लिये भी।

इसके अतिरिक्त, उपबिंबों के तंत्र की सहायता से जगत का वर्णन बहुत मितव्ययी रीति है। आखिर दृष्टि और चिंतन का उद्देश्य क्या है? यह निर्धारित करना कि व्योम में वस्तुओं की पारस्परिक स्थिति कैसी है और समय के साथ-साथ कैसे परिवर्तित होती है। यह किसी भी अभिज्ञानात्मक कार्यकलाप का सामान्य सूत्र है। अभी तो हमारा लक्ष्य बहुत छोटा सा है: यह देखना कि मैदान में पेड़ के सामने आदमी कैसे चलता है। और सचमुच, पश्च व शंख वल्कुट के रेटीनो-प्रकाशिकीय व्योम में उसका (आदमी का) उपबिंब 'मैदान' और 'वृक्ष' के उपबिंबों को स्पर्श नहीं करता। इसलिये मस्तिष्क को संपूर्ण चित्र में अपेक्षाकृत छोटे-मोटे परिवर्तन ही करने पड़ते हैं और सुचनाओं का संसाधन सरलतम हो जाता है। अल्प शक्ति से विजय प्राप्त करना ही तो जीवन-संघर्ष में प्रथम आने के लिये पहली शर्त्त है। जीव का अस्तित्व सूचना प्राप्त करने के लिये नहीं, जीने के लिये है...

जब रेटीनो-प्रकाशिकी की बात चल ही गयी है, तो बता दें कि बिंबों से काट-छाँट कर बनाये गये उपबिंब (और इसीलिये खुद बिंब भी) पश्च वल्कुट के न्युरोनी व्योम में वे ही आपसी संबंध रखते हैं, जो आँख के लेंस (क्रिस्टलीन) द्वारा रेटीना पर प्रक्षिप्त किये जाते हैं। क्योंकि वस्तुएं हमारे सामने के व्योम में वैसी ही पारस्परिक स्थितियों में होती हैं। लेकिन

एक सिद्धांततः महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पश्च वल्कुट के न्यु-रोनी जाल में हमें कोई भी परिरेखा, पर्याकृति नहीं दिखेगी। जो चीज रेटीना पर पर्याकृतियों के रूप में सच्चे तौर पर होती है, वही चीज वल्कुट में भी सच्चे तौर पर होती है, लेकिन पर्याकृतियों के गणितीय प्रतिमान के रूप में होती है। ठीक वैसे ही, जैसे वैश्लेषिक ज्यामिति में बिंदु, रेखाएं और तल नहीं होते, सिर्फ उनके बीजगणितीय समीकरण होते हैं। मस्तिष्क लगभग ऐसे ही गणित की संक्रियाएं करता है, लेकिन खंड-मिथ्याहोलोग्राफी के सहारे।

फल यह होता है कि हम विस्तृत व्योम का दर्शन करते हैं, जो हमारे सामने सिर्फ प्रकाशमान और अंधेरे धब्बों के मेल ही नहीं, नियत क्रम में व्यवस्थित बुनन-प्रखंडों के मेल के भी रूप में उपस्थित होता है, जिनकी अपनी स्पष्ट सीमा-रेखाएं भी होती हैं। (और चूंकि रेटीना के व्योम में प्रकाश-ग्राहित्रों की सघनता समसर्वत्र नहीं है, इसलिये हम भिन्न स्पष्टताओं वाले चित्र देखते हैं, और जिस वस्तु को हम अधिक स्पष्टता से देखना चाहते हैं, उस ओर हमें केंद्रीय खातिका को उन्मुख करना पड़ता है।)

– एक और बात की ओर आपका ध्यान दिलाना चाहूँगा, – ग्लेजेर ने कहा, – कि मिथ्याहोलोग्राफिक युक्ति, जो सरल लक्षण विरचित करती है, दृष्टि-उपकरण को जंतिकीय रूप से मिली हुई है। इसका मतलब है कि वह सभी लोगों में समान है। इसीलिये जब मैं और आप किसी एक ही वस्तु को देखते हैं, तो वह पश्च वल्कुट के न्युरोनी जाल में एक जैसी ही प्रतिबिंबित होती है। लेकिन आगे क्या होगा, प्राप्त चित्र में कौन सा अर्थ दिखेगा, यह आदमी की शिक्षा, उसके अनुभव आदि सामाजिक घटकों पर निर्भर करेगा। लेकिन बिंबों का दृष्टि-आधार सब के लिये एक जैसा है।

अध्याय 8

रंग-मंजषा

...रंग की उत्पत्ति के लिये आवश्यक है कि प्रकाश और अंधकार हो, प्रकाशमान और अंधेरा हो, या अधिक व्यापक सूत्र का उपयोग किया जाये तो, प्रकाश और अप्रकाश हो!

– गेटे

जब 1903 में फ्रांसीसी रसायनविद लूई जाक ल्युमिएर (Lois Jacque Lumiere) ने रंगीन फोटो-चित्र प्राप्त करने के लिये काम शुरू किया, तो उस समय यह बिल्कुल नहीं जानते थे कि मुर्गी की रेटीना किस तरह बनी होती है (ल्युमिएर ने ही अपने भाई औगुस्त के साथ मिल कर सिने-मा का आविष्कार किया था)। फिर भी अपने नये आविष्कार में उन्होंने एक तरह से मुर्गी की ही रेटीना की बनावट का अनुकरण किया था।

अनेक चिड़ियों और कुछ प्रकार के कछुओं में प्रकृति ने रेटीना के बिल्कुल समान ग्राहित्रों के सामने प्रकाश-छन्ने लगा रखे हैं। ये छन्ने लाल, नारंजी और हरिताभ पीले रंगों की वसीय कोशिकाओं से बने हैं। रंगहीन छन्ने भी हैं। ल्युमिएर ने स्टार्च के दानों को लाल, हरे और नीले रंग से रंग कर इस तिरंगे चूर्ण को फोटो-प्लेट पर छिड़क दिया।

आविष्कारक रंगीन दृष्टि के उस सिद्धांत का अनुसरण कर

रहे थे, जिसे आजकल त्रिघटकीय सिद्धांत कहा जाता है। इस सिद्धांत का उद्गम निम्न भाषण में मिलता है: "प्रकाश की उत्पत्ति पर व्याख्यान, रंगों का नया सिद्धांत, सम्राटाधीन विज्ञान अकादमी की सार्वजनिक सभा में 1 जुलाई 1756 को मिखाईल लोमोनोसोव द्वारा प्रस्तुत!"

लोमोनोसोव ने उक्त व्याख्यान में निम्न बात बतायी थी: "मैंने एक बार देखा था, फिर वर्षों तक प्रेक्षण करता रहा, फिर प्रयोगों से पर्याप्त संभाव्यता के साथ सिद्ध किया कि ईथर-कणों की प्रकृति तीन प्रकार के क्रियाशील प्रारंभिक कणों के अनुरूप है, जो संवेदी पिंड बनाते हैं... प्रथम प्रकार के ईथर से लाल प्रकाश उत्पन्न होता है, दूसरे से–पीला, और तीसरे से–नीला। अन्य रंग इन्हीं के मेल से उत्पन्न होते हैं... प्रकृति इसीलिये तो आश्चर्यजनक है कि वह अपनी सरलता में बहुत चालबाज है, कारणों की अल्प संख्या से ही गुणों, परिवर्तनों और संवृत्तियों की असंख्य छवियां उत्पन्न कर देती है।"

इस साहसपूर्ण विचार का उस समय वैज्ञानिक जगत में सही मूल्यांकन नहीं हो पाया था। सिर्फ आधी शती बाद ही अंग्रेज भौतिकविद थोमस यंग ने इस पर ध्यान दिया; उनके कथनानुसार, लोमोनोसोव के विचारों से उन्हें सोचने का मसाला मिला था। यंग ने एक बहुत ही स्पष्ट बात की ओर ध्यान दिया: रेटीना का काम ही है मस्तिष्क को वस्तु की आकृति और उसके रंग की सूचनाएं देना (मस्तिष्क की उच्च स्तरीय संरचनाओं और उनकी भूमिका के बारे में अवधारणाएं उस समय अंकुरावस्था में ही थीं), लेकिन वस्तु का कोई भी भाग किसी भी वर्णाभा से रंजित हो सकता है।

इसलिये प्रश्न उठता है: आँख रंगों की इतनी बड़ी विविधता को देखने में सक्षम कैसे होती है? क्या रेटीना के हर खंड में ऐसे असंख्य तत्त्व हैं, जिनका काम है अपनी-अपनी रंगाभा पर प्रतिक्रिया करना? शायद ही! क्योंकि ऐसी व्यवस्था बहुत ही जटिल होगी। यहां हम विलियम ओक्काम और उनके सिद्धांत को स्मरण कर सकते हैं। (समय से पहले थोड़ा यह भी बता देते हैं कि रंग अनुभूत करने वाले क्षेत्रों की यह असंख्य संचि अब ढूंढ़ी जा चुकी है, लेकिन रेटीना पर नहीं, मस्तिष्क-वल्कुट में...)

एक अन्य अनुमान कहीं ज्यादा तर्कसंगत था: रंग अनुभूत करने वाली कोशिकाओं की संख्या अपेक्षाकृत बहुत अल्प है, लेकिन उनके सम्मिलित कार्य के कारण रंगों की अनंत विविधता की अनुभूति होती है। लोमोनोसोव द्वारा बताये गये तीन प्रकार के ईथर यंग के सिद्धांत में रेटीना के तीन प्रकार के रंग-संवेदी तत्त्वों में परिणत हो गये। इस परिकल्पना को हेल्महोल्ट्स ने अपनी "मनोलोचनी प्रकाशिकी की निदर्शिका" नामक कृति में विकसित किया, जो 1859-1866 में प्रकाशित हुई थी; इसमें हेइडेलबेर्ग विश्वविद्यालय के छात्रों को शरीर-लोचन के अध्यापन का अनुभव प्रतिबिंबित हुआ था। इसके बाद यंग-हेल्महोल्टस का यह त्रिघटकीय सिद्धांत दृष्टि-विज्ञान में सर्वमान्य हो गया।

अब यह तथ्य बिल्कुल सही-सही स्थापित हो चुका है कि रेटीना में वर्णिक प्रकाश-ग्राहित्र–शंकु–सचमुच तीन प्रकार के हैं। इनमें से एक की अधिकतम संवेदिता पीली किरणों के प्रति होती है, दूसरे की हरी और तीसरे की नीली किरणों के प्रति। बंदरों के शंकुओं में यहां तक कि मापक उपकरणों

की भी पहुँच संभव हो गयी है; ये जंतु रंगों की विविधता को ठीक आदमी की तरह ही अनुभूत कर सकते हैं। विद्यु-चुंबकीय विकिरण की आवृत्ति के साथ तत्त्वों (शंकुओं) का संबंध लगभग वैसा ही है, जैसा त्रिघटकीय सिद्धांत के अनुसार होना चाहिये था: प्रत्युत्तरों (प्रतिक्रियाओं) के ग्राफ विस्तृत क्षेत्र दर्शाते हैं; एक-दूसरे को काटते वक्रों का धुंधलापन रंगों की अनुभूति का द्योतक है।

लेकिन प्रकृति ने हमारी रेटीना के प्रकाश-ग्राहित्रों के सामने कोई प्रकाश-छन्ना नहीं रखा। उसने एक इससे भी बेहतर उपाय कर रखा है: उसने प्रकाश-संवेदी वर्णकों के चंद भेद रच दिये हैं, जो 'अपने-अपने' क्वांटमों को उत्तम प्रकार से ग्रहण करते हैं (क्वांटम प्रकाश के या व्यापकतः – विद्युचुंबकीय दोलनों के – अल्पतम अंश को कहते हैं; उनकी आवृत्तियां भिन्न हो सकती हैं)।

आदमी की आंख एक अत्यंत संवेदी तंत्र है। अकादमीशियन सेर्गेई वावीलोव ने अपनी पुस्तक "आँख और सूरज" में लिखा था कि अंधेरे में हम रेटीना पर स्थित 'छड़ों' की सहायता से देखते हैं; उनको क्षोभित करने वाले संकेतों की दहलीज (अवसीमा; निम्नतम सीमा) दो सौ किलोमीटर की दूरी से दिखने वाली साधारण मोमबत्ती के प्रकाश के समतुल्य है। इस स्थिति में रेटीना के उस खंड पर, जहां लगभग 400 छड़ें हैं, प्रकाश का सिर्फ छह से दस क्वांटम ही पहुँचता है। इसका अर्थ यह है कि प्रकाश-ग्राहित्र के काम करने के लिये एक अकेला क्वांटम भी काफी होता है, क्यों कि इसकी संभाव्यता बहुत कम है कि प्रकाश के दो कण ठीक एक ही ग्राहित्र पर आ गिरेंगे।

ऐसे प्रयोग भी किये गये हैं, जिनमें आँख सचमुच प्रकाश की क्वांटमी प्रकृति को महसूस करती है (इतना संवेदी एक भी उपकरण नहीं बनाया जा सकता है!), इसीलिये यह कुछ जादू सा लगता है कि प्रकृति ऐसी प्रयुक्ति कैसे रच सकी। उत्तर नवीनतम अन्वीक्षणों से ही ज्ञात हो सका है: प्रकाश-संवेदी कोशिका में उड़ कर आया हुआ फोटोन बंदूक के घोड़े को दबाने वाली उंगली की तरह काम करता है।

किसी भी जीवित प्राणी के प्रकाश-ग्राहित्रों में विटामीन A का एक परिवर्तित रूप – रेटीनाल – अवश्य रहता है। उसके अणु में एक नन्ही-सी दुम होती है, जिसकी लंबाई कार्बन के तीन परमाणुओं के बराबर होती है। जबतक अणु में फोटोन प्रविष्ट नहीं होता, दुम उस तल के साथ अभिलंब होती है, जिसपर कार्बन के अन्य परमाणु स्थित होते हैं। क्वांटम (फोटोन) दुम को मोड़ देता है, जिससे अणु पूरी तरह समतल हो जाता है। छड़ों और शंकुओं के बाह्य सूक्ष्म अंगों पर रेटीनाल के अणु स्तंभ के रूप में रखे सिक्कों जैसी चकतियों के साथ जुड़े होते हैं। चकतियां अनेक होती हैं, उदाहरणार्थ, मेढ़क की आँख में स्थित प्रत्येक छड़ में उनकी संख्या दो हजार तक होती है और उन पर रेटीनाल के कई करोड़ अणु होते हैं। फोटोन बिना टकराये उनसे बच कर निकल जाये, इसकी संभावना बहुत ही कम है। किसी न किसी चकती का कोई न कोई रेटीनाल-अणु उसे अवशोषित कर ही लेगा।

सबसे रोचक बात यहीं से शुरू होती है। प्रकाश-ग्राहित्र के बाह्य अंग की दीवार – झिल्ली – चारों ओर के द्रव के साथ मिलकर एक सूक्ष्म बिजली-घर बनाती है, या अन्य शब्दों

जरूरत नहीं है, इसीलिये क्रिस्टलीन एक तरह से परावैंगनी किरणों को रोक देता है। लेकिन यदि आपरेशन से आँख का क्रिस्टलीन निकाल कर उसकी जगह पारदर्शक प्लास्टिक का लेंस लगा दिया जाता है, तो रोगी परावैंगनी प्रकाश देने वाले विशेष लैंप से भी पुस्तक पढ़ने में समर्थ हो जाता है! सामान्य लोग ऐसे प्रकाश में कुछ भी नहीं देख पाते, इसीलिये उन्हें इस क्षमता में अलौकिकता का संदेह होने लगता है। (इस तरह का आपरेशन हमारे देश में पहली बार स्तानिस्लाव फ्योदोरोव ने किया था; आप प्रतिभाशाली नेत्रलोचक करोर्जक हैं और अभी सोवियत विज्ञान अकादमी के पत्र-सदस्य और मास्को सूक्ष्म नेत्र-करोर्जन अनुसंधान संस्थान के निदेशक हैं।)

जब प्रकाश का क्वांटम किसी भी वर्णक के रेटीनाल से टकराता है, तो वह (रेटीनाल) ओप्सिन से वियुक्त होकर वर्णहीन (निरंजित) हो जाता है। रोडोप्सिन, जिसे अपने रंग के कारण दृश्य-लोहित कहा जाता है, हल्का पीला और लगभग पूर्ण पारदर्शक हो जाता है। रेटीना पर जहां प्रकाश अधिक पड़ता है, वहां पारदर्शकता और भी तीव्र होती है, वहां एक तरह से फोटोग्राफिक चित्र उभर आता है। इन शब्दों पर जोर देना चाहिये: एक तरह से! क्योंकि प्रक्रिया कुछ मंद होती है और आँख निरंतर गतिशील होती है। वैसे, यह बात सनसनीखेज खबरों के प्रेमियों के लिये बाधक नहीं बन सकी, पिछली शती के उत्तरार्ध में उन्होंने यह किंवदंती गढ़ ही दी कि मृतक की रेटीना पर वह दृश्य अंकित हो जाता है, जो वह अंतिम क्षणों में देखता है। अपराध-अन्वीक्षक को इतना ही करना पड़ता है कि वह सावधानी से रेटीना निकाल ले (एक
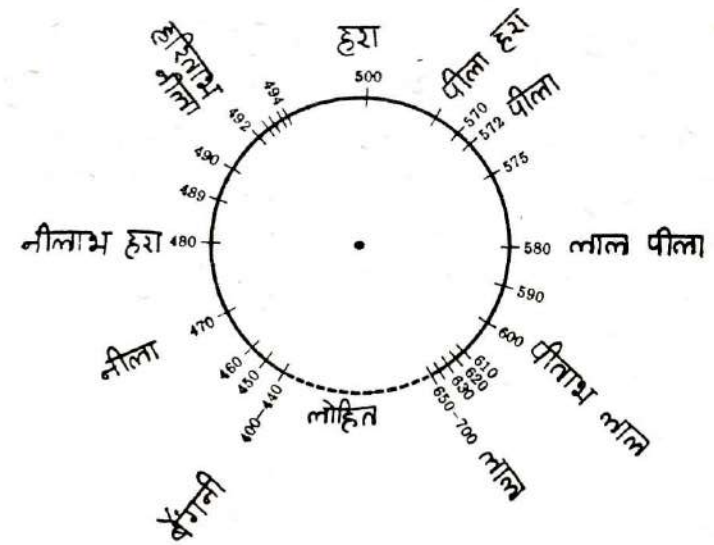
रंगवृत्त। ध्यान दें: श्वेत रंग 'रंगीन' किरणों की कई जोड़ियों के मिश्रण से उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि भौतिकी के अनुसार रंग पिंडो द्वारा निश्चित स्पेक्ट्रमी संरचना और तीव्रता के दृश्य विकिरण के प्रतिबिंबन या उत्सर्जन का गुण है।

अन्य विचार के अनुसार, वह आँख का फोटो-चित्र खींच ले), और बस हत्यारे की तस्वीर मिल जायेगी। लेकिन सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रयोगों द्वारा भी यह धारणा सिद्ध नहीं हो पायी। निश्चय ही अफसोस की बात है कि प्रकृति ने न्यापालिका को इतने मजबूत सुराग से वंचित कर दिया, खैर, क्या किया जाये...

अब पुनः यंग-हेल्महोल्ट्स के सिद्धांत की ओर लौटें। वह इस बात की व्याख्या ठीक-ठीक कर देता है कि स्पेक्ट्रम के वर्णों से विभिन्न रंग कैसे उत्पन्न होते हैं। वह यह भी बताता है कि आँख को 'धोखा' देते हुए बिल्कुल भिन्न प्रकार की किरणों को मिला-मिला कर एक ही समान का रंग किस

15—1646

प्रकार दिखाया जा सकता है: इसके लिये सिर्फ भिन्न शंकुओं को तदनुरूप ढंग से उद्दीपित कर लेना काफी रहेगा। किरणों के अनेक मेल हैं, जिन्हें हम श्वेत प्रकाश के रूप में अनुभूत करते हैं, उदाहरणार्थ – 486 व 590 नानोमीटर लंबाई की प्रकाश-तरंगों (नीली व नारंजी किरणों) का मेल, 467 व 572 नानोमीटर की प्रकाश-तरंगों (नीली व पीताभ हरी किरणों) का मेल, 494 व 640 नानोमीटर की प्रकाश-तरंगों (लाल व हरी किरणों) का मेल, आदि, आदि ...। साथ ही, लाल और हरी किरणें मिलकर एक बहुत प्यारी पीली आभा उत्पन्न करती हैं, लेकिन यही आभा नारंजी और हरिताभ-नीले प्रकाश से भी उत्पन्न हो सकती है ... स्पेक्ट्रम के मध्य भाग में स्थित किसी भी रंग को उत्पन्न करने के लिये हजारों नुस्खे बताये जा सकते हैं। पाठ्य-पुस्तकों में इन तथ्यों का रोचक वर्णन करते समय यह नहीं बताया जाता कि यह सिद्धांत किन संवृत्तियों को समझाने में असमर्थ होता है।

बात यह है कि रंगों का त्रिघटकीय सिद्धांत दृष्टि की कतिपय त्रुटियों को ठीक से नहीं समझा पाता। उदाहरणार्थ, डाल्टनता से ग्रस्त कुछ लोग सिर्फ नीला रंग देख पाते हैं और बाँकी सभी रंग काले-सफेद रूप में ही देखते हैं। इसका कारण नहीं समझ में आता, क्योंकि इस सिद्धांत के अनुसार सफेद रंग तीन प्रकार के शंकुओं से प्राप्त तीन प्रकार के संकेतों (सिग्नलों) का परिणाम है; यदि यह सही है, तो कुछ अन्य रंग भी अवश्य दिखने चाहिये। सचमुच, जब नर्व-शरीरलोचक लोग रेटीना की गुच्छिकीय कोशिकाओं में अपने उपकरण प्रविष्ट कराने में सफल हुए और उन्हें श्वेत नहीं, बल्कि विभिन्न रंगों से प्रकाशित करने लगे, तो पता चला

कि शंकुओं से संकेत तो मिलते है, लेकिन उनका मेल उस तरह नहीं होता, जैसे यंग और हेल्महोल्ट्स सोचते थे। क्या किया जाये, विज्ञान अपनी जगह पर स्थिर तो रहता नहीं है, हर सिद्धांत का उत्थान और पतन होता रहता है ...

नीले-सफेद रूप वाली डाल्टनी त्रुटि के आधार पर प्रसिद्ध जर्मन शरीर लोचक एवाल्ड हेरिंग ने 1874 में एक परिकल्पना प्रस्तुत की, जो त्रिघटकीय सिद्धांत से बहुत भिन्न थी: इसमें आधार संकेतों के संयोजन (जोड़) को नहीं, उनके अंतर (घटाव) को माना गया था। हेरिंग ने यह विचार रखा कि आँख के संवेदी तत्त्वों में तीन प्रकार के द्रव्य होते हैं; इनमें से एक तो लाल किरणों की अभिक्रिया से विघटित होने लगता है और हरी किरणों से पुनः संश्लिष्ट होता है; दूसरे द्रव्य में ये परिवर्तन क्रमशः नीली व हरी किरणों से उत्पन्न होते हैं। तीसरा द्रव्य काले और सफेद के प्रति संवेदी होता है। कई लोगों को यह युक्तिसंगत नही लगा: भला काला प्रकाश किसी ने कहीं देखा है? फिर इस तरह के द्रव्य मिले भी नहीं और उसपर से हेल्महोल्ट्स के सिद्धांत का दबदबा था, जो बहुत हद तक सही भी था। हेरिंग की परिकल्पना को पाठ्यपुस्तकों में एक ऐतिहासिक तथ्य और मजाक के ही रूप में याद किया जाता था। लेकिन उनकी कृति प्रकाशित होने के करीब नब्बे वर्ष बाद रोबेर्ट डे वालुआ और जार्ज जेकब के एक निबंध में प्रकाशित हुआ: मेढ़क की रेटीना की गुच्छिकीय कोशिकाएं 'हेरिंग के अनुसार' ही काम करती हैं!

याद है, हमने रेटीना में प्रतिकर्मी संपर्क की बात बतायी थी? वहां हमने एक ऐसा तंत्र देखा था, जिसके सहारे मस्ति-

ष्क में गुच्छिकीय कोशिकाओं के संकेत पहुँचते हैं; ये संकेत रेटीना के किसी भी खंड पर प्रकाश की चमक नहीं, वरन् एक औसत चमक या प्रकाशिता से विचलन का बोध कराते हैं; इस औसत प्रकाशिता से ऊपर श्वेत प्रकाश होता है और नीचे... उसे काला ही कहा जा सकता है, और क्या!

यही बात रंगों के भी संकेतों के साथ है। रंगीन किरणों को मेढ़क की रेटीना गुच्छिकीय कोशिकाओं के क्षेत्रों की सहायता से अनुभूत करती है। लेकिन प्रत्युत्तरों के अनुसार क्षेत्रों की बनावट कहीं अधिक जटिल है, बनिस्बत कि काला-सफेद की अनुभूति कराने वालों से। मान लें कि हरे किरणों के लिये एक क्षेत्र में 'औन-केंद्र' और औफ-परिसर है। जबतक उस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, गुच्छिकीय कोशिका मस्तिष्क में स्वतःस्फूर्त सक्रियता के संकेत भेजती रहती है, जो बहुत विरल एवं सांयोगिक होते हैं (उन्हीं की सहायता से पूर्ण अंधकार में भी आँखों के सामने कालापन नहीं, बल्कि एक भूरी, हिलती-डुलती सी झिल्ली दिखती है)। अब प्रयोगकर्त्ता केंद्र पर हरा प्रकाश डालता है—स्वतःस्फूर्त सक्रियता स्पंदावेगों की लरी में बदल जाती है: "प्रकाश है!", बत्ती बुझाते ही केंद्र दमित हो जाता है, यहां तक कि स्वतःस्फूर्त्त सक्रियता भी कुछ देर के लिये थम जाती है। परिसर के लिये ये संबंध विपरीत हो जाते हैं। लाल प्रकाश का वलय स्वतःस्फूर्त सक्रियता को दमित कर देता है, प्रकाश बुझाने पर गुच्छिकीय कोशिका संकेत भेजने लगती है। ऐसी भी गुच्छिकीय कोशिकाएं हो सकती हैं जिनका 'औफ-केंद्र' लाल हो और 'औन-परिसर' हरा हो, 'औन केंद्र' लाल हो और 'औफ-परिसर' हरा हो, 'औफ-केंद्र' हरा हो और 'औन-परिसर' लाल हो,

आदि, आदि। ऐसे ही चार जोड़े पीली तथा नीली किरणों के लिये भी होते हैं। (प्रिमातों में यह काम न्युरोनी वल्कुट करता है।)

मेढ़क के मस्तिष्क में स्थित बाह्य जानुल पिंड के न्युरोन 'तराजूओं' की भूमिका निभाते हैं, जो प्रकाशीय संकेतों को तौलते हैं। प्रथम प्रकार के न्युरोन लाल से उद्दीपित होते हैं और हरे से दमित होते हैं, दूसरे प्रकार के न्युरोन ठीक इसका उल्टा काम करते हैं: लाल से दमित होते हैं और हरे से उद्दीपित होते हैं। तीसरे और चौथे प्रकार के न्युरोन यही काम नीली एवं पीली किरणों के साथ करते हैं।

डे वालुआ ने ज्ञात किया कि बा. जा. पि. की इन कोशिकाओं की प्रतिक्रिया सिर्फ उन पर पड़ने वाले प्रकाश की तरंग-लंबाई पर ही नहीं, प्रकाशिता में परिवर्तन पर भी निर्भर करती है। मान लें कि हम उस कोशिका का अध्ययन कर रहे हैं, जो लाल प्रकाश से दमित हो जाती है और हरे प्रकाश से उद्दीपित हो जाती है। लाल किरण की जगह पीली भेजने पर हमें उद्दीपन दिखाई देगा: अधिक लंबी किरण (अर्थात् अधिक तरंग-लंबाई वाली किरण) अपेक्षाकृत छोटी किरण में परिणत हो गयी है। लेकिन यदि वही पीली किरण उद्दीपक हरी की जगह भेजी जाये (छोटी किरण की जगह लंबी किरण), तो दमन प्रतिक्रिया उत्पन्न होगी। इसका मतलब है कि गुच्छिकीय कोशिकाओं का प्रत्युत्तर तरंग-लंबाई के परम मान पर नहीं, वरन् 'पिछले' प्रकाश की तरंग-लंबाई से विचलन पर निर्भर करता है। त्रिघटकीय सिद्धांत के अनुसार यह बिल्कुल असंभव है।

अब उद्दीपक हरे प्रकाश की चमक में परिवर्तन लाने की

कोशिश करें – बा. जा. पि. की कोशिका अपने संकेतों को इन परिवर्तनों के अनुसार बदलने लगेगी।

बा. जा. पि. की इस जैसी अन्य कोशिकाएं भी इसी प्रकार काम करती हैं। अब देखिये कितनी आश्चर्यजनक वस्तुस्थिति प्राप्त होती है: न्युरोनों के लिये यह बिल्कुल महत्त्वपूर्ण नहीं है कि बा. जा. पि. की विचाराधीन कोशिका के छेत्र पर आपतित प्रकाश के हरे या लाल होने का कारण क्या है। चाहे चमक में परिवर्तन हो (सूर्य बादलों से निकल आये) या स्पेक्ट्रम में भिन्न तरंग-लंबाइयों वाली किरणें मिश्रित हो जायें (सूरज ठीक सर के ऊपर आ जाये अथवा क्षितिज के पास अपनी गेरुआ आभा बिखेरने लगे) – हर हालत में बा. जा. पि. के न्युरोनों की प्रतिक्रिया सिर्फ इस परिवर्तन की दिशा के अनुरूप होगी। यह वैसा ही है, जैसे उत्तोलक झूले पर एक ओर बैठा बच्चा ऊपर जाता है, तो दूसरी ओर का – नीचे ...

लेकिन इससे एक अन्य निष्कर्ष भी निकलता है, जो कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। रेटीना के ग्राहित्रों और बा. जा. पि. के न्युरोनों की सहायता से मेढ़क रंग देख पाने की स्थिति में नहीं होता। और हम भी नहीं होते। ज्यादा से ज्यादा हम यही जान सकते हैं कि विचारधीन न्युरोन के क्षेत्र में उत्पन्न बिंब वाले हिस्से पर रंग स्पेक्ट्रम की किस दिशा में बदलता है (लाल सिरे से बैंगनी की ओर या इसके विपरीत)। इसका अर्थ यह है कि यहां भी हमें वही सिद्धांत प्राप्त होता है: रंग मस्तिष्क के उच्च विभागों में रचा जाता है, रेटीना इसके लिये सिर्फ आवश्यक सामग्री प्रदान करती है। और सचमुच, 1977 में ग्लेजेर के एक शिष्य आल्गिस बेर्तूलिस ने अपने

सहकर्मियों के साथ (और साल भर बाद अमरीका के डी. माइकेल ने) बंदर के पश्च वल्कुट में वैसे ही क्षेत्र ज्ञात किये, जैसे ह्युबेल और वीजेल ने बिल्ली में काले-सफेद उद्दीपकों के लिये ज्ञात किये थे; लेकिन ये क्षेत्र नियत रंगों के सभी संभव झुकावों (दिग्ग्रहों) वाली धारियों पर प्रतिक्रिया करते थे। अब सिर्फ इतना सिद्ध करना रह गया था कि वल्कुट के न्युरोन रंगीन – लाल-हरी और हरी-नीली – जालियों पर भी प्रतिक्रिया करते हैं। न्युरोनों के साथ प्रत्यक्ष एवं परोक्ष – मनोलोचनी – प्रयोगों से समानार्थी परिणाम मिले। उदाहरणार्थ, प्रयोगाधीन व्यक्ति को दो जालियां दिखायी गयीं: उदग्र लाल-काली और क्षैतिज नीली-काली। इसके बाद दो काली-सफेद जालियां प्रकट हुईं – उन्हीं व्योम आवृत्तियों की, उदग्र और क्षैतिज। लेकिन वे दिखती थीं काली-हरी और काली-पीली। यह परिणाम क्रमबद्ध वर्ण-विपर्यास के नियम के अनुसार 'भ्रामक' रंग पिछले वास्तविक रंग के अतिरिक्त दिखायी देता है (न्युरोनी 'उत्तोलक झूले' के कार्यानुसार)।

भ्रम? लेकिन हम तो यह जानते हैं कि कोई भी भ्रम जान-बूझ कर असामान्य परिस्थितियों में डाले गये दृष्टि-उपकरण या किसी अन्य न्युरोनी प्रयुक्ति के सामान्य कार्य का प्रतिबिंब है। यहां भी वही बात है। प्रयोग तभी सफल होता है, जब रंगीन और काली-सफेद जालियों की व्योम आवृत्तियां समान होती हैं (जाहिर है कि परिवर्तनों की एक निश्चित सीमा में ही)। विपरीत स्थिति में वह प्रभाव नहीं उत्पन्न हो पाता। वल्कुट के रंग-संवेदी क्षेत्र, जो रंगीन जाली पहचानने के लिये समंजित होते हैं, शायद उसी तरह काम करते हैं, जैसे मेढ़कों के बा. जा. पि. के क्षेत्र। यदि प्रयोग

के प्रथम चरण में वे उद्दीपित होते हैं और यह संकेत देते हैं कि 'रंग है!', तो दूसरे चरण में श्वेत किरण उनके लिये 'उनके अपने' रंग की चमक में कमी के रूप में अनुभूत होती है (क्योंकि श्वेत प्रकाश में कोई भी रंग तीव्रता से हावी नहीं रहता; तभी तो वह श्वेत है)। इस तरह हमें संकेतों के लाल-हरे या नीले-पीले अक्ष पर एक 'फिसलन' प्राप्त होता है और इसीलिये लाल की जगह हरी आभा और नीली की जगह पीली आभा दिखने लगती है। यह भी 'झूला' ही है...

इससे ग्लेजेर और प्रयोगशाला में उनके सहकर्मियों ने निम्न निष्कर्ष निकाला: रंगीन दृष्टि के लिये आवश्यक है कि पश्च वल्कुट में काले-सफेद क्षेत्रों के अतिरिक्त, जो चित्र का खंड--मिथ्याहोलोग्राफिक बिंब प्रस्तुत करते हैं, ऐसे न्युरोन भी अवश्य होने चाहिये, जो उसी मिथ्याहोलोग्राफिक प्रणाली से रंगों को प्रतिबिंबित करते हैं। रंग-प्रेषण के ये ही वे चैनेल हैं, जिनके अस्तित्व का बहुत पहले ही अनुमान किया गया था। आल्गिस बेर्तूलिस ने 1980-1982 में उनकी एक अत्यंत रोचक विशेषता का पता लगाया: चैनेल (अर्थात् उनके ग्राहक क्षेत्रों के घटक) अपेक्षाकृत निम्नतर व्यौम आवृत्तियां ही प्रेषित कर सकते हैं। इसका मतलब है–यदि स्पेक्ट्रम में परस्पर दूर-दूर वाले रंग (जैसे लाल और बैंगनी) हैं, तो 10 चक्र प्रति डिग्री से अधिक नहीं; और यदि लाल और नारंजी में, हरे और आसमानी में, नीले और बैंगनी में भेद करना हो, तो 2-3 चक्र प्रति डिग्री तक ही। ऐसा लगता था कि रंगीन चित्र के सूक्ष्म विवरणों को देख पाने में हम सिद्धांतः असमर्थ हैं। लेकिन अनुभव कुछ और ही बताता है। सामान्य प्रकाश में हम रंगीन वस्तु को करीब

एक कोणिक डिग्री की स्पष्टता से देख पाते हैं (अर्थात् 'रंगीन दृष्टि' की स्पष्टता एक कोणिक डिग्री है)। बेर्तूलिस के प्रयोगों के अनुसार यह कम से से कम छह गुनी अधिक तो है ही, अच्छी परिस्थितियों में वह तीस गुनी अधिक भी हो सकती है। तो क्या उनसे कोई गलती हुई थी? या प्रयोग सही ढंग से नहीं चुने गये थे? नहीं! उनके अन्वीक्षण त्रुटि-हीन थे। बात सिर्फ इतनी है कि रंगीन दृष्टि को सफेद-काली दृष्टि से भी सहायता मिलती है। कैसे? यह समझने के लिये हमें यार्बुस के कुछ प्रयोगों को स्मरण करना होगा।

हमारी आँखें हर समय गतिशील हैं, लेकिन यदि उन्हें रोक दिया जाये, तो क्या होगा? इसके लिये यार्बुस ने 60 के दशक में एक सूक्ष्म उपकरण बनाया, जिसे सीधा नेत्र-गोलक पर चिपकाया जा सकता था (इसके बारे में हम पहले भी बता चुके हैं)। इस उपकरण में विचाराधीन चित्र का डायेपोजीटिव लगाया जा सकता है (जिसे आगे हम परीक्षण-वस्तु कहेंगे)। उपकरण इतना छोटा है कि वह वात-दाब से ही नेत्र-गोलक से चिपक जाता है, अतः परीक्षण-वस्तु नेत्र के सापेक्ष निश्चल रहता है। फल यह होता है कि एक--दो सेकेंड में चित्र गायब हो जाता है। दृष्टि-क्षेत्र में चित्र की जगह प्रकाशमान भूरी झिल्ली सी नजर आने लगती है, जिसे आँख बंद कर के या कमरे में हठात अंधेरा कर के देखा जा सकता है। यह झिल्ली रेटीना की गुच्छिकीय कोशिकाओं की स्वतःस्फूर्त्त सक्रियता का परिणाम है।

चित्र कहां चला जाता है? परीक्षण-वस्तु पर पेंसिल की नोक से हल्की चोट करते ही वह पुनः प्रकट हो जाता है, लेकिन अगले सेकेंड फिर गायब हो जाता है। अब सब स्पष्ट

हो जाता है : चोट के कारण रेटीना के सापेक्ष चित्र की निश्चलता भंग हो जाती है। तात्पर्य यह है कि सिर्फ गति ही दृश्य-छवि उत्पन्न करती है – चाहे आँख के सापेक्ष चित्र की गति या विपरीत। दृष्टि-उपकरण काम करे, इसके लिये गति अत्यावश्यक है। जब प्रयोगाधीन चित्र (परीक्षण-वस्तु) के सामने कोई गतिमान वस्तु लायी जाती है, तो वह भूरी झिल्ली की पृष्ठभूमि पर बहुत स्पष्ट दिखती रहती है। इस पृष्ठभूमि का नाम यार्बुस ने 'शून्य रंग' रखा था।

इन प्रयोगों से एक बिल्कुल आशातीत निष्कर्ष निकलता था : प्रकाश अपने-आप में दृष्टि के लिये पर्याप्त नहीं होता। दृष्टि-तंत्र पूर्ण अंधकार का भी और आँख के सापेक्ष चित्र की निश्चलता का भी समान रूप से प्रत्युत्तर देता है – "शून्य-प्रकाश" द्वारा। यही नहीं, निश्चल परीक्षण-वस्तु की चमक कितनी भी अधिक हो, आँख उसे नहीं देख पायेगी। यार्बुस लिखते हैं : "यहां तक कि बल्ब का चकाचौंध करने वाला उत्तप्त चमकीला सर्पिल भी अदृश्य हो जाता है। दृष्टि-तंत्र में कौन-सा घटक अपना काम बंद कर देता है? शायद रेटीना। दूसरी आँख, जिसपर डायेपोजीटिव नहीं लगा होता, सबकुछ साफ देखती है। तात्पर्य : रेटीनाओं के दृष्टि-नर्वों की क्रौसिंग से आगे स्थित दृष्टि-तंत्र के सभी अंग ठीक-ठाक काम करते रहते हैं। लेकिन जब चित्र आँख के साथ चिपका रहता है, तो उसका बिंब रेटीना के सिर्फ एक ही प्रकाश-ग्राहित्रों पर पड़ता है, वे उसे एक स्थिर प्रकाशिता के रूप में ग्रहण करते हैं, जिसमें किसी तरह का परिवर्तन नहीं होता ; लेकिन उनके कार्य के लिये आवश्यकता इस बात की है कि उन पर

प्रकाशीय अभिक्रिया निरंतर बदलती रहे। आँख इसीलिये निरंतर गतिशील रहती है।

यदि किसी दृश्य-बिंब की पृष्ठभूमि पर 'शून्य-रंग' प्रकट हो जाये, तो क्या होगा? यार्बुस ने आँख पर एक ऐसी परीक्षण-वस्तु चिपकायी, जो पूरे दृष्टि-क्षेत्र को न ढके। प्रयोगागाधीन व्यक्ति को एक अद्भूत चीज दिखी : परीक्षण-वस्तु (यह महज सफेद कागज था) गिरगिट की तरह रंग बदलने लगा : हरे पर्दे पर हरा दिखता था और लाल पृष्ठभूमि पर लाल, आदि। सफेद की जगह रंगीन कागज लगाने पर भी, जैसी आशा की गयी थी, उसके 'रंग बदलने' के गुण पर कोई अंतर न पड़ा।

इस तरह एक अंतर्विरोध उत्पन्न हुआ। एक ओर तो निश्चल परीक्षण-वस्तु को चित्र के उस भाग पर 'शून्य रंग' उत्पन्न करना था, जहां वह रेटीना पर प्रक्षिप्त होता था। दूसरी ओर, दृष्टि-चैनेल इसकी पूरी उपेक्षा करते हुए 'शून्य-रंग' को चित्र के रंगों के अनुसार बदल देता है। इसका अर्थ है कि प्रकाश-ग्राहित्र चाहे जो करें, दृष्टि-तंत्र के उच्च विभागों में अपना ही चित्रकार बैठा होता है।

नर्वशरीरलोचनी दृष्टि से वह क्या है? बेर्तूलिस और उनके सहकर्मियों के प्रयोग यह सिद्ध करते हैं कि 'अन्य रंग में रंगने' का प्रभाव नेत्र-गोलक पर परीक्षण-वस्तु को चिपकाये बिना भी उत्पन्न किया जा सकता है : सामान्य निरीक्षण से ही। इसके लिये वस्तु और पृष्ठभूमि की चमक समान होनी चाहिये और वस्तु को बहुत बड़ा नहीं होना चाहिये – लगभग 20 कोणिक मिनट से अधिक नहीं (दस मीटर दूर स्थित छह सेंटीमीटर चौड़े वृत्त की कोणिक माप इतनी ही होती

है)। इस स्थिति में वस्तु और पृष्ठभूमि के बीच अंतर बहुत बड़ा भी हो सकता है, वस्तु हर हालत में पृष्ठभूमि के रंग में रंग जायेगी, पृष्ठभूमि द्वारा आत्मसात हो जायेगी।

इसका अर्थ है कि वर्ण-चैनेल नन्ही वस्तुओं की सूचना देने की क्षमता नहीं रखते। वर्णानुभूति काम करे, इसके लिये या तो वस्तु की चमक बढ़ा देनी चाहिये या पृष्ठभूमि के साथ उसका विपर्यास बढ़ा देना चाहिये। चमक पर काले-सफेद (अवर्णिक) क्षेत्र प्रतिक्रिया करते हैं। जैसे ही वे वस्तु को पृष्ठभूमि से विभेदित कर देते हैं, रंग अनुभूत करने वाले क्षेत्र काम शुरू कर देते हैं और वस्तु को वर्णाभा प्रदान करने लगते हैं। बात यह है कि चमक सरलतम अवजनित बुनन का ही एक उदाहरण है। बुनन में अंतर करने का काम अवर्णिक चैनेल का है; पश्च वल्कुट में न्युरोनों के अपेक्षाकृत छोटे ग्राहित्र-क्षेत्रों के कारण उनकी क्षमता कहीं अधिक होती है, बनिस्बत कि रंग अनुभूत करने वाले चैनेलों की।

इसका प्रमाण यह है कि जब आत्मसात वृत्त पर कोई जाली रखते हैं और पृष्ठभूमि पर ठीक वैसी ही जाली, लेकिन किसी अन्य झुकाव के साथ, रखते हैं, तो वृत्त का रंग तुरंत प्रकट हो जाता है, यद्यपि पृष्ठभूमि के सापेक्ष वस्तु की चमक पूर्ववत बनी रहती है। बुनन की सूचना देने वाले चैनेल वस्तु की आकृति अलग कर देते है, अतः रंगों के चैनेल का काम उसे रंगना रह जाता है, लेकिन स्वयं वह उपरोक्त परिस्थितियों में आकृति अलग नहीं कर सकता।

रंग के बारे में अंतिम निर्णय पृष्ठभूमि के सापेक्ष वस्तु की चमक और बुनन दोनों पर निर्भर करता है—यह तथ्य अनेक प्रकार के प्रभावों को समझा सकता है, जिन्हें हम अपने

अनुभव से जानते हैं। लाल चादर पर हरी टहनियां बना लीजिये। आप देखेंगे कि हरे रंग की अनुभूति लाल रंग से भी संबंधित होगी और आकाश के रंग से भी, जिसकी पृष्ठभूमि पर आप चादर को देखेंगे, और प्रकाशिता की सामान्य चमक पर भी। कोई भी नयी वर्णाभा अपनी पृष्ठभूमि के ही रंग पर निर्भर करती है। पृष्ठभूमि अपने पर अंकित किसी भी अन्य रंग को या तो और भी प्रबल कर देती है, या उसे बिल्कुल लुप्त कर देती है। यह सब संख्या-संकेतों के जटिल खेल पर निर्भर करता है, जो पश्च वल्कुट के न्युरोनों से मस्तिष्क के उच्च विभागों में पहुँचते हैं।

नर्वशरीरलोचकों ने इस बात का कारण भी ज्ञात कर लिया कि हमारी दृष्टि वस्तुओं के रंगों को उनपर पड़ने वाले प्रकाश के प्रभाव से, उसकी स्पेक्ट्रमी संरचना के प्रभाव से मुक्त कर लेने की भी क्षमता रखती है (इस समस्या का सफलतापूर्वक अध्ययन अपने समय में सोवियत वैज्ञानिक नि. न्युबेर्ग और मि. बोन्गार्द ने किया था)। इसका मतलब यह है कि रंगों को हम सामान्यतः सही ही अनुभूत करते हैं, चाहे उस पर सूर्य का प्रकाश पड़ रहा हो या साधारण बल्ब का। रंगीन फोटोग्राफी के इमल्शन में इस तरह की क्षमता नहीं होती, इसीलिये दिन के प्रकाश में फोटो खींचने के लिये एक तरह की फिल्म का उपयोग होता है और बल्ब के प्रकाश में—दूसरी तरह की। यदि इसमें गलती से उलट-फेर हो जाये, तो वस्तुओं के रंग बुरी तरह बदरंग हो जायेंगे। लेकिन आँख के लिये प्रकाश की स्पेक्ट्रमी संरचना में परिवर्तन होने से कोई फर्क नहीं पड़ता। वह स्वचल रूप से आवश्यक सुधार कर लेती है (निस्संदेह, यह क्षमता असीम नहीं है)।

मनोलोचकों को लगता था कि चित्र में आँख सदा कोई सफेद विवरण ढूंढ़ती है (वह सचमुच सफेद है, इसका निर्णय आँख पूर्व अनुभवों के आधार पर करती है) और उसी के अनुसार रंगों में संशोधन करती है। यदि सफेद भाग नहीं होता, तो कोई बहुत प्रकाशामान भाग ढूंढ़ती है, वह भी सफेद जैसा ही लगता है... शंकावादी लोग कहते हैं: पूरे कमरे में हरा वैल्वेट कपड़ा तान दीजिये। अत्यधिक प्रकाशमान हिस्सा कहीं भी नहीं होगा, फिर भी हरा रंग हरा ही दिखेगा। क्यों? इसका उत्तर रंगों के बड़े-बड़े विशेषज्ञ भी नहीं दे पाते थे।

लेकिन हाल में अमरीकी नर्वशरीरलोचक जेकी ने बंदर के दृष्टि-वल्कुट में (यह पश्च वल्कुट नहीं है, दृष्टि-संकेतों के गति-पथ पर कुछ आगे, ऊपर की ओर होता है, जिसे प्ररेखित वल्कुट कहते हैं) ऐसे क्षेत्र ज्ञात किये, जो स्पेक्ट्रम की अत्यंत सँकरी पट्टियों का प्रत्युत्तर देते हैं। इन पट्टियों की चौड़ाई लगभग 15 नानोमीटर है, जो लाल से बैंगनी तक की दृश्य किरणों के स्पेक्ट्रम की चौड़ाई का सिर्फ 5 प्रतिशत अंश है। इतनी सँकरी पट्टियों के ही कारण न्युरोन प्रकाश की स्पेक्ट्रमी संरचना की उपेक्षा करते हुए अपने-अपने रंगों को पहचानने में समर्थ हो जाते हैं।

जेकी द्वारा खोज किये गये न्युरोनों के गुण पश्च-शीर्ष वल्कुट के न्युरोनों से बहुत ही भिन्न होते हैं। ये एक तरह से मानदंड हैं, जिनसे रंगों में भेद हो पाता है। जबतक प्रकाश "कमोबेश रूप से सफेद" रहता है, उसमें स्पेक्ट्रम के सभी रंगों की तदनुरूप विद्युचुंबकीय तरंगें विद्यमान होती हैं। यहां तक कि रंगीन बल्ब भी काफी विस्तृत स्पेक्ट्रमी संरचना के

प्रकाश उत्सर्जित करते हैं। रंगीन सतह से जबतक पर्याप्त विद्युचुंबकीय ऊर्जा परावर्तित होती रहती है, जिससे कि प्रकाश-ग्राहित्र जेकी के न्युरोनों को चालू कर सकें, दृष्टि-तंत्र के पास कुछ उद्मापन-बिंदु रहते हैं, जिनपर रंग की अनुभूति करने वाले लाल-हरे एवं नीले-पीले 'झूले' अपना कार्य आधारित करते हैं। (अफसोस, अबतक यह बिल्कुल अज्ञात है कि ये कोई विशेष प्रकार के प्रकाश-ग्राहित्र हैं, या मुख्य भूमिका दृष्टि-तंत्र की किन्हीं मध्यवर्ती संरचनाओं में संकेतों के रूपांतरण की है; अंतिम की संभाव्यता और भी कम है।)

निस्संदेह, देर शाम को जब क्षितिज पर ललछौंह आभा छायी होती है, रोशनी की स्पेक्ट्रमी गठन इतनी तेजी से बदल जाती है कि जेकी के न्युरोन काम करना ही बंद कर देते हैं। 'झूले' अपना आधार खो बैठते हैं और सिर्फ इतना ही दिखाते हैं कि प्रकाशित स्थलों की चमक बदल गयी है; वे रंग नहीं बता पाते। यहां रंगों की अनुभूति और संगीत की तारता (मोटापन या पतलापन) की पहचान के बीच गहन सादृश्य देखे जा सकते हैं। बहुत से लोग सही धुन में गा लेते हैं, उनका सापेक्षिक श्रवण अच्छा होता है, लेकिन ऐसे बहुत कम लोग हैं, जो 1480.0 हर्ट्स की शुद्ध तारता सुन कर बता सकें: "यह तीसरे अष्टक का 'फा-दिएज़' (यूरोपीय सरगम में 'म' से आधा सुर ऊपर) है", या 1396.9 हर्ट्स आवृत्ति की ध्वनि सुनकर: "यह तीसरे अष्टक का 'फा' है"। इन कतिपय लोगों के बारे में कहते हैं कि उनकी श्रवण-क्षमता परम या निरपेक्ष है। "व् मीरे नाऊकी" (शब्दश: – विज्ञान-जगत में) नामक पत्रिका में एक बार लिखा

था : इस परिकल्पना से इन्कार करना बहुत कठिन होगा कि निरपेक्ष श्रवण वाले व्यक्ति का मस्तिष्क दीर्घकालीन स्मृति में ध्वनि-क्रम की मुख्य तारताओं की धारणा सुरक्षित रखता है।"

कहीं डाल्टनता का कारण जेकी के न्युरोनों में गड़बड़ी तो नहीं है? कम से कम उसके कुछ रूपों का ही? यंग के समय से लोग यही मानने लगे हैं कि इस रोग का कारण है – किसी निश्चित रंग-संवेदी वर्णक वाले शंकुओं की अनुपस्थिति। लेकिन सोवियत शिक्षा-विज्ञान अकादमी के अकादमीशियन यव्गेनी मोलोकोव और मास्को राजकीय विश्वविद्यालय में मनोलोचन-विभाग की प्रयोगशाला के सहकर्मी चिंगीस इज्माइलोव द्वारा ली गयी शुद्ध मापों से सिद्ध होता है कि उपरोक्त धारणा सही नहीं है। कठिनाइयां यह मान लेने पर भी दूर नहीं होतीं कि सभी शंकुओं में किसी वर्णक का स्थान कोई अन्य वर्णक ले लेता है, जैसे, जंतिकीय कोड में गड़बड़ी के कारण। लेकिन आधार-बिंदु की अनुपस्थिति कहीं अधिक सशक्त कारण हो सकती है...

नर्वशरीरलोचक के अनुसार रंगीन दृष्टि के बारे में वर्तमान परिक्ल्पना कुछ इस प्रकार है। लाल-हरे, नीले-पीले और काले-सफेद क्षेत्र खंड-मिथ्याहोलोग्राफिक प्रतिबिंबन की सहायता से चमक के मानों का छेविम (षट्विम) व्योम बनाते हैं। विस्तृत रंगीन सतहें रंग-संवेदी क्षेत्रों द्वारा अनुभूत होती हैं। और यदि किसी ऐसी सतह पर अन्य रंगों के छोटे-मोटे विवरण होंगे, तो उनकी परिरेखाएं सफेद-काले क्षेत्रों द्वारा अलग की जाती हैं (पहचानी जाती हैं)। इसके बाद लाल-हरे और नीले-पीले 'झूले' इन अलग किये हुए भागों को

देखने में लग जाते हैं... "उनका रंग" – आप शायद कहना चाहेंगे। लेकिन ये झूले जेकी के न्युरोनों के से संकेत प्राप्त किये बिना रंग पहचानने में असमर्थ होते हैं। ये न्युरोन ही शुद्धता के साथ रंग निर्धारित करते हैं; उनके इस काम पर रोशनी की स्पेक्ट्रमी गठन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इस तरह, दृष्टि-तंत्र में एक साथ दो प्रयुक्तियां काम करती हैं। एक का काम है परिरेखाएं स्पष्ट करना; वह भीतर के रंग पर कोई ध्यान नहीं देती। दूसरी प्रयुक्ति इन परिरेखाओं द्वारा अलग की गयी आकृतियों का रंग बताती है; उसे रोशनी की स्पेक्ट्रमी संरचना प्रभावित कर के गलत रंग बताने को विवश नहीं कर पाती (निश्चित सीमाओं के भीतर)।

यह परिकल्पना ग्लेजेर और उनके कलीगों द्वारा प्रस्तुत की गयी है। इसकी खूबी यह है कि एक ही सिद्धांत से रंगीन दृष्टि के अनेकानेक प्रभावों को समझा सकती है, जिनमें एक है – कत्थई रंग का अंतर्विरोध।

चित्रकार नारंजी और काले रंगों को मिला कर सरलता से कत्थई रंग प्राप्त कर लेते हैं। लेकिन सामान्य धारणा के अनुसार काला कोई रंग तो है नहीं, अर्थात् इस रंग की कोई किरण नहीं होती। काला रंग किरणों की अनुपस्थिति को कहते हैं; जब कोई वस्तु किसी भी प्रकार की किरणें न तो उत्सर्जित करती है, न परावर्तित ही, तो वह काली लगती है। इस तरह की एक लगभग आदर्श वस्तु हो सकती है – बंद बक्से में एक छोटा सा छेद, विशेषकर यदि उसकी पूरी भीतरी सतह काले वैल्वेट कपड़े से ढकी हो। छेद सचमुच कुछ

भी परावर्तित नहीं कर पाता। लेकिन चित्रकार द्वारा प्रयुक्त काले रंग में ऐसा गुण नहीं होता। रंगों का काला घटक बिल्कुल उदासीन नहीं होता, वह अन्य रंगों के साथ मिलकर उनमें और उनकी चमक में काफी परिवर्तन ला देता है। लेकिन क्या किरणों का ऐसा मेल प्राप्त किया जा सकता है कि कत्थई आभा उत्पन्न हो जाये? लंबे समय तक इसका उत्तर नकारात्मक रहा: काला प्रकाश नहीं है! नहीं? फिर रंगीन टेलीवीजन कैसे काम करता है? प्रयोगाधीन व्यक्ति को टेलीवीजन के पास ले जाते हैं और एक सरल-सा चित्र दिखाते हैं: सफेद पृष्ठभूमि पर एक नारंजी धब्बा। फिर नौब घुमाते हैं और नारंजी रंग कत्थई में परिणत हो जाता है। क्या रंग का कोई नया जनित्र चालू कर दिया गया? नहीं! सिर्फ पृष्ठभूमि की चमक कम कर दी गयी। मस्तिष्क के सफेद-काला प्रकाश-संवेदी क्षेत्रों के लिये यह काम चित्र में काला प्रकाश सम्मिलित करने के समतुल्य है।

नयी परिकल्पना इंजिनियरों को रास्ता बताती है कि इस तरह के रंग-विश्लेषित्र कैसे बनाये जायें, जो आदमी की आँख की ही तरह रंगों को पहचान सकें और साथ ही रोशनी की स्पेक्ट्रमी संरचना में परिवर्तनों पर कोई प्रतिक्रिया भी न करे। इस तरह के उपकरण दृष्टि-चैनेल के आरेख का अनुकरण करेंगे और रेटीना, बा. जा. पि. तथा दृष्टि-वल्कुट के बीच कार्य-विभाजन के प्रतिरूप की तरह काम करेंगे। तब स्पेक्ट्रम की शुद्ध आभाओं के मिलने से बने रंग को ही नहीं, बल्कि 'सरसों की तरह पीला', 'चाकलेटी', 'भूरा-लाल' आदि जैसे अस्पष्ट शब्दों से द्योतित होने वाले अमानक रंगों पर भी वस्तुगत रूप से नियंत्रण हो सकेगा; इन अमानक रंगों को

लेकर इतने वाद-विवाद होते हैं कि इनके नमूनों का ऐलबम रखना पड़ता है, अन्यथा किसी एक मत पर पहुँचा ही नहीं जा सकता।

अब जैसा हम देखते हैं, आदमी द्वारा अनुभूत कोई भी रंग मस्तिष्क के कार्यों का प्रतिफल है। फिर इसमें आश्चर्य की कोई ऐसी क्या बात हो सकती है कि अलग-अलग आदमी रंगों को अलग-अलग प्रकार से देखते हैं, उनके सुसामंजस्य या कुसामंजस्य को अलग-अलग प्रकार से अनुभूत करते हैं? यहां तक कि चित्रकारों के बीच भी (यद्यपि यदि ठीक से देखें, तो 'यहां तक कि' का क्या सवाल उठता है?) कुछ तो रूप के चित्रण में बहुत सफलता प्राप्त कर लेते हैं, और दूसरे अपने कार्य के लालित्य पर ज्यादा ध्यान देते हैं। चित्रकला के इतिहास में प्रतिभाशाली वर्ण-मर्मज्ञों के नाम स्वर्णाक्षरों से लिखे जाते हैं–वेलास्केस, तोसिआं, वेरोनेजे, रफैल। रूसी कला-आलोचकों ने सूरिकोव की वर्ण-मर्मज्ञता के बारे में लिखा था: उन्हों ने रंगों का एक नया, शुद्ध रूसी सरगम दिया है, जिसका उपयोग रेपिन और वास्नेत्सोव ने किया था और जिसकी शुरुआत लेवीतान, कोरोविन, सेरोव की रंग-मंजूषा में देखी जा सकती है"; "रूसी अभिरंजना के विचित्र सौंदर्य का अनुमान कर लिया, जिसे सिर्फ आँखों से अनुभूत किया जा सकता है, लेकिन उसका वर्णन नहीं किया जा सकता"। खुद सूरिकोव मजाक में कहते थे: "चित्र बनाना तो कुत्ते को भी सिखाया जा सकता है, लेकिन अभिरंजना को समझना नहीं सिखाया जा सकता।"

अब यहां मैं कुछ समय उस भ्रम की लंबी उम्र के कारणों पर बातें करना चाहूँगा, जिसका अनेकों बार भंडाफोड़ हो

चुका है, फिर भी रह-रह कर ललित पुस्तकों ग्रौर पत्रिकाग्रों के पृष्ठों पर उभर ग्राया करता है। मेरा इशारा उस किंव-दंती की ग्रोर है, जिसके ग्रनुसार प्राचीन लोग कुछ रंगों को, जैसे नीले रंग को, ग्रनुभूत नहीं करते थे।

इसका ग्राधार होमर की पंक्तियां हैं, जिनमें वे क्रीट द्वीप के तटों पर समुद्र को ग्रंगूरी रंग का, ग्रर्थात् हरिताभ बताते हैं, नीला नहीं, जैसा वह सचमुच में होता है। 60 के दशक में प्रकाशित एक पुस्तक में सीधा लिखा हुग्रा था: "होमर ने इसे (नीले रंग को – वि. दे.) नहीं देखा। उसके समकालीनों ने भी नहीं देखा। सिर्फ कुछ शतियों बाद ही ग्रीक मूर्त्तिकारों ने चमकदार नीले रंग को पहचानना शुरू किया ग्रौर वे इस खोज से बहुत खुश हुए, ग्रपनी मूर्त्तियों को नीले रंग से रंगने लगे।"

यह सब बिल्कुल गलतफहमी है। उपरोक्त विचार का खंडन इसी से हो जाता है कि विकास-क्रम में हमसे नीचे स्थित बंदर भी नीली ग्राभाग्रों को ग्रच्छी तरह पहचान लेते हैं। ग्रीक-वासियों की वर्णांधता के इस भ्रम का जन्म 19-वीं शती के मध्य में ही हो चुका था, जब ग्रंग्रेज प्रधान मंत्री ग्लैडस्टोन ने, जो प्राचीन ग्रीक भाषा ग्रौर होमर की रचनाग्रों के बहुत बड़े विद्वान भी थे, ग्रपनी एक कृति में लिखा कि महान कवि शायद सभी रंगों में भेद नहीं कर पाते थे। इसके बाद ग्रनेक भाषाविद् भी यही कहने लगे कि रंगों के नाम प्राचीन हिब्र्यु ग्रौर प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी 'गलत' हैं। उन्होंने वह क्रम भी ज्ञात कर लिया, जिसके ग्रनुसार ग्रादमी एक-एक कर रंगों को ग्रनुभूत करता गया: पहले वे सिर्फ भूरी ग्राभाएं देख पाते थे, फिर लाल, नारंजी, ग्रौर पीले रंग

की बारी ग्रायी (होमर, उनके ग्रनुसार, इसी समय में हुए थे), इसके बाद लोग हल्का हरा रंग देखने लगे, फिर ग्रंत में नीला ग्रौर बैंगनी रंग।

लेकिन सारा जोश तुरंत ठंडा पड़ गया, जब नृलोचकों ने यह सिद्ध कर लिया कि सबसे पिछड़ी जनजातियां भी रंगों को पहचानने में यूरोपवासियों से किसी तरह पीछे नहीं हैं। इसके बाद ग्रपनी वृत्ति को गंभीरता से लेने वाले भाषाविदों ने सुस्थापित किया कि प्राचीन हिब्र्यु भाषा में भी सफेद, पीताभ सफेद, पीले, पीताभ हरे, नीले, लाल, कत्थई रंगों का प्रत्यक्ष या ग्रप्रत्यक्ष द्योतन है। इस तरह 19-वीं शती के ग्रंत में ब्रौकहाउस ग्रौर एक्रोन के विश्वकोष में बिल्कुल सही ग्रौर ग्रंतिम निर्णय ग्रा गया: "सभी ऐतिहासिक एवं भाषालोचनी ग्रन्वीक्षणों के ग्राधार पर भी कालांतर के साथ वर्णानुभूतियों के विकास की धारणा को मान्यता नहीं दी जा सकती। इन ग्रनुभूतियों के शरीरलोचनी विकास की परिकल्पना ग्रपने पक्ष में प्राकृतिक विज्ञानों से एक भी प्रमाण नहीं प्रस्तुत कर सकती।"

हमारी शती के 4-थे दशक में ग्रलेक्सांद्र लूरिया ने एक ग्रत्यंत रोचक प्रेक्षण किया (उज्बेकिस्तान के एक दूर-दराज इलाके के उसी ग्रभियान में, जिसके बारे में पहले बात चली थी) उज्बेकी लोग, खासकर स्त्रियां, रंगों के लिये उन नामों का उपयोग नहीं करते थे, जिनके हम ग्रादी हैं; वे सिर्फ सुपरिचित वस्तुग्रों के नाम से ही तदनुरूप रंग द्योतित करते थे। इस तरह ग्रभियान में वैज्ञानिकों की डायरी में 'मटर', 'नाशपाती', 'गुलाब', 'गोबर', 'झील', 'कपास के फूल' 'पिश्ते' ग्रादि के रंग ग्रभिलेखित हुए। क्या इसके ग्राधार

पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उज्बेकी लोग, जो इतने रंग-बिरंगे कालीन बुनने में उस्ताद हैं, मृत्तिका के रंगीन बरतन बनाते हैं, रंगों में भेद नहीं कर पाते? बेशक नहीं! बात इतनी ही है कि उन्हें यूरोपवासियों की तरह विशेष शब्दों की जरूरत नहीं पड़ती।

भाषालोचक इस समस्या का जितनी ही गहराई से अध्ययन करते हैं, यह उतना ही स्पष्ट होता जाता है कि हर जनजाति रंगों का नाम वैसे ही रखती है, जैसी उनकी जीवन-परिस्थितियां होती हैं, जैसे उनके कार्य-कलाप होते हैं। पापुआस की एक प्रजाति, जो पहाड़ों पर रहती है, सिर्फ दो रंगों के नामों का उपयोग करती है—मूली (इससे वे काला व हरा रंग द्योतित करते हैं) और मूला (सफेद, लाल और पीला रंग), लेकिन किस रंग-विशेष की बात चल रही है, यह समझने के लिये वे कुछ अन्य शब्द भी जोड़ते हैं। विएतनामी लोगों के पास भी रंगों के सिर्फ चार मुख्य नाम हैं, लेकिन साथ-साथ अनेक अन्य शब्द भी हैं, जो किसी रंग की आभाओं को स्पष्ट करते हैं: 'नीला' शब्द से करीब 42 व्युत्पन्न होते हैं, जिनसे नीला, आसमानी, हरा आदि द्योतित होते हैं।

इस तरह, इंद्रधनुष के सात रंगों के लिये हमारे शब्द सिर्फ औपचारिकता ही हैं। स्पेक्ट्रम को सात की जगह 4 या 14 भागों में भी बाँटा जा सकता था। महान न्यूटन को सात रंगों की सिर्फ इस लिये जरूरत पड़ी थी कि इसकी तुलना संगीत के सरगम के साथ कर सकें। लेकिन महान इतालवी चित्रकार लेओनार्दो दे वींची सिर्फ पाँच रंगों को मुख्य मानते थे। जरा सोचें तो: आँख हजारों वर्णाभाओं में भेद करती है, जबकि शब्दकोष में रंगों के लिये कोई तीसेक नाम ही

निकलेंगे। क्यों? क्योंकि नाम सदा अमूर्त्त है, एक विविक्ति है और "विविक्ति तथा व्यापकीकरण सदा एक से नहीं रहते; वे खुद सामाजिक-आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास के उत्पाद हैं"—इसी निर्णय पर आधुनिक विज्ञान अब पहुँचा है।

पिछले दशक से रंगों में सिर्फ चित्रकार ही नहीं, इंजिनियर भी रुचि लेने लगे हैं। कुछ अन्वीक्षकों के अनुसार उत्पादन-स्थलों पर आधी दुर्घटनाओं का कारण यही होता है कि मशीनों और कर्मालयों को आदमी की दृष्टि-विशेषताओं को ध्यान में रखे बगैर रंग दिया जाता है। काला रंग भारीपन के साथ जुड़ा होता है, सफेद और आसमानी रंग—हल्के, उत्सवी मनोभावों के साथ। लाल शेड वाले लैंप से प्रकाशित कमरा गर्म लगता है, उसकी जगह नीला रंग रख देने से लगता है, मानो कमरे में ठंड आ गयी हो।

"यदि उत्पादन में गंदगी बहुत होती है, तो स्थल को रंगना कठिन हो जाता है, क्योंकि यह माना जाता है कि जब गंदा हो ही जायेगा, तो फिर रंगने से क्या फायदा! लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिये कि ऐसे रंग भी हैं, जिनपर गंदगी का कोई असर नहीं होता। यहां गंदले रंगों की बात नहीं चल रही है (जैसे, जैतुनी-हरा-कत्थई रंग अपने आप में गंदला सा होता है)। इसके विपरीत, धूल की परत से ढकी होने के बावजूद भी वह पीले-गंदले सफेद रंग से बेहतर लगती है... बालू पहुँचाने वाला संयंत्र विशेष आकर्षक लगता है, जब पीताभ भूरे बालू की परत उसके नीलाभ इस्पाती संरचना पर पड़ी होती है। इससे दो रंगों का जो मेल मिलता है, वह मनोस्थिति पर अच्छा प्रभाव डालता है, बनिस्बत कि यदि संयंत्र भी बालू जैसे गंदले रंग से रंगा होता"—यह पश्चिम

जर्मनी के वर्णविद फ्रीलिंग और आवेर लिखते हैं। 'साइंस डाइजेस्ट' नामक पत्रिका में यह खबर छपी थी : "दंत-चिकित्सक के कैबिनेट की दीवारें नीले रंग से रंगी हुई हैं, ताकि रोगियों में डर की भावना कम हो। कारखानों में मशीनों को आसमानी और पीताभ भूरे रंग से रंगने लगे हैं, ताकि लोगों को सही और कारगर ढंग से काम करने के लिये प्रेरित किया जा सके।"

रंगों के प्रभाव से उत्पन्न भावनाएं विविध हैं, इतनी अधिक हैं, जितने प्रकार के रंग हैं। कार्य-क्षमता और रक्तदाब भूख और ध्यान, मनोदशा और श्रवण-तीव्रता – ये तो आदमी के कुछ 'परामितक' यूं ही संयोग से चुने गये हैं, जो रंगों और किरणों से प्रभावित होते हैं। मनोलोचकों ने एक प्रयोग किया : खाने की मेज पर सजे तरह-तरह के स्वादिष्ट पकवानों पर ऐसे छन्नों से प्रकाश डाला गया कि म[illegible] हो गया, सलाद बैंगनी हो गया, दूध बैंगनी-लाल दिखने लगा, अंडे की जर्दी लाल-कत्थई हो गयी... मेहमान, जो बहुत भूखे थे और डट कर खाने की आशा कर रहे थे, इतने विचित्र खाद्य पदार्थों को चख भी नहीं सके। और जिन्होंने विज्ञान के नाम पर खा भी लिया उनकी तबियत खराब हो गयी...

रंगों का प्रभाव कभी-कभी डाँट-डपट और निषेधों से भी अधिक शक्तिशाली होता है। यदि कूड़ादान सफेद वृत्त या वर्ग पर रख दिया जाये, तो लोग सिगरेट के टुर्रे उसमें ठीक--ठीक फेंकने की कोशिश करते हैं, ताकि वे सफेद वृत्त (या वर्ग) पर न गिरें। कक्षा और गलियारे की पीली दीवारें बच्चों को 'चित्रकारी' के लिये कम ही प्रेरित करती हैं। आपरेटर उपकरणों का सही-सही पठन लेने की कोशिश करता

है, जब वे 'ऊष्म रंगों' (लाल, नारंजी आदि) से रंगे होते हैं। इस तरह के अनेक सारे उदाहरण यही प्रमाणित करते हैं कि मस्तिष्क रंगों को सिर्फ रचता ही नहीं है, उनकी अधीनता भी मानता है।

अध्याय 9

दायां, मूर्त्तदर्शी गोलार्ध

...यूं मेधा संवृत्तियों की भीड़ में
करती है उन्हें सोपानाधीन
दिक्काल और कारणता के रस्सों से
और बिछाती उनपर संख्याओं की कालीन।

—माक्सीमिलिग्रान वोलोशिन

ऐसे भी दृष्टि-अज्ञानक्लेश होते हैं, जिनमें दृश्य जगत खंडों में बिखरा रहता है, वे किसी भी तरह से संबद्ध नहीं हो पाते। रोगी को कैंची दिखायी जाती है, वह लंबी तेज धार देख कर उसे 'तलवार' बताता है; फिर उसके दो नुकीले सिरों को देख कर 'काँटे' का नाम देता है... आगे जब छल्ले देखता है, तो उन्हें किसी भी प्रकार धार के साथ संबंधित नहीं कर पाता, उन्हें 'चश्मा' मान लेता है...

अन्वीक्षक इससे कौन-सा निष्कर्ष निकाले? यही कि हमारे दृष्टि-उपकरण में दो परस्पर स्वतंत्र तंत्र होते हैं। एक तो चित्र में अलग-अलग खंडों को पहचानता है—नोक, धार, छल्ले आदि। दूसरा तंत्र इन उपबिंबों से एक पूर्ण चित्र तैयार करता है—कैंची। यदि दूसरा तंत्र खराब हो जायेगा, तो पहला तंत्र उपबिंबों में भेद कर लेगा, लेकिन वे एक बिंब के रूप में नहीं मिल पायेंगे। लेकिन यदि पहला तंत्र खराब

हो जाये, तो कुछ कहना ही नहीं है... पहचानना असंभव हो जायेगा, आँख के सामने सरलतम आकृति होने पर भी।

करीब बीस साल पहले ग्लेजेर ने "दृश्य-बिंबों को पहचानने की प्रयुक्तियां" नामक अपनी पुस्तक में यह परिकल्पना प्रस्तुत की थी: दृष्टि-तंत्र में दो मुख्य चैनेल होते हैं। एक चैनेल वस्तु के सार्विक बिंब का होता है और दूसरा—व्यौम संबंधों का। प्रथम से वस्तु की आकृति और उसके उपबिंबों की (परिरेखाओं और बुनन में भेद करते हुए) पहचान होती है। दूसरा चैनेल वस्तुओं और विवरणों की पारस्परिक स्थितियों का बोध कराता है; यदि अन्य शब्दों में कहें, तो उसी की सहायता से बाह्य जगत का व्यौम और स्थलाकृतिक बिंब उत्पन्न होता है।

तल्पिक प्रेक्षणों से पता चलता था कि रूप या आकृति का चैनेल वल्कुट के निम्न शंख क्षेत्र के साथ संबंधित है (लेकिन किस गोलार्ध के साथ—यह प्रश्न उस समय नहीं उठाया जाता था) और व्यौम संबंधों का चैनेल—पश्च-शीर्ष वल्कुट के साथ। यह ठीक-ठीक जाँचने के लिये कि क्या सचमुच वल्कुट का शीर्ष भाग ही व्योम में दिग्ग्रह के लिये उत्तरदायी है, जोवलोचनी विज्ञानों में पी-एच डी. नीना प्राज्द्निकोवा ने 1977 में कई प्रयोग किये। पता चला कि जब कुत्ते के शीर्ष वल्कुट का एक निश्चित भाग निकाल लिया जाता है, तो वह यद्यपि क्रूस और वर्ग में भेद कर लेता है, वह यह नहीं पहचान पाता कि वर्ग के भीतर काला बिंदु कहां है। जबकि आपरेशन से पूर्व कुत्ता इस सरल काम को बहुत अच्छी तरह पूरा कर लेता था। करोर्जक की चाकू ने 'व्यौम संबंधों के आपरेटर' को नष्ट कर दिया था (ये वही न्युरोन

थे, जो चूजों को बताते हैं कि मंडराते पक्षी का अगला भाग आगे की ओर बढ़ा हुआ है या छोटा है, वह पक्षी साधारण बत्तख है या खतरनाक बाज है) और इसीलिये कुत्ते द्वारा वर्ग का चुनाव एक सांयोगिक घटना हो गया।

पिछले दशक में अनेक नये तथ्य प्रकाश में आये। विशेषकर यह तथ्य भी: दृष्टि अज्ञानक्लेश, जिसका हमने अभी-अभी वर्णन किया है, दायें गोलार्ध की क्षति से होता है। घर के चित्र में रोगी सिर्फ अलग-अलग खंडों को देखता है। रोगी कहता है: यह छोटा दरवाजा खिड़की सा लगता है। डाक्टर पूछता है: और आप घर देख रहे हैं? इस सीधे प्रश्न से भी कोई सहायता नहीं मिलती: खिड़की देख रहा हूं... लेकिन घर... नहीं..! यह दायें शीर्ष वल्कुट में गुल्म का परिणाम है। यहां कौन-सी न्युरोनी प्रयुक्ति क्षत हुई है?

नर्व-अनाटोमकों ने ज्ञात किया कि पश्च वल्कुट के मोड्युलों से संकेत प्रपट्टिक भाग में आते हैं (ये मोड्युल खंड-मिथ्याहोलोग्राफिक बिंब बनाते हैं)। यह भाग शीर्ष एवं शंख प्रांतों की ओर के पथ पर है। यहां दृश्य-संकेतों का एक और रूपांतरण होता है – रेटीना के सिग्नलों का उतना नहीं, जितना उन पैटर्नों का, जिन्हें पश्च वल्कुट के मोड्युल उत्पन्न करते हैं।

बात यह है कि ये मोड्युल अपने न्युरोनों की सहायता से पृष्ठभूमि पर उपबिंब तो तराशना जानते हैं (और यहां तक कि बिंब भी, यदि वह पूरा का पूरा एक ही बुनन से आच्छादित है), लेकिन उन्हें जोड़ नहीं पाते (ऐसी पेंसिल की कल्पना करें, जो बिंदु तो बना लेती है पर उन्हें मिला कर रेखा नहीं खींच पाती)। इसका अर्थ है कि ये उपबिंब

किसी काम के नहीं रह जाते। इसीलिये प्रकृति ने प्रपट्टिक वल्कुट को एक महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपा है – उपबिंबों को जोड़ कर संपूर्ण बिंब बनाना। उन्हीं के कार्यों के फलस्वरूप उसी रूप और बुनन के बिंब बनते हैं, जैसे वे वास्तविकता में होते हैं (एक बार फिर से याद दिला दूं: ज्यामितिक रूप में नहीं, बल्कि गणितीय रूप में, जो संकेतों के बहुविम व्योम से संबद्ध होता है)।

इस तरह, रूप और बुनन पूरी तरह परस्पर संलीन रहते हैं। ऐसा नहीं हो सकता है कि हम रूप देखें और बुनन नहीं; या इसका विपरीत। दोनों ही के लक्षण परस्पर जुड़े होते हैं, वे अलग नहीं किये जा सकते। इसके अतिरिक्त, प्रेरेखित वल्कुट वस्तुओं की परिरेखा को उन स्थलों पर भी देखने में सहायक होता है, जहां औपचारिकतः वह अनुपस्थित होती है। उदाहरणार्थ, टेबुल पर पड़ी पुस्तक उसकी किनारी को ढक लेती है, लेकिन इससे किनारी बिल्कुल लुप्त नहीं हो जाती; हम एक तरह से उसे पुस्तक को बेधकर देखते रहते हैं। विशेष प्रकार से बनाये हुए चित्रों में आदमी उन स्थलों पर भी परिरेखाएं देख लेता है, जहां वे खींची नहीं होतीं, सिर्फ संभव होती हैं। यह अच्छा है या बुरा? अधिकांशतः तो यह अच्छा ही है। दृष्टि-संकेतों के ऐसे संसाधन से ही हम (और अन्य उच्च प्राणी) जगत को पूर्ण वस्तुओं से बना हुआ देख पाते हैं, उस हालत में भी, जब वे आंशिक तौर पर एक-दूसरे को ढके रहती हैं। वस्तुएं निरर्थक खंडों के रूप में दिखतीं, यदि प्रपट्टिक वल्कुट में संकेतों का विशेष संसाधन नहीं होता।

दृष्टि ऐसी क्यों है, इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। प्रे-

खित वल्कुट के मोड्युलों का काम है सदृश संकेतों को एक साथ जोड़ना, ताकि चित्र पूर्ण हो, इसीलिये उनके पास एक ही चारा रह जाता है कि वस्तुओं के ओझल खंडों को तद-नुरूप बुनन से भर कर उनके सातत्य को बनाये रखें। जब हम किसी दृश्य को 'सुंदर', 'सुसामंजस्यपूर्ण' आदि विशेष-ताओं से विभूषित करते हैं, तो हम दरअसल प्रपट्टिक वल्कुट में न्युरोनों के कार्य की सराहना करते हैं: वे ऐसी बुननें प्रस्तुत कर सके हैं, जो सरलतापूर्वक दृश्य-खंडों से जुड़ कर पूर्ण वस्तु का दर्शन कराते हैं। और चूँकि रंगों को भी बुनन का ही एक रूप माना जा सकता है, इसलिये रंगसामंजस्य में भी प्ररेखित वल्कुट की भूमिका का प्रश्न उठ सकता है... अफसोस है कि प्रपट्टिक वल्कुट का अध्ययन बहुत कम किया गया है, अतः यहां अंदाजी-टक्कर लगाने से कोई लाभ नहीं है।

लेकिन एक बात अच्छी तरह से ज्ञात है कि प्रपट्टिक वल्कुट के बाद बुनन के उपबिंबों की पारस्परिक स्थितियों के बारे में सूचनाएं पश्च शीर्ष वल्कुट में आती हैं (दायें गोलार्ध में; इस अध्याय में हम सिर्फ इसी गोलार्ध के बारे में बातें करेंगे)। इसके अतिरिक्त, सारी सूचनाएं बहुत सघनता के साथ, व्यापकीकृत रूप में होती हैं, इसीलिये दूरस्थ जंगल की किनारी, खंदों पर खड़ी की गयी किताबें, कंघी के दाँत –ये सभी एक परिवार में बंध जाते हैं, क्योंकि ये सभी "कतारबद्ध उदग्र निर्दिष्ट बुनन-उपबिंब" हैं।

दृष्टि-तंत्र के अन्वीक्षण के लिये प्रयोगाधीन व्यक्ति को निम्न चित्र दिखाया गया: लोमड़ी जाली से तितली पकड़ रही है और पास में मेमना खड़ा है। चित्र को 40 मिलिसेकेंड

(एक सेकेंड के 40 सहस्रांश) के लिये दिखाने पर आदमी को कुछ भी नहीं दिखता था। 60 मिलिसेकेंड तक दिखाने पर वह कहता था: कोई चीज किसी दूसरी पर कुछ चला रही थी। 160 मिलिसेकेंड में उसे कोई जंतु दिखता था। सिर्फ 320 मिलिसेकेंड की अवधि में चित्र दिखाने पर ही वह लोमड़ी का नाम ले पाया। तो क्या इसका मतलब है कि किसी भी दृश्य में पहले स्थिति समझ में आती है, फिर बहुत बाद में वस्तुएं? यह प्रयोग पहली बार लेनिनग्राद टेलीवीजन संस्थान में प्रोफेसर इलिया त्सुकेरमान और वि. ग्लेजेर द्वारा संपन्न हुआ था। जब मैंने उनसे पूछा कि स्थिति को ऐसी प्राथमिकता क्यों मिली है, तो उन्होंने बताया:

–इसे दृष्टि-तंत्र के विकास-क्रम से समझाया जा सकता है। जंतुओं के लिये सबसे पहले यह जान लेना जरूरी था कि 'यहां कोई किसी को फाड़ कर खा रहा है', कौन, बाघ या चीता, यह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था। जो जंतु खतरनाक स्थितियों को पहले ही पहचान लेने की क्षमता रखते थे, वे जीते और पनपते रहे; जिनमें ऐसी क्षमता नहीं थी, भाग्य उनका साथ शायद नहीं दे पाया...

अब मान लें कि व्यौम संबंध ज्ञात हो चुके हैं, उपबिंब स्पष्ट हो चुके हैं। आगे क्या होता है? पता चला कि पश्च-शीर्ष वल्कुट निम्न-शंख वल्कुट से पूछताछ करता है और वहां से उपबिंब प्राप्त करता है (इसका अनुमान वल्कुट के इन दो भागों के बीच न्युरोनी संपर्कों से लगता है)। इसके बाद दायें गोलार्ध में उन सब बातों का पूर्ण वर्णन हो जाता है, जो आँखों के सामने सचमुच में घटती हैं। इस तरह हम किसी मूर्त्त वस्तु या दृश्य को उसके अनुपम विवरणों के साथ
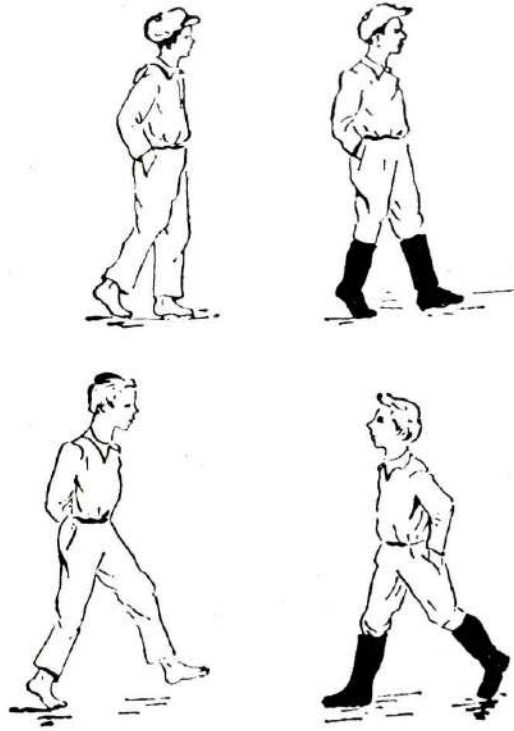
यदि आदमी का दायां शंख (कनपटी का) क्षेत्र क्षत होता है, तो वह लोगों की दायीं और बायीं आकृतियों में भेद नहीं बता पाता।

देख पाते हैं। और उसे याद भी कर लेते हैं, ठीक उसी तरह, जैसे दृष्टि-वल्कुट के तदनुरूप भाग उपबिंबों और उनके व्यौम संबंधों को स्मरण करते हैं, ताकि वस्तु से पुनः सामना होने पर वह पहचानी जा सके।

फिर ऐसे भी तथ्य हैं, जिनके अनुसार पश्च शीर्ष वल्कुट में उपबिंबों को जोड़ कर बिंब बनाने के लिये दो अलग-अलग प्रोग्राम होते हैं। एक प्रोग्राम जटिल बहु-आकृतिक दृश्यों में सिर्फ वस्तुओं के पारस्परिक व्यौम संबंधों का वर्णन करता है और दूसरा – किसी एक वस्तु के उपबिंबों की स्थितियों के व्यौम लंछकों का। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें मापों के लिये विशिष्ट प्रकार के पैमाने हैं, जिनके आधार पर कहा जाता है कि नाक लंबी है और गठन भरा-भरा सा है। प्रयोगकर्त्ता द्वारा कुत्ते के मस्तिष्क के पश्च-शीर्ष वल्कुट से एक भाग को निकाल देने पर कुत्ते के लिये कोई फर्क नहीं रह जाता कि वर्ग त्रिभुज से बायें है या दायें, और एक अन्य भाग काट कर अलग करने पर कुत्ता वर्ग और त्रिभुज में अंतर नहीं कर पाता।

हम परिस्थिति का ज्ञान पहले प्राप्त कर लेते हैं, बनिस्बत कि उसमें भाग लेने वाली आकृतियों का। यही कारण है कि सड़क पर दुर्घटना के साक्षी उसका मूल्यांकन अलग-अलग प्रकार से करते हैं। इस शीघ्रता का कारण भी स्पष्ट ही है: मूल्यांकन सामान्य परिस्थिति का होता है, जिसके लिये पश्च-शीर्ष वल्कुट में एक आरेख पहले से उपस्थित रहता है; यह जीवन के अनुभव का परिणाम है। लेकिन उसे सविवरण मूर्त्त रूप देने के लिये परिश्रम करना पड़ता है: पहले उपबिंबों को निकालना पड़ता है, फिर उन्हें मूर्त्त चित्रों के रूप में जोड़ना पड़ता है। इन सब कामों के लिये निश्चय ही समय और तदनुरूप दृश्य-सामग्री की आवश्यकता पड़ती है। एक कहावत है – "साक्षी की तरह झूठ बोलना"। इसमें एक व्यंग्य का आभास होता है, लेकिन सच पूछें तो इसका गंभीर नर्वशरीरलोचनी आधार भी है... अच्छा वकील और इतिहासज्ञ आदमी में बीती बात को याद करने की इस विशे-

17—1646

षता को अच्छी तरह जानते हैं, इस प्रक्रिया में आदमी अतीत की पुनर्रचना करता है – सिर्फ विचाराधीन क्षण में उपस्थित वास्तविक उपबिंबों से ही नहीं, वरन् उन उपबिंबों से भी, जो वहां उस क्षण हो सकते थे।

सुरंग-निर्माता एक शब्द का उपयोग करते हैं – 'मिलन'। उनकी भाषा में इसका अर्थ है कि सुरंग बनाने का काम पहाड़ के दोनों तरफ से एक साथ शुरू कर दिया जाता है और दोनों तरफ के आदमी सुरंग खोदते हुए बीच में कहीं मिलते हैं; यह मिलन-स्थल पहले से अच्छी तरह कलित कर लिया जाता है। दृश्य-बिंबों को पहचानने वाले दायें गोलार्ध का काम ग्लेजेर ने नर्वशरीरलोचनी तथ्यों के आधार पर ज्ञात किया था। रोबट-तकनीक तथा कृत्रिम प्रज्ञा के अमरीकी विशेषज्ञ मार्विन मींस्की इस तरह के निष्कर्षों पर गणितीय विविक्तियों के माध्यम से पहुँचे। यह भी एक तरह से मिलन ही है।

मींस्की ने यह माना कि "जब आदमी का सामना किसी नयी परिस्थिति से होता है (या पुरानी समस्या से संबंधित अपने दृष्टिकोणों में आमूल परिवर्तन कर लेता है), तो वह अपनी स्मृति में से एक निश्चित संरचना निकालता है, जिसे फ्रेम (या ढाँचा) कह सकते हैं। हर फ्रेम किसी निश्चित स्थिति (परिस्थिति) का वर्णन करता है, जैसे किसी भूदृश्य का, कमरे या कर्मालय का। इस प्रकार, फ्रेम सूचनाओं की एक संरचना है, जिसमें सिर्फ दृष्टि से संबंधित ही नहीं, अनेक अन्य प्रकार की भी सूचनाएं होती हैं। जैसे – प्रदत्त स्थिति में कैसा आचरण होना चाहिये, उसमें किन बातों की आशा की जा सकती है, उसके पूर्ण नहीं होने पर क्या उपाय किये जा सकते हैं, आदि। इसके अतिरिक्त, भिन्न फ्रेम सिर्फ

भिन्न स्थितियों को ही नहीं, उनके प्रति भिन्न दृष्टिकोणों को भी निरूपित करते हैं।

इसके बाद मींस्की यह मान्यता प्रस्तुत करते हैं कि हर फ्रेम दो भागों से बना होता है: नीव, जो प्रत्याशित स्थिति में सदैव सत्य है, और नीव से संबद्ध अलग-अलग कोष, जिन्हें मूर्त्त तथ्यों से भरना होता है। यहां आप पश्च-शीर्ष तथा निम्न-शंख वल्कुट के कामों के साथ सादृश्य देख सकते हैं: प्रथम का कार्य है मूर्त्त व्यौम स्थिति का बिंब प्रस्तुत करना और दूसरे का – उपबिंब तैयार रखना।

हमने बताया था कि बिंब में उपबिंब होते हैं; हर उप-बिंब भी अपने आप में एक बिंब है, जिसमें अन्य उपबिंब हो सकते हैं। इसी तरह फ्रेम के कोष भी अपने आप में फ्रेम हो सकते हैं, जिनमें और भी निम्न कोटि के कोष हो सकते हैं। सभी फ्रेमों की संचि एक 'महाफ्रेम' में सम्मिलित है, जो पूरे जगत और उसमें संभावित स्थितियों के बारे में हमारे ज्ञान को प्रतिबिंबित करता है।

खैर, जब चित्र अत्यल्प समय के लिये दिखाया गया, तो प्रेक्षक को इतना ही दिखा कि 'किसी ने किसी पर कुछ चलाया है'। यह फ्रेम के सिर्फ ऊपरी भाग का अभिज्ञान है, सिर्फ एक मानक परिस्थिति का ज्ञान है (याद दिला दें कि इसके लिये यह बिल्कुल अनिवार्य है कि अतीत में कोई इस सदृश परिस्थिति देखी जा चुकी है और स्मृति में अंकित हो चुकी है)। लेकिन इतना पर्याप्त समय नहीं था कि निम्नस्थ कोषों को प्रत्त (प्रदत्त) स्थिति के उपबिंबों – तितली, उसे पकड़ने के लिये जाली, आदि – से भरा जा सके।

सिर्फ जब प्रेक्षण-काल लंबा किया गया और पश्च-शीर्ष एवं निम्न-शंख वल्कुटों के सूचना-प्रवाहों का एक संपूर्ण संकुल के रूप में संलयन हुआ, तभी चित्र पहचाना जा सका।

दायें गोलार्ध के इन दो भागों के सम्मिलित कार्य से यह भी समझ में आ जाता है कि बिजली की चमक में हम आस-पास के स्थान को अच्छी तरह कैसे देख-समझ लेते हैं, जबकि चमक बहुत ही अल्पकालीन होती है, चित्र को पहचानने के लिये काफी नहीं होती। बात यह है कि हम कमोबेश रूप से परिचित चित्र को देखते हैं और उसे पूरा करने में हमारी स्मृति सहायक होती है। इसके अतिरिक्त, स्थिति को हम नजरें घुमा-घुमा कर नहीं देखा करते, इसके लिये हमें न्युरोनी संरचनाओं के आंतरिक व्योम में ध्यान संकेंद्रित करना पड़ता है। यह कार्य पश्च-शीर्ष वल्कुट का है, इसीलिये इसका नाम 'ध्यान-प्रयुक्ति' ठीक ही पड़ा है।

पश्च-शीर्ष एवं निम्न-शंख वल्कुटों के बीच इस प्रकार के कार्य-विभाजन से कई अज्ञानक्लेश भी समझ में आ जाते हैं, जिनका संबंध दायें गोलार्ध से होता है। शंख (कनपटी) के क्षेत्र में आंतरिक रक्तस्राव या गुल्म (और निश्चय ही प्रेरे-खित वल्कुट से निम्न-शंख वल्कुट की ओर के पथ की क्षति-यों) से वस्तुक अज्ञानक्लेश होता है। रोगी यह नहीं देख पाता कि उसके सामने क्या है—टेबुल, कुर्सी या स्टूल; उसे सिर्फ अस्पष्ट सी चीज दिखती है; वह सिर्फ प्रकाशमान तथा अंधेरे धब्बों को पहचान पाता है और उन्हीं के आधार पर अंदाज लगाता है कि ये धब्बे व्योम में किस प्रकार स्थित हैं। इसीलिये वह बेंच को सोफा और टेलीफोन को घड़ी बता देता है। लेकिन हाथ में लेते ही वह टेलीफोन को पहचान

लेता है, घड़ी की सूइयां ठीक-ठीक मिला देता है। इसका अर्थ है कि स्पर्श-संज्ञा और पेशीय संज्ञा रोग से प्रभावित नहीं होतीं और वे स्मृति में आवश्यक बिंब उभार देती हैं, जिनके अनु-सार आदमी काम करता है।

ऐसा लग सकता है कि इस तरह के रोगी कुछ आकृतियों में भेद कर लेते हैं। जब उसे पेंसिल और कलम दिखायी जाती है, वह इन वस्तुओं को पहचान नहीं पाता, लेकिन इतना बता देता है कि दोनों लंबी हैं। जर्मन मनोचिकित्सक गोल्डश्टेइन ने इस शती के आरंभ में ऐसे एक रोगी का वर्णन किया है, जो अन्वीक्षण के समय दिखाने पर वर्ग, त्रिभुज आदि किन्ही भी ज्यामितिक आकृतियों में भेद नहीं कर पाता था, लेकिन ताश और छक्के का खेल बहुत अच्छी तरह खेल लेता था, दूर से दिखायी गयी वस्तुओं को पहचान लेता था। तो क्या वह रूप देखता था? इस प्रश्न का उत्तर तभी मिल-ता है, जब हम रोगी के दृष्टि-तंत्र को दायें गोलार्ध के पश्च-शीर्ष एवं निम्न-शंख क्षेत्रों में कार्य-विभाजन के सिद्धांत से देखते हैं। लंबाई, चौड़ाई, ऊँचाई—यही लंछक राशियां हैं, जो पश्च वल्कुट में प्रेषित बिंब से बिल्कुल अन्य चैनेलों द्वारा प्राप्त होती हैं (उन चैनेलों से नहीं, जिनसे रूप का बोध होता है; ये चैनेल स्वस्थ पश्च वल्कुट से संबद्ध होते हैं)। लेकिन मानव-मस्तिष्क एक अत्यंत लोचदार संरचना है; वह विगत अनुभवों, स्पर्शीय एवं पेशीय संज्ञाओं, श्रव्य बिंबों से सूचनाएं प्राप्त करते हुए अपने को शीघ्रता से पुनर्गठित कर लेता है; वह अस्पष्ट, आकृतिहीन धब्बों से जगत का चित्र पूरा कर लेता है, जिसमें आदमी जी सकता है और यदि क्षति हल्की है तो इस कमी से अनभिज्ञ बना रह सकता है।

इस तरह की पुनर्गठन से दृष्टि-तंत्र की त्रुटि इस हद तक दूर हो सकती है कि आदमी बिल्कुल भला-चंगा लगता है। एक रोगिणी का उदाहरण है, जिसे डाक्टर गलती से समझ बैठे कि वह बहानेबाज है। इस अतिबुद्धिमान महिला को बेख्तेरेव मनोनर्वलोचनी संस्थान के तल्पालय में निरीक्षण के लिये भेजा गया, क्योंकि डाक्टरों का निदान था: गंभीर वस्तुक अज्ञानक्लेश। लेकिन जब तल्पालय के डाक्टर ने अपने कैबिनेट में टंगे चित्र की ओर इशारा कर के पूछा कि यह कौन हैं, तो महिला ने तुरंत जवाब दिया: बेख्तेरेव। फिर उसने समझाया: रिस रहा है! (दाढ़ी के बाल उसे पानी की रिसती धारा जैसे लगते थे।) चूँकि सभी लोगों की तरह वह भी आदी हो चुकी थी कि कैबिनेटों में हमेशा बड़े लोगों के चित्र टंगे होते हैं, जिनका संबंध अक्सर संस्थान के साथ होता है, इसीलिये उक्त डाक्टर के कैबिनेट में टंगे चित्र में दाढ़ी वाला आदमी बेख्तेरेव था।

लेकिन दायें गोलार्ध में पश्च-शीर्ष वल्कुट की क्षति से आदमी वस्तु के खंडों को तो अच्छी तरह पहचान लेता है, उनका वर्णन भी कर देता है, पर उन्हें पूर्ण वस्तु के रूप में जोड़ नहीं पाता। उनके व्यौम संबंधों का बोध नहीं हो पाता; ये संबंध अनुभूतिक व्योम से लुप्त हो जाते हैं, चेतना में खुद यह व्योम सुरक्षित रहता है या नहीं, यह भी शंका का ही विषय है। स्मरण कीजिये, जब रोगी कैंची की नोकों को देखकर द्विशूल कहता था और छल्लों को देखकर चश्मा कहता था। वस्तु के रे पू रूप से संबंधित निष्कर्ष वह अलग-अलग उपबिंबों के आधार पर करता था, उनके पारस्परिक व्यौम संबंधों के आधार पर उन्हें एक बिंब में जोड़ कर नहीं। इसी-

लिये उसकी गलतियों पर आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

लेनिनग्राद के मनोचिकित्सक आ. मेयेर्सोन रोगियों को ऐसे चित्र देते थे, जिनमें वस्तु के हिस्से एक-दूसरे से अलग होते थे, अपनी जगह पर नहीं होते थे: जैसे इंजन की चिमनी कटकर कुछ ऊपर होती थी। पता चला कि पश्च-शीर्ष वल्कुट में हल्की क्षति होने पर भी (हल्की इसलिये कि चित्र उन्हें दिखते थे और शायद उपबिंब बिंब के रूप में जुड़ जाते थे) वस्तु को इस तरह विखंडित करने पर उन्हें पहचानने में बहुत कठिनाई होने लगती थी। एक इस तरह का चित्र था: तेज आंधी के कारण पेड़ झुक आया था, फुनगी तने से दूर मुड़ आयी थी। पश्च वल्कुट क्षत होने पर रोगी को समझ में नहीं आता कि यह पेड़ है। स्वस्थ मस्तिष्क के लिये वस्तु को घुमाव (या मोड़) देने की, उसे खिसकाने की संक्रियाएं संभव हैं – ये स्वस्थ शीर्ष वल्कुट के कार्य हैं; इसी की सहायता से हम मुड़ी हुई वस्तु को (या उसके खंडों के अलग हो जाने पर भी) पहचान लेते हैं और कहते हैं: यह आंधी से झुका हुआ वृक्ष है।

मस्तिष्क में विकृत बिंबों को पूर्ववत करके पहचानने की क्षमता विशाल है। इसका एक अनुभव मुझे भी हुआ है। मैं एक अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी में पिकासो पर एक मोटी पुस्तक में उनकी उस काल की कृतियों को देख रहा था, जिसमें उन्होंने वास्तविकता को विखंडित या 'विघटित' करने का प्रयोग चलाया था। वे चेहरों को इतना अद्‌भुत तरीके से अपरूपित करते थे कि चित्रों को सामान्य अर्थ में व्यक्ति का चित्र नहीं कहा जा सकता था। मुझे हमेशा यही लगता था कि इस तरह तोड़-मरोड़ करने
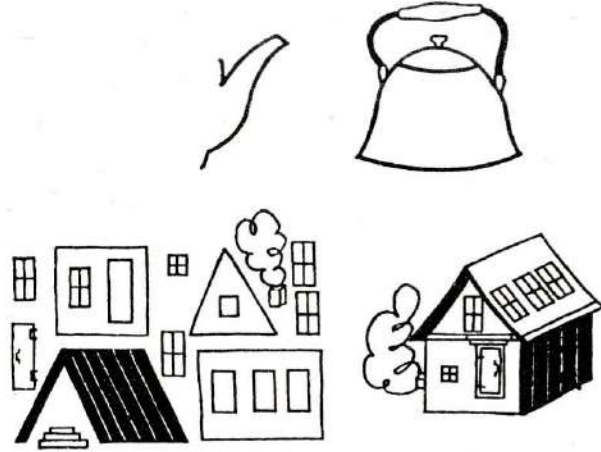
दायें पश्च शीर्ष क्षेत्र की गड़बड़ी वाले रोगी वस्तु के अलग-अलग खंडों को एक बिंब में नहीं जोड़ पाते, यदि ये खंड अपने स्थान पर नहीं होते, या आपस में उलझे होते हैं (अ. मेयर्सन के अनुसार)।

से चित्र की हत्या हो जाती है, उसमें सादृश्य की जगह चित्रकार की पागल गल्पना हावी हो जाती है। लेकिन उस पुस्तक में किसी एक व्यक्ति के सारे चित्र एक ही जगह संकलित थे। अचानक मुझे महसूस होने लगा कि इन सभी चित्रों में एक ही चेहरा है। उपबिंबों को जोड़ने में कुशल मस्तिष्क बिखरी हुई नाक, कान, आँखों आदि को जोड़ कर ऐसा चित्र बना रहा था कि उस समय यदि उन चित्रों का नायक पास से गुजरता, तो मैं अवश्य ही उसे पहचान लेता...। जी हां, पिकासो यथार्थ बिंब को खंड-खंड करके बिखेर देना चाहते थे, लेकिन वे दृष्टि की प्रकृति से, उसकी क्षमता से अनभिज्ञ थे। वह अधिक शक्तिशाली निकली। यदि चित्रकार को कुछ

सफलता मिली, तो इतनी ही कि दर्शकों को चित्र पहचानने में अधिक समय और श्रम व्यय करना पड़ता है (यहां हम इस चित्रकला की सौंदर्य-उपलब्धियों की आलोचना में नहीं जायेंगे) और जिन लोगों को अभ्यास नहीं होता, जो चित्रकार की इस असामान्य भाषा के आदी नहीं होते, वे चित्रों को समझने में असमर्थ हो जाते हैं।

दायें गोलार्ध के शंख एवं पश्च वल्कुटों की व्यतिक्रिया (आपसी क्रिया) ही इस प्रश्न का उत्तर देती है कि आँख सूचनाओं से समृद्ध एक खंड से दूसरे खंड की ओर क्यों निरंतर दौड़ती रहती है। इससे हम एक साथ व्यौम स्थिति को ग्रहण करते हैं, लेकिन हमें इस स्थिति को मूर्त्त भी करते रहना पड़ता है, फ्रेम के कोषों को वास्तविक उपबिंबों से भी भरते रहना पड़ता है। इसीलिये निगाह चित्र पर भटकती रहती है, कभी इस विशेषता को, तो कभी उस विशेषता को ग्रहण करती है; ये विशेषताएं उपबिंबों के रूप और बुनन से संबंधित सूचनाओं द्वारा लंछित होती हैं। निगाह एक-एक बिंदु पर कई-कई बार रुकती है, क्योंकि शुद्ध बिंब के लिये स्मृति में अच्छी तरह अंकित विवरणों की आवश्यकता होती है। निगाह की यात्रा का पथ उस समस्या पर निर्भर करता है, जो हम जाने या अनजाने अपने सामने रखते हैं। यह विशेषता यार्बुस के प्रयोगों में आँख से लगे नन्हे दर्पण की गति द्वारा प्रदर्शित होती है। 'ध्यान-प्रयुक्ति' (अफसोस कि हम उसके कार्य के बारे में बहुत ही कम जानते हैं) वस्तुओं की पारस्परिक स्थिति से उत्पन्न व्यौम चित्र में से वैसे ही उपबिंब चुनती है, जिनकी आवश्यकता समस्या के समाधान में पड़ती है। निगाह की बिल्कुल शुद्ध छलांगों से यही सिद्ध होता है

कि हम पूरा चित्र उसके खंडों पर ध्यान देने से पहले ही देख लेते हैं।

छलांगों में दृष्टि-क्षेत्र के निरीक्षण की प्रयुक्ति के प्रति यह अभिगम न्यूटन एवं स्टार्क द्वारा प्राप्त परिणामों को एक अन्य एवं अधिक विश्वसनीय तरीके से समझाता है: बात नेत्रों की गतिदायक पेशियों के संकेतों की नहीं है; ये संकेत दृष्टि-क्षेत्र में खंडों की स्थिति को कोडित नहीं करते। यह सच है कि जगत अपेक्षाकृत छोटे विवरणों से बना है, लेकिन ये विवरण स्वैच्छिक रूप से नहीं जमा हो जाते, वे उस ढाँचे के अनुसार जमा होते हैं, जो चेतना में पहले से विरचित होता है और दायें पश्च-शीर्ष वल्कुट में सुरक्षित रहता है।

लेकिन इस तरह रूपांतरणों की एक रोचक शृंखला मिलती है। पहले रेटीना चित्र को कई बिंदु-क्षेत्रों में विभाजित करती है। फिर रेटीना की गुच्छिकीय कोशिकाएं इस अवछिन्न पच्चीकारी के तत्त्वों को अधिक विस्तृत कर देती हैं, जो परस्पर निकट स्थित होते हैं या आंशिक तौर से एक दूसरे पर छा जाते हैं। इसके बाद बा. जा. पि. अपने स्पंदमान क्षेत्रों द्वारा इस विस्तार की व्यौम आवृत्तियों का निरीक्षण करता है, पश्च वल्कुट के न्युरोनों को काम के लिये तैयार करता है; ये न्युरोन जगत को खंड-मिथ्याहोलोग्राफिक विधि से प्रतिबिंबित करते हैं। फलस्वरूप दृष्टि-क्षेत्र अनेक खडों में विभक्त हो जाता है (ये खंड निकट-निकट होते हैं या परस्पर अतिछादित होते हैं)। हर खंड में पश्च वल्कुट के मोडुल आँखों के सामने स्थित चित्र के सरल लक्षणों (गुणों) को कलित करते हैं। इन सब प्रक्रियाओं की आवश्यकता यही है कि पश्च वल्कुट के न्युरोन पृष्ठभूमि पर उपबिंबों को अलग कर सकें ('उभार

सकें') और प्रपट्टिक वल्कुट की कोशिकाएं इन उपबिंबों की पर्याकृति बना सकें। अंत में, चित्र रेटीना से निकल कर पश्च-शीर्ष वल्कुट में एक तरह से उपबिंबों की स्थितियों के आरेख में परिणत हो जाता है।

रूपांतरणों की यह आश्चर्यजनक प्रणाली एक सबसे लाभकर, सबसे कारगर और सबसे विश्वसनीय प्रणाली है, जिस-तक पहचान के लिये एलेक्ट्रोनी उपकरणों के निर्माता अभी तक नहीं पहुँच पाये हैं। हमारी दृष्टि के सामने उपस्थित दृश्य का मूर्त्त बिंब हमारी चेतना में इसी तरह उत्पन्न होता है। रेटीना की सतह पर वास्तविकता का सरल ज्यामितिक प्रतिबिंब एक ऐसे स्थलाकृतिक प्रतिबिंब में परिणत हो जाता है, जिसके साथ मस्तिष्क का न्युरोनी जाल काम कर सके – याद और तुलना करने का, पहचानने का।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। जिस रूप में अभी-अभी हमने दृष्टि-तंत्र को देखा है, वह सिद्धांततः खुला हुआ (विवृत) है। इसका अर्थ है कि उसमें आँख के समक्ष उपस्थित किसी भी वस्तु को, किसी भी दृश्य को ग्रहण और स्मरण करने की और फिर उसे पहचानने की क्षमता होती है। एक जमाना था, जब इंजिनियर लोग पहचान करने वाली मशीनें बनाने के लिये उनमें उन बिंबों की धारणा भरने की कोशिश करते थे। जिनका मशीन से पहचान करना होता था। लेकिन जल्द ही पता चला कि प्रकृति की कल्पना-शक्ति अधिक बढ़ी-चढ़ी है। हमेशा ही कोई ऐसा चित्र मिल जाता था, जिसे मशीन पहचान नहीं पाती थी, यद्यपि पहचानना चाहिये था। इसीलिये तो कंप्यूटर के डिजाइनर उन सिद्धांतों की ओर उन्मुख हुए, जिनपर आदमी का दृष्टि-उपकरण बना है;

इस उपकरण को चित्र ग्रहण एवं स्मरण करने के लिये पहले से आदेश और निर्देश नहीं देने पड़ते। जन्म लेते ही हमारी दृष्टि अपनी क्षमताओं के अनुसार जगत के अभिज्ञान में रत हो जाती है और उसी के साथ व्यतिक्रिया करती हुई विकसित होती रहती है।

अध्याय 10

सचमुच का अदृश्य

...विविक्त – यह महज सूखा हुआ मूर्त्त है।

– अनातोल फ्रांस
(एपीक्यूर का बाग)

15 वर्ष पूर्व (समय भी कितना जल्दी बीतता है) अलेक्सांद्रा नेव्स्काया के काम पर उसके कमरे में जो भी आता था, उसे एक ही दृश्य देखने को मिलता था : कोई प्रयोगाधीन व्यक्ति उपकरण के नेत्रक से आँख लगाये बैठा हुआ है। "बकरा" – वह कहता है। बही में तुरंत तदनुरूप निशान लगा दिया जाता है, डायेपोजीटिव बदलता है, खट की आवाज होती है, उत्तर मिलता है, बही में निशान लगता है... यह क्रम सैकड़ों बार चलता था, दसियों व्यक्तियों पर प्रयोग किया गया, प्रयोग महीनों तक चलता रहा। बही में लगे निशानों की सहायता से ग्राफ-पेपर पर बिंदुओं की लरियां अंकित हुईं, फिर उनपर औसत मान निर्दिष्ट करने वाली रेखाएं खींची गयीं।

कुछ प्रयोगाधीन व्यक्तियों को यह नहीं बताया जाता था कि चित्र कैसे होंगे, दूसरों को चित्र देर तक ध्यान से देखने का अवसर दिया जाता था। इसके बाद फिर शटर क्लिक करता था और प्रयोगाधीन लोग फिर वर्गाकार प्रकाशमान

फ्रेम में कोई परिरेखा देखने की कोशिश करने लगते थे – पत्ते, त्रिभुज, बैग, हाथ, बकरे या किसी अन्य वस्तु की।

सिर्फ क्षण भर को... पीछे से अचानक कोई चित्र सिर्फ क्षण भर को निकाल कर दिखा देना बहुत सरल है: रेडी! – और बस! देखने में यह खेल सा लगता है, लेकिन गंभीर प्रयोग में यह 'रेडी' और यह 'बस' बहुत ही जटिल चीज है।

हेल्महोल्ट्स ने पिछली शती के मध्य में ही ज्ञात किया था कि नर्वों के सहारे क्षोभ के प्रेषण का वेग सिर्फ 30 मीटर प्रति सेकेंड है। आधुनिक अन्वीक्षणों से कुछ विस्तृत परास का पता चला है: अल्पतम वेग आधा मीटर है और अधिकतम वेग 100 मीटर है। और आँख अत्यल्पकालीन कौंध को भी देख लेने की क्षमता रखती है; आवश्यकता इतनी ही है कि कौंध पर्याप्त शक्तिशाली हो और आँख की रेटीना पर फोटोनों की आवश्यक संख्या छोड़ सके। (दृष्टि की अनुपम संवेदिता को देखकर टेलीवीजन-तंत्र के विशेषज्ञ यह निष्कर्ष निकालते हैं कि "विकास-क्रम में हमारी दृष्टि-प्रक्रिया परम उच्च शिखर को प्राप्त हो चुकी है"। और चूँकि अनुभूति की निम्नतम सीमा पर आँख की रेटीना द्वारा ""हर अवशोषित फोटोन अनुवेदित हो जाता है, इसलिये संवेदिता में आगे किसी प्रकार की वृद्धि होने की संभाव्यता बहुत कम है"।) 30 के दशक में सोवियत अन्वीक्षक व्. कोपानेइस्की ने अंधेरे कमरे में वस्तुओं को विद्युचिन्गारी से प्रकाशित कर-कर के यह सिद्ध किया था। प्रयोगाधीन व्यक्ति वस्तु को देख कर उसके उभारों और गहराइयों को अनुभव कर ले, इसके लिये सेकेंड के एक करोड़वें अंश तक की कौंध काफी रहती थी।

जाहिर है कि हमारी चेतना इतने अल्पकाल में कोई काम संपन्न नहीं कर सकती। यहां तक कि फोटोन की ऊर्जा को प्रबल करने में भी एक सेकेंड का तीन सहस्रांश व्यय हो जाता है; सिर्फ इसके बाद ही रेटीना, बा. जा. पि. तथा दृष्टि उपकरण के अन्य विभागों की कोशिकाएं कार्य शुरू कर पाती हैं... इसलिये सेकेंड के एक करोड़वें अंश के लिये कौंध या अलग-थलग फोटोन बंदूक का घोड़ा दबाने के लिये उंगली का ही काम करते हैं, जिससे गोली पूरा दृष्टि-उपकरण चला लेता है; इसमें सहायक होता है एक महत्त्वपूर्ण गुण – अल्पकालीन स्मृति।

वह रेटीना द्वारा गृहीत बिंब को करीब चौथाई सेकेंड में अंकित कर देती है। उसी की सहायता से सिनेमा-फिल्म के अलग-अलग चित्र मिल कर एक सतत घटना-क्रम का चित्र बना पाते हैं। (सच पूछें, तो सिनेमा के पर्दे पर लोगों, वस्तुओं आदि की गति की यह व्याख्या कुछ ज्यादा ही सरल है, क्योंकि सिनेमा की अनुभूति में सिर्फ अल्पकालीन स्मृति ही नहीं, मस्तिष्क के उच्च विभाग भी सहायता करते हैं – वस्तुओं की दो जड़-चित्रों के बीच वाली स्थिति को रच कर।) एक जमाने में यह सोचा जाता था कि बिंब रेटीना पर ही सुरक्षित रहता है, क्यों कि रोडोप्सिन नामक द्रव्य उसी पर विवर्ण होता है। फ्रांसीसी शरीरलोचक क्यूने ने 19-वीं शती के अंत में लिखा था: रेटीना एक पूरे स्टूडिओ का काम करती है, जिसमें फोटोग्राफर निरंतर फोटो-प्लेटें बदलता रहता है: वह फोटो-प्लेट पर प्रकाश-संवेदी द्रव्य की नयी-नयी परतें लेपता रहता है और साथ-साथ पुराने चित्रों को मिटाता भी जाता है।"

लेकिन प्रयोगों से पता चलता है कि अल्पकालीन स्मृति का संबंध रेटीना से नहीं, बल्कि मस्तिष्क से है। कल्पना करें कि आप एक बल्ब को देख रहे हैं, जो हर आधे सेकेंड पर जल उठता है। स्वाभाविक है कि वह भुकभुकाता हुआ लगेगा। नयी कौंध जबतक आँख में पहुँचेगी, चौथाई सेकेंड वाली अल्पकालीन स्मृति बुझ चुकेगी, उसमें पिछली कौंध का चित्र लुप्त हो चुकेगा। इसके बाद प्रयोग को जटिल कर देते हैं। दायीं आँख एक बल्ब देखती है और बायीं आँख दूसरे बल्ब को; दोनों बल्ब आधे-आधे सेकेंड पर जल उठते हैं, लेकिन एक साथ नहीं, चौथाई सेकेंड के फर्क के साथ (अर्थात् एक बल्ब की दो कौंधों के बीच का अंतराल दूसरे के सापेक्ष चौथाई सेकेंड की दूरी पर स्थानांतरित होता है)। इस स्थिति में कौंध हर चौथाई सेकेंड पर उत्पन्न होगी, जिसे हर आँख आधे-आधे सेकेंड पर देखेगी, लेकिन मस्तिष्क कभी दायीं आँख से, तो कभी बायीं आँख से हर चौथाई सेकेंड पर देखेगा। अन्यतः, नयी कौंध एक आँख से हो कर दृष्टि-तंत्र में तब प्रविष्ट होती है, जब अल्पकालीन स्मृति पिछली कौंध के चित्र को मिटाने के लिये तैयार होती है। यदि स्मृति रेटीना में होती, तो हमें लगता कि कौंधें एक आँख से दूसरी आँख में उछल रही हैं। लेकिन ऐसा नहीं होता। प्रेक्षक को लगता है कि बल्ब एक साथ और अविराम रूप से जलते हैं। दृष्टि उपकरण दोनों आँखों से आये संकेतों को जोड़ देता है और चित्रों का यह संयोजन पश्च वल्कुट में होता है। तो क्या अल्पकालीन स्मृति भी वहीं होती है?

जो भी हो, दृष्टि को (आँख को नहीं) कोई चित्र चौथाई सेकेंड से कम समय तक दिखाने के लिये अल्पकालीन स्मृति को

ऑफ करने वाला कोई स्विच होना चाहिये। यह स्विच कहां से लिया जाये?

पता चला कि ऐसे स्विच का काम सिनेमा कर सकता है। सिनेमा में सिर्फ तीन चित्र होते हैं: टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं वाली जाली – विचाराधीन चित्र – पुनः जाली। हर अगला चित्र पिछले को अल्पकालीन स्मृति से मिटा देता है – यह बिल्कुल सही-सही स्थापित किया जा चुका है। जब आदमी उपकरण में देखता होता है, जिसका संचालन नेव्स्काया करती है, जाली वाले चित्रों से 'समय का दरवाजा' खोला और बंद किया जाता है; प्रयोगकर्त्ता को कोई संदेह नहीं रह जाता कि विचाराधीन चित्र आँखों के सामने सेकेंड के उतने ही अंशों तक रहेगा, जितना कंट्रोल-डेस्क से दिया जायेगा। वैसे, अधिकांशतः रेटीना से बिंब मिटाने का काम वही जाली करती है, जो प्रयोग के समय दिखाये जाने वाली सभी वस्तुओं की परिरेखाओं को एक के ऊपर एक रख कर बनायी जाती है। खंड-मिथ्याहोलोग्राफी की दृष्टि से तुरंत समझा जा सकता है कि ऐसा क्यों होता है: प्रपट्टिक वल्कुट के उच्च विभागों के पास कोई आधार नहीं रह जाता कि परिरेखाओं को उभारने वाले न्युरोनों द्वारा बनायी गयी बिंदु रेखाओं को किसी खास तरह से ही जोड़ा जाये, और इसीलिये किसी सार्थक चित्र की जगह बिल्कुल बेतरतीब रेखाओं की जाली मिलती है।

लेकिन चित्र को पहचानने की विश्वसनीयता उसे दिखाने के समय की लंबाई पर ही नहीं निर्भर करती, वह इस बात पर भी निर्भर करती है कि देखने वाले को पहले से मालूम था या नहीं कि उसे क्या दिखाने जा रहे हैं। मुझे पता नहीं था इसलिये मुझे चित्र को पहचानने में एक सौ पचास मिलि-

18—1646

सेकेंड लग गये ; यह प्रयोग में भाग लेने वाले अनभ्यस्त व्यक्ति के लिये बिल्कुल सामान्य समय है। जो चित्र से परिचित होता है, वह जल्दी ही पहचान लेता है।

कितनी जल्दी ? यह चित्रों की संख्या पर निर्भर करता है, जिन्हें देखने कीं उसे उम्मीद होती है। दो संभव चित्रों में से किसी एक को पहचानने के लिये 15 मिलिसेकेंड काफी होते हैं ; यह अनभ्यस्त आदमी की तुलना में करीब दस गुना कम समय है। यदि संभव चित्रों की संख्या चार होती है, तो पहचानने में लगा समय दो गुना बढ़ जाता है ; 16 चित्र होने पर – चार गुना... यहां हमें पुन : 'विशाखित वृक्ष' के सहारे पहचानने की विधि का दर्शन होता है, जिसके बारे में 'दायें-बायें मस्तिष्क' के कार्य को देखते समय बात चली थी। उस समय इस तरह का पहचानने वाला तंत्र (या खोजी -तंत्र) बायें गोलार्ध में मिला था : वह सामान्यकृत बिंबों का हाँ-ना में द्विभाजन करता जाता है, ताकि दृष्टि हर चित्र को अलग-अलग पहचानती जाये।

क्या इन दो तंत्रों के बीच क्या कोई सादृश्य है ? या दोनों एक ही तंत्र है ?

इन प्रश्नों का उत्तर अभी देते हैं। लेकिन पहले यह बता दें कि पहचानने में व्यय हुआ समय नेव्स्काया के प्रयोगों में एक बिल्कुल शुद्ध एवं निष्पक्ष निकष सिद्ध हुआ, जिसकी सहायता से दृष्टि-उपकरण का कार्य समझा जा सके। मान लें कि प्रयोगकर्त्ता ज्ञात चित्रों के समूह में एक अज्ञात चित्र डाल देता है (उसी वस्तु का, लेकिन किसी भिन्न आकार का, कुछ परिवर्तनों के साथ) और देखता है कि उत्तर मिलने का समय बढ़ता है या नहीं। चित्र दृष्टि-तंत्र के लिये वस्तुगत

रूप से नया है, भले ही वह शाब्दिक उत्तर "हाँ" के लिये वही पुराना छाता बना रहे ; यदि समय पहले जैसा ही है, तो इसका अर्थ है कि दृष्टि चित्र को पुराने रूप में ही ग्रहण करती है।

ग्लेजेर और नेव्स्काया के वे अन्वीक्षण, जिनसे पहली बार 'द्विशाखित वृक्ष' के आरेख पर खोज की रीति प्रदर्शित हुई थी, नेव्स्काया, लेउशिना और पाव्लोव्स्काया के सामूहिक कार्य से बहुत पहले संपन्न किये जा चुके थे ; अंतिम से बायें और दायें गोलार्धों के अलग-अलग पहचानने वाले तंत्रों का पता चला था। प्रयोगाधीन व्यक्ति को 'सिनेमा' दिखाते समय अन्वीक्षकों को यह पता नहीं था कि मस्तिष्क में बिंब द्वारा लायी गयी सूचना की मात्रा के मूल्यांकन की रीति (जिसकी खोज उन्होंने की थी) बायें गोलार्ध के साथ संबंध रखती है। इसीलिये इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में मैं इसके बारे में कुछ भी नहीं कह सका कि कौन-सा गोलार्ध विशेषताओं के आधार पर द्विभाजन (दो वर्गों में बाँटने) का काम करता है ; वहां बात सिर्फ संपूर्ण अनुभूति की चली थी।

अब बहुत कुछ स्पष्ट हो गया है, जिसमें 'खोज' की प्रयुक्ति भी शामिल है। हर शाखा द्विभाजित (द्विशाखित) होने वाले 'वृक्ष' के आरेख के अनुसार खोज द्वारा पहचानने का काम इसीलिये संभव होता है कि बायां गोलार्ध (उसका प्रपट्रिक वल्कुट) सरल लक्षणों (चिन्हों) के साथ काम करता है – ठीक वैसे ही लक्षणों के साथ, जैसे दायें पश्च वल्कुट में होते हैं ; वह उन्हें एक सूत्र में बांधता है और यही उसकी विशेषता है।

सरल चिन्ह (या लक्षण), जैसा कि याद होगा, एक पैटर्न है, उन मोडुलों के सिग्नलों का एक संकुल है, जिनमें प्रकृति ने पश्च वल्कुट को विभाजित किया है। ये लक्षण बा. जा. पि. के क्षेत्रों की पुनर्गठन के अनुसार एक-एक कर के एक क्रम में विलगित होते हैं—सबसे स्थूल से ले कर सबसे सूक्ष्म लक्षणों तक। दायें पश्च वल्कुट में और दायें गोलार्ध के दृष्टि-तंत्र के उच्च विभागों में सरल चिन्हों की सहायता से ही काफी मूर्त्त छवियां प्रतिबिंबित हो जाती हैं, जो प्रत्त क्षण में आँखों के सामने, दृष्टि व्योम में, उपस्थित होती हैं। समान बुनन के पैटर्न वैसी ही बुनन के अंचल में एक होते हैं, जो पश्च वल्कुट के न्युरोनों द्वारा पृष्ठभूमि पर उभरता है।

बायें गोलार्ध में सरल चिन्हों का एकीकरण कुछ अन्य रीति से होता है। चित्र की खंड-मिथ्याहोलोग्राफिक धारणा इस तरह बदलती है कि मेलिन का रूपांतरण प्रकट हो जाता है। उसमें ढेर सारे लाभप्रद गुण होते हैं। विशेषकर, जटिल चिन्ह (या लक्षण)—ढेर सारे सरल लक्षणों के एकीकरण से प्राप्त संकुल—प्रस्तुत चित्र को बहुत मितव्ययता के साथ (मस्तिष्क के साधनों के उपयोग की दृष्टि से) अनुभूत करने और स्मरण करने में सहायक होते हैं। यह मस्तिष्क में उपस्थित जगत के प्रतिमान के साथ प्रस्तुत बिंब के संबंध के मूल्यांकन को बहुत सरल कर देता है और अंततोगत्वा देखने के बाद आदमी को जो कार्य करने चाहिये, उसका फुर्त्ती से निर्णय लेने में भी सहायक होता है।

गणित की दृष्टि में जटिल लक्षण एक खास प्रकार की सतह के रूप में दिखते है—सरल लक्षणों के बहुविम व्योम में एक अतितल (हाइपरप्लेन) के रूप में। बिंब को पह-

चानने के लिये बायें गोलार्ध को बहुविम व्योम में बिंदु तक का पथ नहीं ढूंढ़ना पड़ता, जैसा कि दायां गोलार्ध करता है। इतना ही निर्धारित कर लेना पर्याप्त रहता है कि इष्ट जटिल लक्षण अतितल से बायें स्थित है या दायें, और कुछेक कदमों में बहुविम व्योम के इष्ट अंचल में पहुँच जाया जाता है। यदि मोटा-मोटी कहें, तो जटिल लक्षणों की सहायता से पूरे अंचल पर गोलियां चलायी जाती हैं, ठीक लक्ष्य पर नहीं चलायी जातीं। स्पष्ट है कि यदि अंचल बहुत विस्तृत नहीं है, तो एक गोली—सबसे स्थूल लक्षण ('सजीव' है या 'निर्जीव', आदि)—से ही लक्ष्य को बेधा जा सकता है, यद्यपि अधिकांश स्थितियों में पाँच दस गोलियां भी चलानी पड़ सकती है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि अल्पकाल के लिये दिखाये गये चित्रों (जैसे 'छाते' और 'पेंसिल') में आदमी भेद नहीं कर पाता। इसका यह कारण नहीं है कि दोनों वस्तुएं लंबी हैं। लंबाई एक ऐसा लक्षण है, जिसका प्रेषण और वर्णन एक अलग चैनेल से होता है; यह चैनेल व्यौम संबंधों का है। फिर सिर्फ लंबाई के आधार पर बहुत कम ही स्थितियों में हम रूप का अनुमान लगा पाते हैं। गड़बड़ी का कारण यह है कि साक्काडिक छलांग के बाद प्रथम क्षणों में बा. जा. पि. के क्षेत्र बहुत ही स्थूल (मोटा-मोटी, सन्निकट आकृति वाले) होते हैं और मेलिन के रूपांतरण के अनुसार वर्णन भी बहुत सन्निकट (लगभगी) होता है: छाते और पेंसिल में भेद नहीं हो पाने का कारण यह है कि रूपांतरण के प्रथम पद एक जैसे होते हैं। और चूँकि अत्यल्पकाल में चित्र दिखाने के कारण आगे विश्लेषण का काम रुक जाता है, इसलिये

प्रेक्षक (प्रयोगाधीन व्यक्ति) को सही आकृति का निर्णय जटिल लक्षणों के उच्छेदित समूह के आधार पर लेना पड़ता है। गलतियां होंगी ही।

दृष्टि द्वारा पहचानने की ऐसी प्रयुक्ति से यह भी समझाया जा सकता है कि बायां गोलार्ध 'सादृश्य स्थापित' करने का काम क्यों ज्यादा अच्छी तरह करता है और बायां गोलार्ध – 'अंतर स्थापित' करने का; और इसमें भी सादृश्य देखने में हम क्यों अधिक गलती करते हैं, बनिस्बत कि अंतर देखने में। सादृश्य स्थापित करने का काम मेलिन के रूपांतरण के अनुसार विश्लेषण के प्रथम चरण पर ही संपन्न हो जाता है, जब बा. जा. पि. के क्षेत्र विस्तृत ही रहते हैं और दृष्टि-तंत्र में निम्न व्यौम आवृत्तियों के बारे में, अर्थात् सन्निकट परिरेखाओं के बारे में ही सूचनाएं प्रविष्ट हो पाती हैं। इसके लिये जटिल लक्षण पर्याप्त होते हैं। पूरी विश्वसनीयता और सभी सूक्ष्म विवरणों के साथ पहचानने के लिये आवश्यक है कि सिर्फ जटिल लक्षणों को ही नहीं, सभी सरल लक्षणों को भी देखें; बहुविम व्योम के विशेष अंचल में नहीं, बल्कि विशेष बिंदु पर पहुँचें, अर्थात् दायें गोलार्ध से काम लें।

'वृक्ष' के आरेख पर खोज करने वाली प्रयुक्ति जिस सूत्र के अनुसार काम करती है, वह बहुत सरल है: $X=15 \log 2 Y$, जहां X पहचानने में व्यय समय है (मिलिसेकेंडों में), और Y चित्रों की संख्या, जिनमें से चुनना है। भाषाविद जानते हैं कि सरल चित्रों को, 'चिड़िया', 'केतली', 'घर' आदि जैसी दैनंदिन अवधारणाओं को व्यक्त करने वाले शब्दों की संख्या रूसी भाषा में करीब एक हजार है। इसीलिये जब प्रयोगाधीन व्यक्ति को वस्तु का नाम नहीं बताया जाता, तो वह

इन चित्रों में से किसी को भी देखने की उम्मीद करने का पूरा अधिकार रखता है। वह इस संख्या का नाम तो शायद ही ले सके, लेकिन उसका मस्तिष्क अपने जीवन के अनुभव से इसी संख्या के लिये समंजित हो जाता है। इस तरह अनभ्यस्त आदमी भी कुछ हद तक पहले से तैयार ही रहता है। फर्क इतना ही होता है कि चित्रों का समूह उसके लिये कहीं अधिक बड़ा होता है, बनिस्बत कि उसके लिये, जो ठीक-ठीक जानता है: आज जाने-पहचाने ये आठ चित्र दिखाये जायेंगे। सूत्र में संख्या 1000 रख देने से हमें विश्वसनीय रूप से पहचानने का समय लगभग 15 मिलिसेकेंड मिलेगा, जो व्यवहार में सही सिद्ध होता है।

जब मैं इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के लिये सामग्रियां एकत्रित कर रहा था, नेव्स्काया के साथ मेरी निम्न वार्त्ता हुई थी:

– किसी समस्या के हल में किसी पूर्व दिशा के प्राप्त हो जाने पर मस्तिष्क अपने को उसके अनुसार पुनर्गठित कर लेता है, ताकि शीघ्रता से तुलना कर सके। उदाहरणार्थ, मैक-कैलोक की यह मान्यता है कि अपेक्षाकृत सरलता से पहचानने के लिये मस्तिष्क वस्तु का पहले से ही एक अनुमित व्यापकीकृत बिंब बना लेता है, रेटीना पर चित्र उत्पन्न होने से भी बहुत पहले। संभव है कि यह सच हो: छत्रक जमा करने में जिन्हें अधिक सफलता हासिल होती है, उनका कहना है कि वे जिस प्रकार के छत्रक को ढूंढ़ना चाहते हैं, उसका अपनी कल्पना में एक स्पष्ट चित्र बना लेने का प्रयास करते हैं। – यह अलेक्सांद्रा नेव्स्काया ने बताया।

– फिर जब मैं एक साथ कई वस्तुओं को देखता हूं, तो

उनके लक्षणों को पहचानने में भूल क्यों नहीं करता? अभी ही मेरी आँखों के सामने आपका अजूबा सा उपकरण है, टेबुल-कुर्सी तथा कमरे की अन्य चीजें हैं। – मैंने पूछा।

– आप उन्हें एक साथ थोड़े ही देखते हैं, एक-एक कर के देखते हैं। एक साथ अनुभूत करने की बात, एक साथ आँखों से ग्रहण करने की बात मात्र एक भ्रम है। आँख एक तरह से एकबिंबी तंत्र है, यदि हम इस तरह के शब्द का उपयोग कर सकते हैं, तो। वह एक बार में सिर्फ एक वस्तु को पहचान सकती है, फिर वह दूसरी वस्तु की ओर उन्मुख होती है। मैं आपको पाँच वस्तुएं अत्यल्पकाल के लिये दिखाऊं तो आप सिर्फ एक को देख सकेंगे। फिर दिखाने का समय लंबा करते जाने पर दूसरी, तीसरी आदि वस्तुएं दिखेंगी।

अब इस प्रश्न का उत्तर देना संभव हुआ है कि पहचानने का काम 'एकबिंबी' क्यों है। दायां गोलार्ध हमारा ध्यान आकर्षित करने वाली वस्तु का बिंब बना कर (यह भी बता दें कि बिंब बनाना और पहचानना एक ही बात नहीं है) इस बिंब को बायें पश्च वल्कुट में भेजता है। वहां पूर्ण चित्र में से यह विशेष बिंब उभारा जाता है या विलगित किया जाता है, जिसे बायां निम्न-शंख वल्कुट जटिल लक्षणों अर्थात् मेलिन के रूपांतरण की सहायता से अनुभूत करता है और पहचानता है। इस रूपांतरण के लिये यह बात बहुत महत्त्व-पूर्ण है कि मूर्त्त बिंब सिर्फ एक हो। इस तरह, 'एकबिंबता' बायें गोलार्ध के दृष्टि-उपकरण की जंतिकीय रूप से निश्चित की गयी संरचना का और उसके कार्य का प्रतिफल है।

मेलिन का रूपांतरण इस बात में बहुत अच्छा है कि उसके बाद किसी और प्रक्षेपी रूपांतरण की आवश्यकता नहीं पड़ती।

आप वस्तु को व्योम में घुमा कर रख सकते हैं, उसे भिन्न दूरियों से देख सकते हैं, जिससे कि रेटीना पर हर बार कुछ भिन्न चित्र उत्पन्न हो जाये (और दायां गोलार्ध उसे इसी रूप में अनुभूत भी करता है), लेकिन बायें गोलार्ध में मेलिन के रूपांतरण के बाद सदा एक ही उत्तर मिलेगा। यदि अन्य शब्दों में कहें, तो इस रूपांतरण की कृपा से (आश्चर्य होता है कि प्रकृति कैसे इसका आविष्कार कर सकी) आदमी और विकास-क्रम के अन्य उच्च जंतुओं का दृष्टि-उपकरण अटल--अविचल अनुभूति की क्षमता प्राप्त करता है। इसीलिये तो छाता चाहे बड़ा हो, या छोटा, या मध्यम आकार का (जाहिर है कि आकृति एक ही होनी चाहिये), वह छाते के एक ही व्यापकीकृत बिंब के रूप में दिखता है। और सजीव प्राणियों के जीवनानुभव का अर्थ भी यही है कि वह सभी वैक-ल्पिक रूपों का सही मूल्यांकन करना और यह पहचानना सीख जाये कि छाता कब छोटा होने के कारण छोटा दिखता है और कब दूर होने के कारण। संभवतः इस मूल्यांकन में बुननों की भूमिका होती है, जिन्हें हम वस्तु की सतह पर विभेदित करते हैं, वस्तुओं के आपसी संबंधों की और विभेदक न्युरोनों की सहायता से दूरी निर्धारित करने वाली जन्मजात प्रयुक्ति की भी भूमिका होती है।

हम गुलदस्ते को हाथ में लेकर उसे घुमाते हैं, ताकि उसे सब ओर से देख सके। इसकी पिपासा हममें बचपन से ही उपस्थित रहती है, जब हम खिलौनों को सब ओर से घुमाते हैं और बायें गोलार्ध के दृष्टि-उपकरण को भिन्न बिंदुओं से देखने तथा अनुभूति की अटलता, अविचलता कायम रखने वाले लक्षण विरचित करने का सुअवसर प्रदान करते हैं।

यह काम बहुत ही लंबा और दुष्कर है। सिर्फ 13 वर्ष की आयु में बच्चे का बायां गोलार्ध पहचान के ऐसे लंछकों को प्रदर्शित करता है, जो वयस्क के बायें गोलार्ध के लिये लाक्षणिक होते हैं। आरंभिक बाल्यकाल में वस्तुओं की अटल पहचान नहीं हो पाती (यद्यपि छोटे बच्चे भिन्न आकार की वस्तुओं में एक सार्विकता का दर्शन कर लेते हैं, सदृश वस्तुओं के ग्रुप बना लेते हैं)।

अन्यतः, हम अपनी ओर से वह सब कुछ करते रहे हैं, जिससे बायें निम्न-शंख वल्कुट में, जहां चित्रों के जटिल लक्षण प्रेषित होते हैं, वस्तु की 'दृश्य-विविक्ति' विरचित हो जाये। जैसे ही वह उत्पन्न होती है, वस्तु को अत्यल्पकाल के लिये भी देख कर उसे पहचान लेते हैं, चाहे वह किसी भी झुकाव पर क्यों न स्थित हो: घोड़ा हमें घोड़ा ही दिखता है, चाहे हम उसे सामने से देखें, चाहे बगल से, चाहे पीछे से।

लेकिन खड़ा घोड़ा और दौड़ता घोड़ा दोनों विविक्ति का काम करने वाले दृष्टि-उपकरण के लिये भिन्न बिंब हैं। वे आपस में तुल्य नहीं हैं। इसी तरह दृश्य-विविक्तियां 'खुला पंजा' और 'मुट्ठी' एकाकार नहीं हो जातीं। ये दृश्य-विविक्तियां अधिक उच्च कोटि की विविक्तियों के लिये निर्माण-सामग्री हैं। और यह बात कि वे सब सिर्फ एक बायें गोलार्ध में और वह भी वल्कुट के सिर्फ शंख अंचल में स्थित होती हैं, कोई संयोग की बात नहीं है (सुविदित है कि शंख अंचल का संबंध सीधा वाक् से है)। वैसे, यह इतना गंभीर विषय है कि इसके लिये पूरा का पूरा अंतिम अध्याय सुरक्षित रखा गया है, अतः थोड़ी प्रतीक्षा कर ही लें...

मेलिन का रूपांतरण एक और प्रश्न का उत्तर देता है:

हम कुत्ते और भेड़िये में तो भेद कर लेते हैं, भेड़िये और भालू में भेद करना तो और भी सरल है, फिर हम कागज पर या कल्पना में किसी विविक्त भालू या भेड़िये का चित्र क्यों नहीं बना पाते; उन्हें पहचानने के लिये आवश्यक संरचनाएं तो मस्तिष्क में होती ही हैं? बात यह है कि ऐसे गणितीय रूपांतरण के बाद बिंब खंड-मिथ्याहोलोग्राफिक रूप बिल्कुल लुप्त हो जाता है। मूर्त्त बिंब से उसके जटिल लक्षण अलग हो जाते हैं, लेकिन इस तरह कि उन्हें जोड़ कर पुनः बिंब बनाने का वापसी रास्ता बंद हो जाता है। दृश्य विविक्ति यथार्थ में बायें निम्न-शंख वल्कुट में उपस्थित होती है और वह न्युरोनी जाल के तदनुरूप परिवर्तनों के रूप में अंकित रहती है—तथाकथित 'मस्तिष्कीय गणित के शब्दों' में। वैसे, दोनों गोलार्ध आपस में सूचनाओं का आदान-प्रदान करते रहते हैं और इसीलिये विविक्त बिंब (उसे द्योतित करने वाले शब्द से उत्पन्न होकर) तुरंत दायें गोलार्ध में प्रस्तुत हो जाता है—वहां याद रखे हुए उपबिंबों और व्यौम संबंधों की सहायता से। बहुत से लोग हैं, जो ऐसे बिंब को चित्रित कर सकते हैं, लेकिन यह चित्र आंतरिक बायें गोलार्ध के बिंब से भिन्न है या नहीं, यह कोई भी व्यक्ति बता सकता है। और इसमें, जैसा कि हम देखते हैं, आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

बायें गोलार्ध को दृष्टि-उपकरण का आरेख प्रकृति से ही, जंतिकीय रीति से प्राप्त हो जाता है। वह काम भी करता है जंतिकीय रीति से प्रदत्त नियमों के अनुसार ही। इसीलिये किसी भी आदमी के लिये यह मूर्त्त वृक्ष मूर्त्त ही रहेगा, अर्थात् जैसा है वैसा ही रहेगा—अपनी सभी टहनियों, पत्तियों,

तने और फुनगियों के साथ। लेकिन बायें गोलार्ध की बात दूसरी है। बच्चे के विकास के साथ-साथ उसके बायें गोलार्ध में आनुवंशिक रूप से प्राप्त दृष्टि-उपकरण रूपांतरित होता रहता है, वह दृश्य-विविक्त पहचान के लिये विरचित होता रहता है। यह तथ्य प्रायोगिक रूप से स्थापित किया जा चुका है! अन्य शब्दों में, दायें गोलार्ध का कार्य व्यक्तित्व पर निर्भर नहीं करता और इसीलिये इस गोलार्ध से होने वाली भूलें या गलतिया कमोबेश मानक होती हैं। बायें गोलार्ध का कार्य लालन-पालन, शिक्षा तथा अन्य सामाजिक घटकों द्वारा निर्धारित होता है और इसीलिये बिल्कुल निजी या व्यक्तिपरक होता है (प्रयोगों से सिद्ध होता है कि बायें गोलार्ध की भूलें भी व्यक्तिपरक होती है)।

इसीलिये जब लोगों को 'चिंतक' और 'कलाकार' की दो श्रेणियों में विभाजित करते हुए एक गोलार्ध के कार्य को दूसरे गोलार्ध के विपरीत बताया जाता है, तो इसका कोई अर्थ नहीं निकलता। बायें गोलार्ध में डाले 'विविक्त अदृश्य' की आवश्यकता बिंबों के माध्यम से चिंतन करने वाले चित्रकार को गणितज्ञ से कुछ कम नहीं पड़ती, अन्यथा वह कला के क्षेत्र में बहुत आगे नहीं बढ़ सकेगा ; उसकी रचनाएं बहुत विशिष्ट होंगी, उनमें व्यापकता और सार्वभौमता नहीं आ पायेगी ; वे कम रुचिकर होंगी। यद्यपि व्यापकीकरण की क्षमता दोनों ही गोलार्धों में होती है, लेकिन दायां गोलार्ध यह काम बाह्य सादृश्य के आधार पर बेहतर तरीके से करता है और बायां गोलार्ध – कार्यात्मक सादृश्य के आधार पर। लेकिन साथ ही, दायें गोलार्ध में कोई त्रुटि होने पर अनुभूति जरूरत से ज्यादा व्यापक होने लगती है, बाह्यतः समान वस्तुओं और बिंबों के बीच सूक्ष्म अंतरों को स्पष्ट करने की क्षमता खो बैठती है। आदमी अपने जीवनकाल में अनेक सूचनाएं प्राप्त करता है, बिंबों की एक 'वर्णमाला' अर्जित करता है, जिसकी सहायता से स्थिति का शीघ्र मूल्यांकन कर पाता है, उसमें आवश्यक कदम उठाने का निर्णय लेता है। इन समस्याओं को बायां गोलार्ध अधिक अच्छी तरह हल करता है, जिनके लिये बिंबों की कोई 'वर्णमाला' अभी नहीं बन पायी है, वर्णन या निरूपण का अभी कोई सामान्य तंत्र अस्तित्व में नहीं आ पाया है। विभिन्न मनोशरीरलोचनी प्रयोगों से प्राप्त ये तथ्य दृश्य-अनुभूति के नर्वशरीरलोचन द्वारा भी सत्य सिद्ध हो रहे हैं।

अध्याय 11

व्यौम रजतपट

काकेशिया नीचे है। अकेला शिखर पर
खड़ा हूँ हिम से ऊपर, मंथरा-स्रोत पर....

—पुश्किन

—क्या पिरामिड के पीछे कोई बड़ी वस्तु है?

—हां, तीन वस्तुएं: एक लाल बड़ा पट्टा, एक हरा बड़ा घन और एक नीला पट्टा।

—सबसे छोटा पट्टा हरे घन पर रखिये, जिसपर पिरामिड रखा है।

—अब ऊपर सबसे छोटा पिरामिड रखिये।

—अच्छा।

किसके साथ बातचीत हो रही है? किसी आदमी के साथ, जो वस्तुओं के रूप-रंग में भेद नहीं कर पाता और जिसे व्यौम तथा रंगपरक संबंधों का ज्ञान दिया जा रहा है? नहीं। यह बातचीत रोबट के साथ चल रही है, जो 1970 में प्रकाशित हुई थी। चालिकीय (साइबरनेटिक) प्रयुक्तियों को कभी हृदयहीन स्वचल मशीन कह कर लोग गाली दिया करते थे, लेकिन ये मशीनें रंग, रूप, आकार, अपने एलेक्ट्रोनी मस्तिष्क में विरचित अनुभूति, व्योम में वस्तुओं की स्थि-

ति आदि उस समय भी पहचानने में समर्थ थीं। रोबट मशीनी भाषा का उपयोग करता था, जिसमें 'आगे स्थित है', 'अन्य वस्तु का सहारा लिये है', 'सामने स्थित है', 'दूसरी वस्तु के पीछे स्थित है', आदि अवधारणाएं बिल्कुल शुद्ध-शुद्ध परिभाषित थीं। मशीन रंग या आकार (परिमाप) को किस प्रकार अनुभूत करती है, यह समझना बहुत सरल है: रंगीन टेलीवीजन से हम अच्छी तरह परिचित हैं, अतः स्क्रीन पर चित्र का क्षेत्रफल नाप कर स्मृति में स्थित मानदंड के साथ उसकी तुलना कर लेना कठिन नहीं है। लेकिन मशीन के लिये रूप (आकृति) और वस्तुओं की पारस्परिक (सापेक्षिक) स्थितियों को अनुभूत करना...

जब एक वस्तु के पीछे दूसरी वस्तु छिपी होती है, उनकी परिरेखाएं एक-दूसरे को काटती हैं। हो सकता है कि आप को यह पसंद न हो: इससे आँख को पूरी वस्तु नहीं दिख पाती, सिर्फ उसका एक अंश दिखता है। लेकिन ऐसी स्थिति से ही दृष्टि को ढेर सारी उपयोगी सूचनाएं प्राप्त होती हैं। परिरेखाओं के कटान-बिंदु पर दो, तीन या कई रेखाएं आकर मिल सकती हैं, अतः ऐसे बिंदु को गाँठ कहेंगे। गाँठ बहुत अधिक प्रकार के नहीं होते, सिर्फ आठ प्रकार के होते हैं।

यदि गाँठ एक-दूसरे को तीछ (न्यून) कोण पर काटती दो रेखाओं से बनी है, तो कोण के भीतर और बाहर के क्षेत्र शायद भिन्न वस्तुओं की ही होंगी। जब तीन रेखाएं परस्पर ऐसे कोणों पर संसृत होती हैं कि हर कोण 180° से छोटा होता है, तो हम एक पिंड की तीन सतहों की सीमा-रेखाएं देख रहे होते हैं। और यदि इनमें से एक कोण 180° से बड़ा होता है, तो दो क्षेत्र एक ही वस्तु के होते हैं और

तीसरा – दूसरी वस्तु का। बहुत संभव है कि यह दूसरी वस्तु पृष्ठभूमि हो, जिसपर कोई क्रिया संपन्न हो रही हो। गाँठ-T (जिसमें दो संलग्न कोणों का योग $180°$ के बराबर है) का अर्थ अक्सर यह होता है कि कोई तल किसी पिंड को ढक रहा है; गाँठ के संलग्न कोण इसी पिंड की सतहों से बनते हैं।

आप चारों ओर ध्यान से देखिये, आप तुरंत समझ जायेंगे कि गाँठें सचमुच व्योम की गहराई को व्यक्त करने वाले महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं। हरेक गाँठ सतहों के आपसी संबंधों के बारे में सूचनाएं देती हैं – ये सतहें एक ही पिंड की हैं या भिन्न पिंडों की, विचाराधीन सतह अन्य से आगे है या पीछे, ऊपर है या नीचे, आदि। सभी प्रकार की गाँठों का नामकरण किया गया, उनके और तदनुरूप सतहों के साथ संक्रियाओं के नियम सूत्रबद्ध किये गये, ताकि रोबट उस कमरे में दिग्ग्रह कर सके, जिसमें खिलौने के क्यूब बिखरे थे।

रेखाएं – गाँठें – अंचल – सतहें – पिंड – पूर्ण दृश्य ... पहचानने के लिये कंप्यूटर-रोबट की स्मृति में डाले गये नियम व्योम में उसका दिग्ग्रहण करते हैं, जिस स्थिति में वह पहुँच जाता है, उसके डिकोडन का पथ निर्धारित करते हैं। डिजाइनरों के लिये यह बात एक खोज सिद्ध हुई कि दृश्य का लेखन और देखी हुई वस्तु को पहचानने का काम बहुत सरल हो जाता है, जब किसी स्रोत से छाया पड़ती होती है। "मशीनी दृष्टि का मनोलोचन" नामक पुस्तक के संपादक पैट्रिक विस्टन लिखते हैं: "पूर्व अन्वीक्षण अधिक कठिन थे, क्योंकि वे इस मान्यता पर आधारित किये जाते थे कि छाया सिर्फ अवांछित उलझन ही उत्पन्न करती है।" रोबट के लिये

पहचानने का प्रोग्राम तैयार करने वालों की दूसरी खोज यह थी कि रूप पहचानने के लिये रेखाओं और छायों का ही नहीं, बल्कि वस्तुओं से परावर्तित प्रकाश की अर्धाभाओं की क्रीड़ा का भी विश्लेषण करना चाहिये। और अंत में इंजिनियर इस निष्कर्ष पर पहुँचे, जो चित्रकारों को और शृंगारपरायण स्त्रियों को सहस्राब्दियों से ज्ञात है: गाढ़ी सुर्खी लेपने से गाल और भी फूले-फूले लगते हैं और त्वचा को दूधिया शीशे का रंग प्रदान करने वाला पाउडर चेहरे की लकीरों को सुकोमल बनाता है...

इस तरह के रोबट, जिनसे रंग-बिरंगे क्यूबों की बात चल रही थी, काने थे – वे एकमात्र टेलीवीजनी कैमरे के लेंस से देखते थे (अब भी, कारखानों के कर्मालयों में 'एक आँख वाले' ही उपकरण प्रयुक्त होते हैं, दो आँख वाले बहुत कम दिखते हैं)। फिर भी जैसा कि हम देख चुके हैं, जगत उनके लिये व्यौम ही होता है, अर्थात् उसमें अग्र और पश्च तल हुआ करते हैं। इससे यह नेत्रलोचनी तथ्य एक बार और सिद्ध हो जाता है: व्यौमता (व्यौमधर्मिता) और व्योमदर्शिता एक ही चीज नहीं है, यद्यपि आम आदमी उनमें भेद नहीं करते। उनमें अंतर क्या है?

कवि ने कहा है:

यहां नीचे अनवरत मेघखंड विचरते हैं;
जिनके पार फूट-फूट निर्झर झरते हैं;
फिर नीचे नग्न चट्टान हैं विशाल प्रहरी,
चरणों पर जिनके कृषकायी काई
और सूखे झाड़ पनपते हैं;

19—1646

फिर कुंजवन हैं, हरे मैदान लहकते हैं,
पक्षी कलरवरत हैं जहां, हिरण चौकड़ियां भरते हैं।

यह विस्ताररत पहुपटलीय चित्र उसने दो आँखों की दृष्टि से देखा था। लेकिन रोबट अपनी एक आँख वाले टेलीनेत्र से भी वस्तुएं इसी क्रम में देखता है। आखिर आधे किलोमीटर से अधिक दूरी पर दृश्य की व्योमधर्मिता आदमी सिर्फ इसलिये अनुभूत करता है कि वस्तुएं एक-दूसरे को आंशिक तौर पर ढकती जाती हैं और दृष्टि के समक्ष परिरेखाओं की नाना गाँठें प्रस्तुत करती जाती हैं (स्मरण कीजिये कि जब पहाड़ियों पर या अंतरिक्ष में पटों का क्रमिक अतिछादन नहीं दिखता, तो लोग दूरियों का अनुमान लगाने में कैसी गलतियां कर बैठते हैं)। अन्य लक्षण भी हैं, जिनके आधार पर हम दूर और निकट के बीच भेद कर लेते हैं: वृक्षों, लोगों, घरों की परिमापें बदल जाती हैं, रंग परिवर्तित हो जाते हैं (चित्रकार इसे रैखिक एवं हवाई परिप्रेक्ष्य कहते हैं), वर्णाभाएं कुछ दूसरे प्रकार से दिखती हैं... परीक्षक विमान-चालक सेर्गेई अनोखिन का उदाहरण अब क्लासिकल हो गया है। उन्होंने हवाई दुर्घटना में अपनी एक आँख खो दी थी। उन्होंने विहंगम-दृश्य और दूरियां निर्धारित करने का इतना अभ्यास किया कि डाक्टरों के एक अत्यंत उच्च आयोग ने भी उन्हें विमान-चालन के लिये सक्षम करार कर दिया। इस अपवाद ने सचमुच एक नियम को सत्य सिद्ध कर दिया: आँखें एक-दूसरी को दुहराती भी हैं, द्वितीयक लक्षणों के आधार पर हर आँख व्योमधर्मिता निर्धारित कर सकती है।

प्राथमिक लक्षण है – व्योमदर्शिता, जो एक किलोमीटर से कम की दूरियों पर काम करती है (कुछ लोगों के लिये यह सीमा अधिक विस्तृत होती है, करीब डेढ़ किलोमीटर तक, क्योंकि उनकी आँखों के बीच की दूरी सामान्य से अधिक होती है)। व्योमधर्मिता यहां इसलिये उत्पन्न होती है कि दायीं और बायीं आँख वस्तुओं को कुछ भिन्न प्रकार से देखती हैं: सिर्फ घरों का आमुख-तल ही नहीं, जिसपर दोनों नेत्र-गोलकों के प्रकाशिकीय अक्ष निर्दिष्ट और संसृत तो होते हैं, लेकिन हरेक का अक्ष थोड़ा 'अपने' पार्श्व की ओर खिसका होता है (सम्मुख, केंद्रीय दृष्टि से ऐसे विचलन को लंबन कहते हैं)। औसतन हमारी आँखें एक दूसरे से साढ़े छह सेंटीमीटर दूर होती हैं और इसी के कारण व्योमदर्शिता की सीमा एक किलोमीटर है; इससे **आगे** मस्तिष्क चित्रों में भेद नहीं पकड़ पाता। और यदि **आगे** की जरूरत होती है (जैसे सेना में), तो व्यौमनलियों और दूरमापकों का उपयोग किया जाता है। इन उपकरणों में आधार, अर्थात् लेंसों के बीच की दूरी दसियों सेंटीमीटर या कुछेक मीटर के बराबर होती है। व्योम की गहराई इसी के अनुरूप कई गुना बढ़ जाती है, जैसे आधार छह मीटर होने पर दृश्य गहराई करीब बीस किलोमीटर हो जाती है।

लेओनार्दो दे वींछी की 'चित्रकला' नामक पुस्तक में निम्न पंक्तियां हैं: "दो आँखों से देखी जाने वाली वस्तु को इस प्रकार नहीं चित्रित किया जा सकता कि उसपर वह समान उत्तलता के साथ दिखे, यद्यपि प्रकाश और साये बिल्कुल शुद्ध-शुद्ध प्रदान कर दिये जाते है।" (बिल्कुल संभव है कि दार्शनिकों और चित्रकारों ने इसके पहले भी इस पर मनन किया
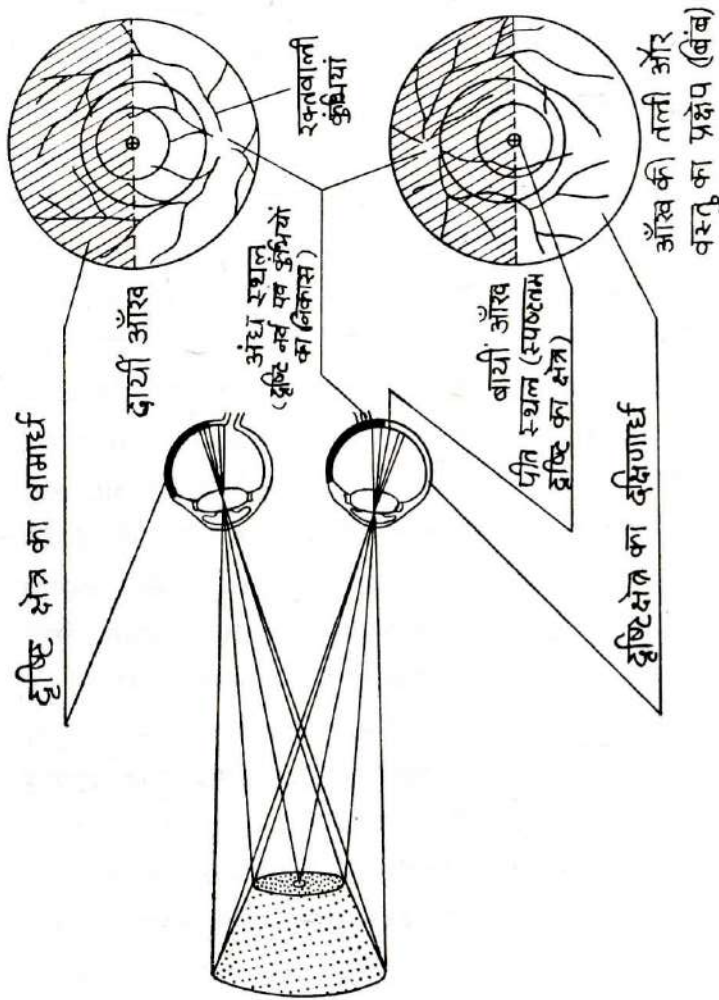
होगा, लेकिन लेश्रोनार्दो के शब्द प्रथम लिखित साक्ष्य हैं)। नेत्रलोचक इसकी निम्न व्याख्या देते हैं: समतल चित्र दोनों आँखों की रेटीनाओं के एक ही बिंदुओं पर प्रक्षिप्त होते हैं। पेशियां नेत्रगोलक को इस प्रकार घुमाती हैं कि चित्र के समान बिंदु रेटीनाओं के तथाकथित सानुरूप अंचलों पर पड़ते हैं, जिससे दो बिंब परस्पर लीन हो जाते हैं (नेत्रलोचक इस संवृत्ति को संलयन कहते हैं)।

व्यौमदर्शिक दृष्टि की ऐसी व्याख्या पहली बार 1775 में अंग्रेज वैज्ञानिक जोसेफ हैरिस ने प्रस्तुत की थी। उन्होंने लंबन की भूमिका समझ ली थी: "... इससे हमें वस्तु की दृश्य तलाकृति प्राप्त होती है, जिससे हम उसे पहचान पाते हैं और जिस तल पर वह स्थित होता है, उससे उसे उभार पाते हैं। यथा, नाक उतनी ही उभरती है, जितना ही अधिक हम उसे चेहरे के दोनों तरफ से एक साथ देख पाते हैं।" और 63 वर्ष बाद उन्हीं के अपने देशवासी लॉर्ड चार्ल्स विट्सन ने इतिहास में प्रथम व्योमदर्शी का निर्माण किया। (ये वही विट्सन हैं, जिनके नाम से आज सभी विद्यु-कर्मकार और अब शायद स्कूली बच्चे भी 'विट्सन-सेतु' के कारण परिचित हैं; इस उपकरण से वैद्युत प्रतिरोध अतिशुद्धता से नापा जा सकता है।) उन्होंने दिखाया कि हल्के-से भिन्न बिंदुओं से

हमारी दृष्टि के व्यौमदर्शिक होने का कारण समझाने के लिये आरेख। ध्यान दें: दायें व बायें नेत्रगोलकों की तली पर वस्तु भिन्न प्रकार से प्रक्षिप्त होती है: उच्छेदित शंकु का आधार – वृत्त 3 – केंद्र 1 से भिन्न दिशाओं में खिसका हुआ है।

बनाये गये दो चित्र परस्पर संलीन हो कर बहुत ही व्यौम-धर्मी दिखने लगते हैं। ध्यान दिला दें कि उस समय फोटो-चित्रों को कोई नहीं जानता था, ये चित्र दो अंध-कैमरों की सहायता से बनाये जाते थे। वैसे, डागेर ने फोटोग्राफिक चित्र प्राप्त करने की रीति उसी वर्ष ज्ञात कर ली, जिसका नाम डागेरोटाइप पड़ा। इसके कुछ महीने बाद ही प्रसिद्ध भौतिक-विद ऐरागो ने व्यौमदर्शिक फोटो-चित्रण की संभावना का विचार प्रस्तुत किया...

खैर, शरीरलोचन के क्षेत्र में लौटें। आश्चर्य है कि बहुत कम ही लोग सहीसही समझ पाते हैं कि देखने की क्षमता अपने आप में विकास-क्रम की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। दृष्टि-तंत्र के न्युरोनी संपर्क, जिनकी सहायता से दो आँखों की दृष्टि वाला व्यौम बिंब प्राप्त होता है, किसी संयोग के वश नहीं उत्पन्न होते, इसलिये नहीं उत्पन्न होते कि न्युरोनों की संख्या करोड़ों तक है, बल्कि इसलिये कि इस कल्पनातीत जटिल जाल की एक योजना है, जो हमारे शरीर में जंतिकीय रीति से अवतरित होती है।

इसके अनेक प्रमाणों में एक है – असंख्य प्रयोग, जिनकी शुरुआत अंग्रेज शरीरलोचक टी. बाउएर ने की थी। उन्हीं की कृपा से यह स्पष्ट हो सका कि व्यौम अनुभूति की क्षमता शिशु में 'खुद ब खुद' उत्पन्न होती है। दो महीने का बच्चा, जिसे कोई गंभीर दृष्टि-अनुभव नहीं होता (अधिकांश समय तो सोये ही रहता है), खिलौने तक की दूरी निर्धारित कर लेता है; यह क्षमता रेटीना पर बने बिंब की परिमाप पर निर्भर नहीं करती। बाउएर ने क्या किया? उसने भिन्न आकारों के क्यूब इस तरह रखे कि रेटीना पर उनके बिंबों
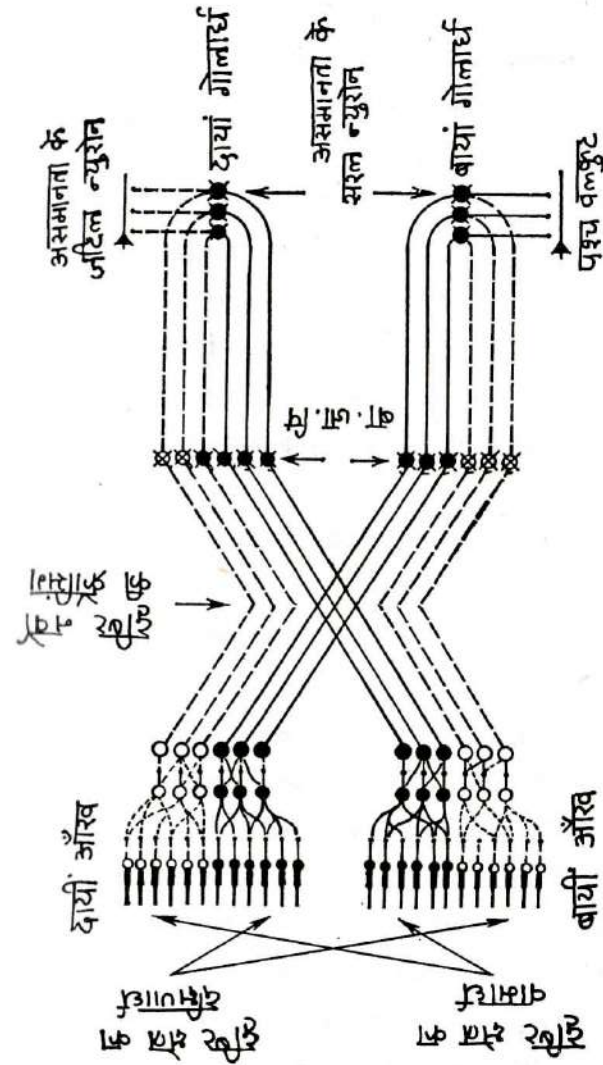
द्विनेत्री दृष्टि का आरेख। वह दोनों आँखों की रेटीनों के दायें अर्धों से आने वाले न्युरोनी चैनलों से संभव होती है (पेट्टीग्रियू के अनुसार)।

का आकार एक-सा हो और इसके विपरीत, समान आकार के क्यूब इस तरह रखे कि रेटीना पर उनके बिंबों के आकार भिन्न हों। यह सारी चालाकी व्यर्थ गयी। बच्चे को ठगा नहीं जा सका। अपना क्यूब वह उन क्यूबों के बीच हमेशा पहचान लेता था, जो उसके क्यूब जैसा दिखने का दावा करते थे। वह भूल नहीं करता था, क्योंकि वह जगत को दोनों आँखों से देखता था और खास कर उस क्षण, जब जीवन के आठवें सप्ताह के अंत में उसकी आँखें कमोबेश रूप से एक साथ मिलकर घूमना शुरू कर देती हैं। इतनी निपुणता से तो नहीं, लेकिन कुछ हद तक इस तरह से जरूर व्यतिक्रिया करने लग जाती हैं, जो व्यौमदर्शिक दृष्टि के लिये आवश्यक होता है।

सारा काम परिस्थितिज प्रतिवर्तों की क्लासिकल रीति से किया गया था। इसमें बच्चे को प्रलोभन देने के लिये कोई स्वादिष्ट खाना नहीं दिया जाता था, जैसे कुत्ते-बिल्ली को दिया जाता है। उसके साथ 'कू-कू' का खेल खेलते थे। सही चयन होने पर टेबुल के नीचे से एक सुंदर हँसमुख लड़की का चेहरा निकलता था और कोयल की तरह "कू-कू" की आवाज निकालता था, जिससे बच्चा बहुत खुश होता था। इस 'हार्दिक भोजन' के ही कारण बच्चा बीस-बीस मिनट तक प्रयोग में भाग लेता रहता था, सोता नहीं था।

निस्संदेह, शिशु की क्षमताओं के संबंध में अतिशयोक्ति नहीं करनी चाहिये। दो आँखों वाले दृष्टि-उपकरण की विरचना की अतिजटिल योजना को कार्यान्वित करने में उसे बहुत समय लगता है। जन्म के बाद प्रथम छह महीने इस मामले में बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं, इस समय हल्की-सी भी गड़बड़ी के परिणाम बाद में बहुत गंभीर हो जाते हैं। करीब तीन

वर्ष में बच्चे की दृष्टि-तीव्रता वयस्क की तीव्रता का दो-तिहाई अंश प्राप्त करती है। इसी काल में दो आँखों से जगत की अनुभूति की क्षमता के विकास का द्वितीय संकटमय चरण पूर्ण होता है। लेकिन अभी भी यह नहीं कहा जा सकता कि व्यौमदर्शिक दृष्टि पूरी तरह से स्थापित हो चुकी है। अनेक आँकड़ों के अनुसार यह अनुभूति वयस्क के स्तर पर 11-13 वर्ष में पहुँचती है।

अफसोस कि ऐसे आनुवंशिक और अर्जित कारण अनेक हैं, जो आरंभिक बाल्यकाल में (और कभी-कभी वयस्कावस्था में भी) संलयन की क्षमता को क्षति पहुँचा देते हैं। इस स्थिति में दोनों आँखों के बिंब एकाकार नहीं हो पाते। जरा इस पृष्ठ को देखते हुए नेत्र-पेशियों को शिथिल कर दीजिये, इससे आपको अनुभव हो जायेगा कि इस तरह की त्रुटि वाले लोगों को कितनी कठिनाई होती है: पंक्तियां दुहरी हो जाती हैं, पढ़ना तो क्या ऐसी अवस्था में ठीक से देख पाना भी कठिन हो जाता है...

–जी हां, यह बहुत ही दुखद अनुभूति है,–प्रोफेसर एदुआर्द आवेतीसोव सहमत होते हुए कहते हैं, जो नेत्र-रोगों के गेल्मगोल्त्स वैज्ञानिक अन्वीक्षण संस्थान के एक विभाग में अध्यक्ष हैं; इस संस्थान में भेंगापन की चिकित्सा की जाती है, अधिदृष्टि और अक्सर दो आँखों वाली व्यौम दृष्टि पुनर्स्थापित की जाती है।–मस्तिष्क के सामने दोनों में से एक बिंब को हटा या दबा देने के अलावा और कोई चारा नहीं रह जाता। दबा देने का क्या अर्थ है? आदमी एक आँख से अंधा रह जाता है, यद्यपि उसका सारा दृष्टि-पथ ठीक-ठाक रहता है, उसमें दृष्टि-कुंदता उत्पन्न हो जाती है। यदि यह

आरंभिक बाल्यकाल में होता है, जब बच्चा बोलना नहीं जानता, तो वह इसकी शिकायत भी नहीं कर पाता। और मस्तिष्क जो एक अतिलोचदार तंत्र है, उम्र के साथ-साथ अपने को इतना पुनर्गठित कर लेता है कि दृष्टि को सामान्य कर पाना बहुत कठिन हो जाता है।

–आँख की स्थिति ठीक करने के लिये नेत्र-पेशियों को काटना पड़ता है या नहीं?

–यदि इतना ही करना पड़ता, तो कोई समस्या ही नहीं थी। सिर्फ आपरेशन से कुछ भी हाथ नहीं लगता। उन न्युरोनों को भी प्रबुद्ध करना (जगाना) पड़ता है, जो लंबे समय तक निष्क्रिय थे, या काम करते भी थे, तो अपनी क्षमता का दशांश भर ही। रेटीना को और दृष्टिपथ के उच्च विभागों को सक्रिय करना पड़ता है। बात यह है कि भेंगी दृष्टि और इसके कारण दो आँखों वाली व्यौम दृष्टि में गड़बड़ियों से पीड़ित आदमी के मस्तिष्क में दृष्टि-अंचल बिल्कुल दूसरी तरह से काम करने लगते हैं, सामान्य लोगों की तरह नहीं करते। दृष्टि-पथ के कार्य-दमन का यह अर्थ नहीं होता कि आँख अपनी संवेदिता खो बैठी है। वल्कुट के पश्च विभागों तक कुछ संकेत पहुँचते हैं, लेकिन वल्कुट के उस स्थल पर, जहां दोनों बिंबों को एकाकार होना होता है, ये 'अनावश्यक' संकेत एक तरह से धकिया दिये जाते हैं... जाहिर है कि न्युरोनी संरचनाओं पर इसका असर पड़े बिना नहीं रहता...

मैंने यह जानना चाहा कि न्युरोनों को प्रबुद्ध कैसे किया जाता है। एदुआर्द आवेतीसोव ने बताया कि इसकी कई रीतियां हैं। उदाहरणार्थ, रेटीना की केंद्रीय खातिका को सलाख जैसी पतली, किंतु शक्तिशाली किरण-पुंज से क्षोभित करते

हैं। इसे 'चकाचौंध' करने वाला क्षोभ कहते हैं। आवेतीसोव और उनके कलीगों ने इस विधि को बहुत पहले, 60 के ही दशक में प्रस्तावित किया था और अब इसका उपयोग देश के हर बालवाड़ी में होने लगा है, जहां दृष्टि-कुंदता से ग्रस्त बच्चों की चिकित्सा होती है। इसकी सहायता से रेटीना और दृष्टि-वल्कुट के संपर्क को एक तरह से प्रबुद्ध किया जाता है। इसी के फलस्वरूप भेंगी आँख की तीव्रता अक्सर बहुत अधिक बढ़ जाती है; यह वृद्धि सामान्य तीव्रता के शतांश से ले कर इकाई अंश तक हो सकती है। एक अन्य रीति है–ठीक आँख को लंबे समय के लिये बंद कर देना। इसे 1743 में प्रसिद्ध फ्रांसीसी प्रकृतिवेत्ता ब्युफोन ने प्रस्तावित किया था। उन्होंने इसके बारे में शोध-ग्रंथ लिखा था: भेंगेपन के कारण और उसकी चिकित्सा की रीतियां। यह रीति इतनी अच्छी सिद्ध हुई कि डाक्टर लोग इसका उपयोग आज करीब ढाई सौ वर्ष बाद भी किया करते हैं। नवीनतम रीतियों में से एक है–लेसर-किरण से रेटीना को क्षोभित करना। इससे नेत्र-तली पर काली-लाल जाली बनती है, जिसकी व्यौम आवृत्ति डाक्टर द्वारा निर्धारित होती है (देखिये, जाली का कितना व्यावहारिक उपयोग है, जिसे कुछ लोग मस्तिष्कीय होलोग्राफी के बारे में 'निरर्थक' नर्वशरीरलोचनी विचार माना करते थे!)

लेसर से यह लाभ है कि वह किरणों के व्यतिकरण द्वारा जाली बनाती है और इसका मतलब है कि उसमें कुछ ऐसे गुण होते हैं, जो डायेपोजीटिव से कभी भी प्राप्त नहीं किये जा सकते। उसमें विपर्यास शत-प्रतिशत होता है, अर्थात् अंधेरे हिस्सों पर उसमें सचमुच कालापन (प्रकाश की अनुप-

स्थिति) होता है। ऐसी जाली की रेखाओं में प्रकाश की चमक हठात् (छलांगों में) नहीं, धीरे-धीरे सतत रूप से, ज्यावतरूप से बदलती है। इससे दृष्टि-पथ से संकेतों के गुजरने के लिये आदर्श परिस्थितियां बनती हैं। जालियां, जैसा कि हम जानते हैं – ऐसे संकेत हैं, जिनके लिये प्रकृति ने पश्च वल्कुट के न्युरोनों के अभिग्राही क्षेत्रों को समंजित कर रखा है। लेसर से बनी जालियां द्वारा ही ज्ञात किया गया कि ठीक से काम करने वाली आँख उदग्र रेखाओं को सबसे अच्छी तरह ग्रहण करती है और 45 डिग्री के कोण पर झुकी रेखाओं को – सबसे बुरी तरह।

लेसर 'चुप्पी साधे' दृष्टि-पथ (या दृष्टि-चैनेल) पर क्यों अभिक्रिया करता है? प्रथमतः, यह नहीं सोचना चाहिये कि भेंगेपन से ग्रस्त बच्चा इस न्युरोनी चैनेल को किसी जादुई स्विच से ऑफ नहीं कर देता। पहले ही बताया जा चुका है कि मस्तिष्क कुछ दूसरा उपाय करता है – वह 'बाधक' आँख से आने वाले संकेतों को क्षीण व दमित कर देता है। इसीलिये दृष्टि-वल्कुट में सिर्फ अस्पष्ट, धुंधला चित्र पहुँचता है। लेकिन रेटीना पर आपतित तीव्र प्रकाश चैनेल को अवरुद्ध करने वाले दमन को दूर करता है, उच्च व्यौम आवृत्ति वाली जाली को देखने की स्फूर्ति प्रदान करता है और 'चुप रहने वाली' आँख के कार्य में सहायता पहुँचाता है। लेकिन उसके कार्य को प्रबुद्ध कर देना ही दो आँखों की दृष्टि को पुनर्स्थापित करने के लिये पर्याप्त नहीं होता। आयुरी विज्ञानों की डाक्टर तमारा काशेन्को के साथ प्रोफेसर आवेतीसोव ने 'डिप्लोप्टिक्स' की रीति विकसित की, जिससे भेंगेपन से ग्रस्त आदमी को दिखने वाले भ्रामक इकहरे चित्र की जगह

बलपूर्वक दुहरा चित्र पुनर्स्थापित किया जाता है (इस संदर्भ में 'भ्रामक' शब्द की अशुद्धता पर कृपया ध्यान न दें)।

– क्या आप जानते हैं कि चिकित्सा-काल में हमारे लिये सबसे खुशी के क्षण कौन हैं? – आवेतीसोव बता रहे थे, – जब रोगी अचानक कहता है: "डाक्टर, मेरी आँखों में दो चित्र हैं!" इसका मतलब है कि अबतक सुषुप्त दृष्टि-चैनेल अब जग उठा है, दमन समाप्त हो चुका है। इसके बाद चिकित्सा बहुत सरल हो जाती है।

यह रीति बहुत कारगर निकली। लगभग 85 प्रतिशत रोगियों में आँखों की सममिति पुनर्स्थापित हो जाती है और 60 प्रतिशत रोगियों में दो आँखों वाली दृष्टि पुनर्स्थापित हो जाती है।

भेंगेपन की यह चिकित्सा विकसित करते समय आवेतीसोव और काशेन्को ने कुछेक नये परीक्षण-उपकरणों का भी निर्माण किया। इनमें एक ऐसा उपकरण भी था, जिसकी सहायता से व्योमदर्शी में एक चित्र को छोटा या बड़ा किया जा सकता था (परीक्षणाधीन रोगी को इसका पता भी नहीं चलता था)। इस उपकरण से एक रोचक खोज हुई: दोनों आँखों से आने वाले चित्र को मस्तिष्क उस हालत में भी संलयित कर लेता है, जब एक चित्र दूसरे से 65 प्रतिशत बड़ा होता है। पहले मानते थे कि 5 प्रतिशत का अंतर ही चरम सीमा है... यही नहीं, चित्रों का संलयन उस स्थिति में भी बना रहता है, जब प्रयोगकर्त्ता दृष्टि-क्षेत्र में प्रिज्म रखकर दोनों रेटीनाओं पर चित्रों को भिन्न दिशाओं में खींच ले जाता है। रोगियों में निस्संदेह स्थिरतांक (स्थिरता-सूचकांक) इतने अच्छे नहीं होते, लेकिन उपकरण बनाया ही इसीलिये गया

कि लोगों में अभी-अभी शुरू होने वाले भेंगेपन के प्रति प्रवणता का पहले से अनुवेदन हो जाये।

इस नयी खोज की क्या व्याख्या की जा सकती है? यदि रेटीना से पश्च वल्कुट में बिंदु-बिंदु रीति से चित्र के प्रेषण की क्लासीकल धारणा को सत्य मान लिया जाये, तो दोनों चित्रों की परिमापों में इतना बड़ा अंतर होने पर द्विनेत्री अनुभूति (दो आँखों वाली व्यौम दृष्टि) असंभव हो जायेगी। आधुनिक नर्वशरीरलोचन अभिग्राही क्षेत्रों की अवधारणा के आधार पर कुछ विचार प्रस्तुत कर सकता है (प्रयोगों द्वारा उनकी जाँच अभी नहीं हुई है)। प्रथम, हर प्रकाशग्राहक से संकेत दृष्टि-वल्कुट के अनेक मोडुलों पर पहुँचता है। दूसरे, सिर्फ एक आँख से संबंधित (एकाक्षिक) मोडुल सैनिकों की तरह एक सधी कतार में नहीं होते; उनकी स्थितियां एक भूल-भुलैये की याद दिलाती हैं। और अंत में, यह भी नहीं भूलना चाहिये कि दृष्टि-पथ में बिंब समानांतर कार्य करने वाले चैनेलों के तंत्र द्वारा प्रेषित होता है, अतः रूप (आकृति) और आकार (परिमाप) भिन्न न्युरोनी संरचनाओं द्वारा प्रतिबिंबित होता है। इसीलिये हर आँख से आने वाले बिंब एक नियत क्षण तक वल्कुट में समान बिंबों की तरह दर्ज होते रहते हैं; उनकी परिमापों में अंतर होने से कोई फर्क नहीं पड़ता। सिर्फ कुछ समय बाद ही, जब परिमाप के चैनेलों से आने वाले संकेत एक विशेष सीमा को पार करने लगते हैं, तभी बिंब अलग होते हैं और द्विदृष्टि उत्पन्न होती है।

दृष्टि उपकरण के लंछकों को निर्धारित करने में प्रयुक्त व्यौम आवृत्तियों की रीति ऐसे कार्य में बहुत ही फलप्रद रही

है, जैसे इस खतरनाक रोग के आरंभिक चरण पर ही उसे जान लेने के लिये अनेक लोगों के परीक्षण में, क्योंकि इसके लिये विश्वसनीय और सस्ते उपकरण की आवश्यकता होती है, जो साथ-साथ परिणाम भी शीघ्रता से दे सके। इसे लेनिनग्राद के निम्न वैज्ञानिकों ने विकसित किया: कीरोव आयुर अकादमी में नेत्रलोचन विभाग के अध्यक्ष, प्रोफ़ेसर वेनियामीन वोल्कोव, इसी विभाग की सहकर्मी ल्युदमीला कोलेस्निकोवा और सोवियत विज्ञान अकादमी के अधीनस्थ पाव्लोव शरीरलोचनी संस्थान की प्रयोगशाला के वरिष्ठ वैज्ञानिक सहकर्मी यूरी शेलेपिन। रीति का सार बहुत सरल है। आपको उपकरण के सामने बैठा दिया जाता है, उसके स्क्रीन पर एक झिरी गतिमान होती है, जिससे हो कर किसी व्यौम आवृत्ति की जाली दिखती है। इस तरह की आठ जालियां हैं, हरेक जाली इस तरह बनी होती है कि उसमें विपर्यास धीरे-धीरे, सतत रूप से बदलता है। इसीलिये झिरी की गति के समय कोई भी जाली पहले धुंधली दिखती है, फिर स्पष्ट होने लगती है। झिरी को चलाना अल्पतम विपर्यास और अल्पतम व्यौम आवृत्ति वाली जाली से शुरू करते हैं। आप से इतनी ही अपेक्षा की जाती है कि जिस क्षण जाली की 'छड़ें' दिखने लगें, तुरंत बतायें कि 'देख रहा हूं'। दोनों आँखों की जाँच एक साथ भी की जा सकती है और अलग-अलग भी; निदान (रोग-निर्णय) में दोनों ही का महत्त्व है।

पता चला है कि सामान्य दृष्टि होने पर एक विपर्यास की एक पर्याप्त निश्चित दहलीज (अवसीमा) होती है, जिससे आप चाहे जितना भी गौर से देखें, जाली नहीं दिखेगी। और ये दहलीजें (जो हर जाली के सापेक्ष अलग-

खरगोश तथा बिल्ली की व्योमदर्शिक दृष्टि के क्षेत्र ; बिल्ली में वह बड़ा होता है, क्योंकि वह हिंसक पशु है।
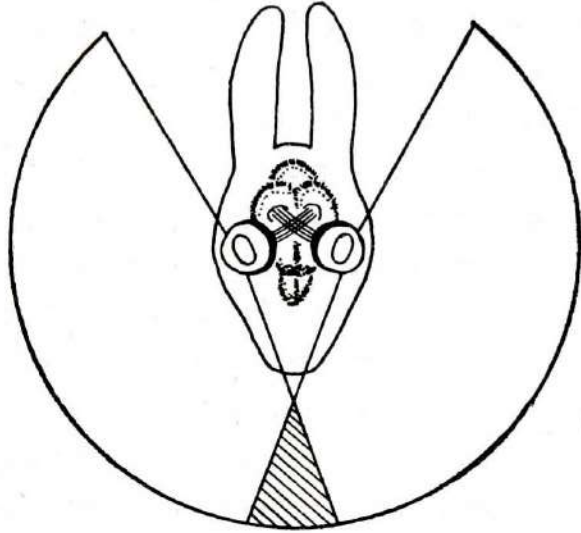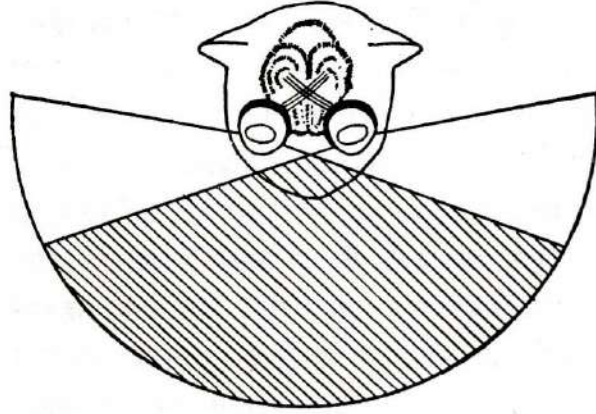
-अलग होती है) उम्र के साथ भी नियमसंगत रूप से बदलती है। 15 से 25 वर्ष की आयु वाले युवा लोग सबसे अच्छा देखते हैं ; छोटे बच्चे और अधेड़ लोग उच्च व्योम आवृत्ति अच्छी तरह नहीं देख पाते। इसका कारण अब हमें ज्ञात है।

हर आंख को आठ-आठ तालिकाएं दिखा कर डाक्टर आपकी दृष्टि का वस्तुगत मूल्यांकन करता है : किस तरह की जालियां आप अपनी उम्र से पहले ही स्पष्ट नहीं देख पाते ... लेकिन इससे भी महत्त्वपूर्ण यह है कि दृष्टि की तीव्रता में परिवर्तन के आधार पर डाक्टर यह बता सकता है कि कहीं आपको ग्लाउकोमा (नेत्र-गोलक में अतिरीक्त दाब) जैसी बीमारी तो नहीं शुरू होने वाली है, परिसरीय दृष्टि में तो कोई गड़बड़ी नहीं उत्पन्न होने वाली है (यह वही दृष्टि है, जिससे हम पार्श्व से आने वाली मोटर-गाड़ी को एकदम से देख लेते हैं)।

जालियों को धोखा नहीं दिया जा सकता। छोटे-बड़े अक्षरों की तालिका के सहारे दृष्टि की तीव्रता निर्धारित करते वक्त लोग डाक्टर को ठग भी लेते हैं (वे पूरी तालिका रटे रहते हैं और फटाफट उत्तर देते जाते हैं, जबकि उन्हें कब का चश्मा पहनना शुरू कर देना चाहिये)। जालियों के साथ बात दूसरी है। उसकी क्रमसंख्या रोगी को ज्ञात नहीं रहती, अतः कुछ दिखायी नहीं देने पर भी यदि वह कहेगा : "देख रहा हूं", तो डाक्टर एक बार और उसी जाली पर झिरी दौड़ा कर जाँच लेगा।

खैर, दो आँखों की द्विनेत्री दृष्टि की ओर लौटें ; इसमें और भी अनेक रोचक बातें हैं ...
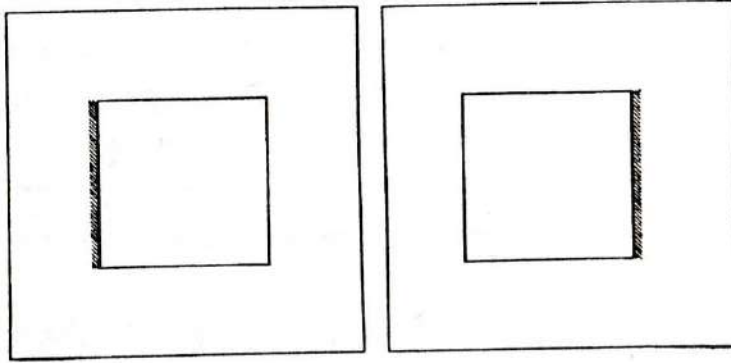
"बेल लेबोरेटरीज" के सहकर्मी यूलेश के व्यौम चित्र। इन्हें व्योमदर्शी में देखने पर वे घुल-मिल कर व्यौम चित्र में परिणत हो जाते हैं, पर तुरंत नहीं, कुछ समय बाद (दे. पृ 308) ।

एकीकृत द्विनेत्री बिंब तभी उत्पन्न होता है, जब दोनों नेत्रों के दृष्टि क्षेत्र एक-दूसरे को अतिछादित करते हैं (आंशिक तौर पर ढकते हैं)। जितना ही विस्तृत अतिछादन होगा, व्यौमदर्शिक दृष्टि का सेक्टर भी उतना ही विस्तृत होगा। लेकिन इसके फलस्वरूप विहंगम (बहुदिश) दृष्टि

का कोण इसी अनुपात में कम हो जायेगा। भिन्न जंतुओं के दृष्टि-उपकरणों में यह गुण प्रकृति ने भिन्न मात्राओं में दिया है। सामान्य नियम यह है : शिकार होने वाले जंतुओं में विहंगम-दृष्टि बहुत विस्तृत होती है और व्यौमदर्शिक दृष्टि नगण्य होती है या बिल्कुल ही नहीं होती, जबकि हिंसक शिकारी जंतुओं में यह (व्यौमदर्शिक दृष्टि) लगभग पूरे दृष्टि-क्षेत्र में पायी जाती है। (यदि सच पूछें, तो वास्तविक व्यौमदर्शिता तभी संभव है, जब रेटीना की केंद्रीय खातिका पर, अर्थात् स्पष्टतम दृष्टि क्षेत्र पर बनने वाले बिंब संलयित होते हैं ; यह गुण सिर्फ हिंसक जंतुओं में होता है।)

उदाहरणार्थ, खरगोश में व्यौमदर्शिता का सेक्टर सिर्फ दस डिग्री होता है – शरीर के अनुतीर अक्ष से दोनों तरफ पाँच-पाँच डिग्री। दृष्टि की बहुदिशता उसमें 360° होती है – वह अपने चारों ओर की वस्तुएं देख सकता है ; आप पीछे से भी अनदेखे नहीं पहुँच सकते। बिल्ली में व्यौमदर्शिता का सेक्टर 120 डिग्री है और बहुदिशता का 280 डिग्री। आदमी को प्रकृति ने 120 डिग्री की व्यौमदर्शिता प्रदान की है और बहुदिशता 180 डिग्री की। तो क्या मनुष्य हिंसक जंतु है? आखिर हम भी तो प्रिमातों की श्रेणी में आते हैं, और जैसा कि विख्यात अन्वीक्षिका जेन गुडोल्ल के अभियान में भाग लेने वाले लोगों ने खुद अपनी आँखों से देखा था, चिंपैंजी अपने से बहुत नन्हे बंदरों – बैबूनों – के बच्चों को खा जाया करते थे...

लेकिन दूसरी ओर से देखा जाये, तो आदमी के पास न तो बड़े-बड़े नाखून हैं, न बड़े-बड़े दाँत ही। व्यौमदर्शिता उसकी सहायता अपने दुश्मनों को देखने में करती है, जो

रक्षी, ग्रास-पास की वस्तुओं जैसा अनुकरणकारी रंग ओढ़े रहते हैं। कभी-कभी तो कुछ कीड़े-मकोड़ों का यह अनुकरण-कारी रंग बहुत प्रभावशाली होता है। जरा फोटो-चित्र में देखिये : फतिंगा उपने रंग के कारण पेड़ की छाल के साथ कितना घुलमिल गया है। लेकिन सिर्फ फोटो-चित्र में ही। कीड़े-मकोड़ों की यह सैन्य-चालबाजी सिर्फ उन्हीं शत्रुओं से रक्षा करती है, जो व्यौमदर्शी दृष्टिसे वंचित होते हैं, जो जगत को एकाक्षी रूप से सपाट देखते हैं; कीड़े-मकोड़ों को खाने वाले अधिकांश पक्षी ऐसे ही होते हैं। छाल की रंग-बिरंगी बुनन और कीड़े की रंग-बिरंगी बुनन में एक ग्राँख की दृष्टि से भेद करना सचमुच कठिन होता है। फोटोग्राफी से हमें वैसे ही चित्र प्राप्त होते हैं, जैसे पक्षी अपनी ग्राँख से देखते हैं—सपाट, द्विम। लेकिन जब आदमी उसी फतिंगे को उपनी दोनों ग्राँखों से देखने लगेगा, तो अनुकरण-कारी रंग बेकार हो जायेगा (इसीलिये तो हम कीड़े-मकोड़ों के अनुकरणकारी रंग के बारे में जानते हैं)। लंबन के कारण फतिंगे का उत्तल (उभरा हुआ) शरीर दोनों रेटीनों पर भिन्न प्रकार से बिंब बनाता है और इसीलिये उसकी व्यौम-धर्मिता तुरंत नजर में आ जाती है।

"बेल लेबोरेटरीज" के सहकर्मी विख्यात जीवभौतिकी-विद बेला यूलेश ने व्यौमदर्शी दृष्टि का यह तथ्य बड़े सरल एवं सुंदर प्रयोग द्वारा दिखाया था। उन्होंने बेतरतीबी से अंकित काले-सफेद बिंदुओं की एक बुनन के दो फोटो-चित्र लिये। फिर हरेक चित्र के मध्य में एक-एक वर्ग काट कर एक को थोड़ा बायें और दूसरे को थोड़ा दायें खिसका दिया।

इससे उत्पन्न सफेद धारी को वैसी ही बुनन वाले बेतरतीब बिंदुओं से ढक दिया।

नंगी ग्राँखों से इन दायें-बायें खिसके वर्गों को देख पाना असंभव होता है; वे इर्द-गिर्द के बिंदुओं के कारण उत्पन्न सूचनात्मक उत्क्रोश ('बाधक शोर') के पीछे छिप जाते हैं। लेकिन इन चित्रों को व्योमदर्शी में रख कर देखने पर या दृष्टि को अनंत पर निर्दिष्ट कर के उन्हें ग्राँखों के सामने लाने पर (ताकि एक खास दूरी पर वे संलयित हो जायें; कुछ अभ्यास से यह सरल हो जाता है) हमें चितकबरी पृष्ठ-भूमि पर मंडराता-सा चितकबरा वर्ग नजर आने लगता है। दृश्य प्रभावशाली होता है, लेकिन चित्र की व्यौमदर्शिता एक-बारगी से नहीं, धीरे-धीरे प्रकट होती है। वह बेतरतीब बिं-बिंदुओं की किनारी से धीरे-धीरे, मानो 'कुछनहीं' से, प्रकट होती है...

यूलेश की खोज ने नवंशरीरलोचकों एवं मनोलोचकों को व्यौमदर्शिक दृष्टि की समस्या पर दूसरी तरह से मनन करने को विवश किया। पता चला कि मस्तिष्क वल्कुट के न्युरोनी क्षेत्रों की सहायता से (ये क्षेत्र दोनों रेटीनों के सानुरूप बिंदुओं पर स्थित होते हैं) रेटीना पर बने बिंब के कुछेक समान प्रकार के अंचलों को ढूंढ़ता है, लेकिन इस बात में कोई रुचि नहीं लेता कि वे सार्थक भी हैं या नहीं, परस्पर किसी तरह संबद्ध भी हैं या नहीं। यदि ये समान प्रकार के अंचल मिल जाते हैं (यहां मस्तिष्क के उच्च विभागों में बिंब की खंड-मिथ्याहोलोग्राफिक प्रस्तुती की उसी परिकल्पना का ध्यान आता है, जिसे ग्लेजेर विकसित कर रहे हैं), उन पर चिन्ह लग जाता है: "यह इतनी दूरी पर स्थित है"।

जब ये अंचल एक बिंब में संलयित हो जाते हैं, तब हमारी चेतना में एक व्यौम दृश्य उत्पन्न हो जाता है, जिसमें एक वस्तु निकट होती है, दूसरी दूर होती है, क्यूब का पार्श्व उसी आकार की गोल शीशी से भिन्न नजर आने लगता है, आदि।

जब हेल्महोल्ट्स ने जाली नोटों की पहचान के लिये उन्हें व्योमदर्शी में रख कर देखने का प्रस्ताव दिया था, तब उन्होंने द्विनेत्री दृष्टि के इसी गुण का उपयोग किया था (जाहिर है कि वे व्यौमदर्शिता की नर्वशरीरलोचनी प्रयुक्ति सविस्तार नहीं जानते थे)। अपराधी कितनी भी मेहनत क्यों न करे वह बैंक-नोट का चित्र बिल्कुल मिलिमीटर के अंशों की शुद्धता के साथ नहीं बना सकता। जब विशेषज्ञ असली और जाली बैंकनोटों को पास-पास रख कर व्योमदर्शी से देखता है, तो अपराधी की 'चित्रकला' की गलतियां तुरंत नोट के समतल से ऊपर उभर आती हैं।

मस्तिष्क रेटीनों पर बिंबों के एक जैसे अंचल किस तरह ढूंढ़ता है? इस प्रश्न का उत्तर कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के जोन पेट्टीग्रियु ने दिया। उन्होंने बिल्ली के पश्च वल्कुट में इतरता के न्युरोन ज्ञात किये (यह शब्द इतर से बना है; इसका अर्थ है कि हर रेटीना पर बिंब कुछ इतर अर्थात् भिन्न दिखता है, बनिस्बत कि जब प्राचीन ग्रीक मिथक का एकाक्षी दैत्य सिक्लोप किसी वस्तु को देखता)। इतरता उतनी ही अधिक होती है, वस्तु आँख से जितनी निकट होती है: नेत्र-गोलकों के प्रकाशिकीय अक्ष घूमते हैं और हमारा ध्यान आकर्षित करने वाले बिंदु पर संसृत होते हैं। बाकी सभी बिंदु प्रकाशिकीय अक्ष के सापेक्ष इतर हो जाते हैं।

हर इतरता-न्युरोन पर संकेत दोनों आँखों से पहुँचते हैं। हर रेटीना के दायें हिस्से से, जैसा कि आपको याद होगा, सूचनाएं बायें पश्च वल्कुट के न्युरोन ग्रहण करते हैं और बायें हिस्से से–दायें वल्कुट के न्युरोन। इसका अर्थ है कि ऐसे हर न्युरोन के लिये दो अभिग्राही क्षेत्र होते हैं। जबतक बिंब का विचाराधीन अंचल एक ही साथ नहीं पहुँचता, इतरता के न्युरोन चुप बैठे रहते हैं। लेकिन जैसे ही दोनों एक साथ समान अंचल को देखते हैं, न्युरोन उद्दीपित हो उठता है और दृष्टि-तंत्र के उच्च विभागों को संकेत प्रेषित करने लगता है। साथ ही, न्युरोन की ओर से महत्तम प्रत्युत्तर तभी संभव होता है, जब बिंब हर क्षेत्र के ठीक मध्य पर पहुँचता है। पेट्टीग्रियु ने ऐसे क्षेत्रों को सरल क्षेत्र का नाम दिया।

उन्होंने अधिक जटिल क्षेत्रों की भी खोज की, जो एक तरह से अनेक सरल क्षेत्रों से बने हुए थे। ऐसे जटिल क्षेत्र वल्कुट के उन न्युरोनों से संबंधित थे, जो मिलकर मोडुल बनाते हैं। इतरता के न्युरोन दो प्रकार के मोडुल बनाते हैं: एक तो व्योम के विचाराधीन बिंदु की ओर आँख को निर्दिष्ट करने के लिये होते हैं और दूसरे–वस्तु के अलग-अलग बिंदुओं (नन्हे अंचलों) की दूरियां नापने के लिये।

निर्दिष्ट करने का काम उन मोडुलों का है, जिनपर इस बात का कोई असर नहीं पड़ता कि नेत्र-गोलक किस दिशा में घूमते हैं। इन मोडुलों के न्युरोनों के क्षेत्र बहुत विस्तृत होते हैं–कर्ण पर कुछेक कोणिक डिग्रियों के बराबर (यहां और आगे मापें रेटीना पर दी गयी हैं)। इसके बावजूद भी वे इतरता में थोड़ा भी अंतर होने पर प्रत्युत्तर देने लगते हैं। बिल्ली में यह अंतर दो कोणिक मिनटों के बराबर होता

है। आदमी में शायद यह करीब दस कोणिक सेकेंडों के बराबर है, तभी तो हमारी व्यौम दृष्टि बिल्ली से कहीं अधिक स्पष्ट होती है।

रेटीना के परिसर पर स्थित उन क्षेत्रों का स्मरण करें, जो संकेत देते हैं कि पार्श्व से कोई गतिमान वस्तु आ गयी है। इन क्षेत्रों की ही आज्ञा से आँख इस वस्तु की ओर निर्दिष्ट होती है। और इतरता के न्युरोनों से बने हुए निर्देशक मोडुल एक तरह से निगाहों के सामने असंख्य समतल उपस्थित करते हैं, व्योम में विभिन्न अनुच्छेद (काट या तराश) दिखाते हैं, ताकि क्रिस्टलीन को फोकस करने वाली पेशियों को आज्ञा दे सकें: वस्तु वहां स्थित है!

जहां तक वस्तु के अलग-अलग बिंदुओं तक की दूरियां नापने वाले मोडुलों का प्रश्न है, तो रेटीना पर उनके क्षेत्रों का स्थलालेख (स्थिति-विन्यास) कुछ दूसरा है। प्रथमतः, इन क्षेत्रों का आकार बहुत बड़ा नहीं होता। दूसरे, यदि इतरता का मोडुल (उदाहरणतया) बायें पश्च वल्कुट में स्थित होता है, तो दायीं आँख में उससे संबंधित सभी क्षेत्र (जो रेटीना के दायें हिस्से में होते हैं) आँख की पिछली दीवार के कुछ अंचलों में काफी सघनता के साथ एक-दूसरे पर चढ़े होते हैं, जबकि बायीं आँख से संबंधित इस मोडुल के क्षेत्र बायीं रेटीना में बिखरे हुए दिखेंगे। इस पूरी प्रक्रिया में दिशांकों का अंतर जितना ही अधिक होगा, इस मोडुल के प्रदत्त न्युरोन को उद्दीपित करने वाली रेखा व्योम में उतनी ही दूर स्थित होगी। अन्यतः, मोडुल का हर न्युरोन यह जानता है कि किस रेखा पर (अर्थात् कितनी दूर स्थित रेखा पर) उसे प्रतिक्रिया करनी है।

दायें पश्च वल्कुट के मोडुल इसका विपरीत चित्र प्रस्तुत करते हैं। एक-दूसरे पर चढ़े हुए क्षेत्र बायीं आँख से संबंधित होंगे और बिखरे हुए क्षेत्र – दायीं आँख से।

इस तरह के असंख्य क्षेत्रों के कार्य से ही हम सिर्फ सपाट पर्याकृतियां ही नहीं, सतहों की रेखाओं को भी देख पाते हैं; सारतः खुद ये सतहें व्योम में किसी भी तरह स्थित हो सकती हैं। दिलचस्प बात यह है कि ऐसे न्युरोन भी होते हैं, जो रेखाओं पर ही नहीं (जैसे कि पेट्टीग्रियु के प्रयोग में), बल्कि बेतरतीबी से बिखरे बिंदुओं पर भी प्रतिक्रिया करते है (जैसे यूलेश के प्रयोग में)। यह खोज जोन होप्किंस विश्वविद्यालय के आयुर विभाग में कार्यरत जी. पोजियो ने की। पोजियो के न्युरोन हमारी आँखों के व्यौमतंत्र के कार्य की अति उच्च शुद्धता को ही दर्शाते हैं। बात यह है कि संयोगवश बने चित्र में अनेक सदृश या लगभग सदृश अंचल होते हैं, अतः दृष्टि से गलतियां होने की आशा करना निराधार नहीं है। लेकिन ऐसा होता नहीं है। और चूँकि निरर्थक, लेकिन अंधेरे व प्रकाशमान धब्बों के क्रम की निश्चित सांख्यिकी वाले चित्र को पहचानने की बात चल रही है (अवचेतन स्तर पर) इसलिये विचारों का तर्कसंगत क्रम हमें बारंबार मस्तिष्क-वल्कुट में दृश्य-चित्र के खंड-मिथ्याहोलोग्राफिक प्रतिबिंबन की परिकल्पना की ही ओर ले जाता है...

पेट्टीग्रियु द्वारा खोजे गये मोडुल दो विचारधाराओं वाले शरीरलोचनों के पुराने विवाद में एक महत्त्वपूर्ण तर्क सिद्ध हुए हैं।

एक पक्ष यह मानता था कि व्यौमधर्मिता मस्तिष्क द्वारा पेशियों से उत्पन्न संकेतों के मूल्यांकन का प्रतिफल है; ये

संकेत तब उत्पन्न होते हैं, जब हम व्योम में अपनी नजरें घुमाते हैं, आँखों को एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर फोकस करते हैं। पेशियां ही आँखों के प्रकाशिकीय अक्षों को एक बिंदु पर मिलाती हैं, जिससे दुहरा चित्र न बने; यही किसी बिंदु की दूरी के बारे में संकेत भी है।

दूसरी परिकल्पना के समर्थक यह मानते थे कि शुरू-शुरू व्योम में वस्तुओं की स्थिति के संकेत मिलने चाहिये; सिर्फ इसके बाद ही आज्ञा उत्पन्न होती है कि आँख को किधर निर्दिष्ट होना चाहिये, किस चीज पर उसे फोकस करना चाहिये। इस परिकल्पना के समर्थन में ग्लेजेर ने 1959 में एक तथ्य स्थापित किया था: पेशिय अनुभूतियों से दूरी जितनी शुद्धता के साथ नापी जा सकती है, आँखें उससे 30 गुना और कभी-कभी तो 50 गुना अधिक शुद्धता से नापती हैं। एक और तर्क हमारी इस सर्व-विदित क्षमता से प्राप्त होता है कि बिजली की चमक में हम आस-पास की स्थिति को बखूबी देख लेते हैं: बिजली की कौंध इतनी अल्पकालीन होती है कि पेशियां इस अंतराल में काम करने की फूर्त्ती नहीं रखतीं, फिर भी हम व्योम की दूरियां स्पष्टता के साथ अनुभूत कर लेते हैं।

पेट्रीग्रियु के मोडुलों ने दूसरी विचारधारा के समर्थकों का पक्ष एकबारगी से बहुत मजबुत कर दिया। अंधेरे में, कौंध से पूर्व, हमारी आँखें अनंत की ओर निर्दिष्ट होती हैं; यह हमारे दृष्टि-तंत्र का एक गुण है। जब आग भड़कती है, इतरता के न्युरोन वस्तुओं की पारस्परिक स्थिति का ज्ञान कर लेते हैं, उनकी व्यौमधर्मिता का संकेत प्रेषित कर देते हैं।

लेकिन हर हालत में पूर्ण व्यौम बिंब तभी बन पाता है, जब दोनों गोलार्ध सूचनाओं का आदान-प्रदान कर लेते हैं। जिन लोगों में किण-पिंड को काट कर विभक्त कर दिया जा जाता है, वे व्यौमदर्शिक चित्र नहीं प्राप्त कर पाते। वे दोनों आँखों से देखते हैं, पर व्योम की गहराइयों का निर्णय द्वितीयक लक्षणों के ही आधार पर करते हैं।

रोबटों के डिजाइनर यह पूरी आशा कर रहे हैं कि वे रोबट को व्यौमदर्शिक दृष्टि प्रदान करने में सफल हो जायेंगे। बिल्कुल संभव है कि इसके लिये उन्हें दो एलेक्ट्रोनी कलनक मशीनें बनानी होंगी, जो मानव-मस्तिष्क के गोलार्धों की तरह काम करेंगी, और उन्हें साथ मिल कर काम करना सिखाना पड़ेगा।

अध्याय 12

औंधी दुनिया से सीधे निष्कर्ष

हमारे देखने और अनुभव करने की प्रणाली से पराया कोई भी विचार हमें सदा बेतुका लगता है।

—हेल्वेशियस

("बुद्धि के बारे में")

यह औंधी दुनिया शरीरलोचकों के रास्ते में लंबे समय तक रोड़ा बनी रही। वह आँख में किरणों का ज्यामितिक पथ केप्लेर द्वारा बनाते वक्त उत्पन्न हुई और उसे पहली बार रेने डेकार्ट ने देखा।

डेकार्ट की "प्रकाश-मीमांसा" में प्रस्तुत विचार 17-वीं शती के उत्तरार्ध से पूरी 18-वीं शती तक वैज्ञानिकों का पथ-प्रदर्शन करते रहे। उन्होंने बैल की आँख ली और उसकी पिछली दीवार से अपारदर्शक परत अलग कर के इस प्राकृतिक अंध कैमरे को खिड़की के दरवाजे में छेद कर के उसमें फिट कर दिया। आँख के अर्धपारदर्शक श्वेतपटल पर वैज्ञानिक को खिड़की से बाहर का दृश्य दिखायी देने लगा।

दृश्य उल्टा था, लेकिन केप्लेर की तरह डेकार्ट को इससे कोई परेशानी नहीं हुई। उन्हें पूरा विश्वास था कि आत्मा ऐसे औंधे 'प्रतीकों' से भी जगत का वास्तविक चित्र बना सकती है। वैसे, उन्होंने यह प्रश्न नहीं उठाया कि यदि लेंसों

की सहायता से रेटीना पर बिंब सीधा कर दिया जाये, तो आत्मा उसे एक बार फिर उलटेगी या नहीं। यह प्रश्न बाद के अन्वीक्षकों ने उठाया, लेकिन उत्तर बिना किसी प्रयोग के ही आत्मा, अर्थात् मस्तिष्क के पक्ष में दिया। यथा, हेल्महोल्ट्स ने मस्तिष्क की इस क्षमता को सिद्ध करने के लिये सूक्ष्मदर्शी से काम करने वाले लोगों का उदाहरण दिया: वे बहुत जल्द इस बात के आदी हो जाते हैं कि दृष्टि-क्षेत्र का दायां हिस्सा वास्तविकता में बायां है, और इसका विलोम। हम कुछ और उदाहरण जोड़ सकते हैं: खगोलविद को इसकी कोई चिंता नहीं होती कि वे टेलीस्कोप में चांद का उल्टा बिंब देखते हैं, फोटोग्राफर को इससे कोई परेशानी नहीं महसूस होती कि कैमरे के पीछे दूधिये काँच पर उल्टा बिंब दिखता है (इस तरह के कैमरे अब कम प्रयुक्त होते हैं)।

लेकिन यह सब आदत की बात है। यदि उसी खगोलविद या फोटोग्राफर को अखबार उलट कर पढ़ने को दिया जाये, वह निश्चय ही पढ़ लेगा, लेकिन बहुत कठिनाई के साथ, टटोल-टटोल कर। यह बहुत ही विचित्र बात है कि बचपन की एक महत्त्वपूर्ण क्षमता हम बड़े होकर खो देते हैं: दर्पणी रूपांतरणों के सापेक्ष अविचलता। छोटे बच्चों के लिये कोई फर्क नहीं पड़ता कि अक्षर सीधा लिखा गया है या उल्टा—जैसा दर्पण में दिखता है। जब नन्हे बच्चों को लिखना सिखाया जाता है, वे अक्षरों को सीधे भी लिखते हैं, उल्टे भी। उनके लिये सब बराबर होता है। यह क्षमता अभी-अभी आँख खुले पिल्लों में भी होता है: उनके लिये कोई फर्क नहीं पड़ता कि त्रिभुज का शीर्ष ऊपर है या नीचे, जबकि वयस्क कुत्ता इन्हें पहचानने में गलती नहीं करता।

प्रयोगशाला में बोलगारिया की शरीरलोचक नादेझ्दा स्तेफानोव्ना पी-एच. डी कर रही थीं। उन्होंने एक तथ्य स्थापित किया कि यदि घोड़े का चित्र बनाया जाये और उसे तिरछा कर दिया जाये, मानो घोड़ा ढलान पर चढ़ या उतर रहा है, तो ढलान (चित्र का झुकाव) 15 कोणिक डिग्री तक की सीमा में रहने पर घोड़े को पहचानने में दिक्कत नहीं होती। कोण बड़ा होने पर ऐसा लगता है कि दर्शक पहले मन ही मन चित्र को घुमा कर 'सामान्य' स्थिति में लाता है और तभी पहचान करने वाला उपकरण अपना काम शुरू करता है। अमरीका के रोजेर शेपाई और लिनम कूपेर ने इस प्रयोग को कुछ परिवर्तन के साथ संपन्न किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि चित्र को मन ही मन घुमाने का वेग करीब साठ कोणिक डिग्री प्रति सेकेंड है। इसका सतलब है कि आँखों के समाने यदि अचानक कोई उल्टा चित्र उभर आये, तो उसमें बहुत परिचित वस्तु अंकित होने पर भी उसे पहचानने में कम से कम तीन सेकेंड अवश्य लगेंगे।

यह जो हम ऊपर और नीचे में फर्क कर लेते हैं, दर-असल प्रघाण-उपकरण के कार्य का फल है। यह उपकरण सभी रीढ़दार (मेरुदंडी) जंतुओं के कानों में होता है।

क्षैतिज डंडे से पैरों के सहारे उल्टा लटकता हुआ आदमी भली-भाँति समझता है कि उल्टा वह खुद है, न कि दुनिया। लेकिन जब भावी खनाविकों को भारहीनता का अभ्यास कराने के लिये विमान में बिठा कर विशेष प्रकार से उड़ानें भरी जाती हैं, तो किसी-किसी को लगता है कि विमान उलट गया है, औंधी स्थिति में उड़ रहा है और वह खुद विमान में सर नीचे पैर ऊपर किये हुए लटक गया है। ऐसी अनुभूतियों का कारण यह होता है कि प्रघाण उपकरण नीचे और ऊपर के बारे में संकेत देना अचानक बंद कर देता है...

लेकिन यदि संतुलन का उपकरण (वही प्रघाण-उपकरण) ठीक-ठाक काम कर रहा हो और आँखों के सामने सिर्फ एक चित्र नहीं, पूरी दुनिया उलट दी जाये, तो क्या होगा? कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के मनोलोचक प्रोफेसर जार्ज स्ट्रैटन ने 1896 में एक विशेष प्रकार का चश्मा पहना, जिससे फर्श की जगह छत और छत की जगह फर्श नजर आता था। इससे वे बड़ा अटपटा महसूस करते थे। उनकी डायरी में हम निम्न पंक्तियां पढ़ सकते हैं: "ऐसा प्रतीत होता था कि ये विस्थापित, गलत और भ्रामक बिंब मेरे और यथार्थ वस्तु के बीच में खड़े हैं। वस्तुएं देखी जाती थीं एक तरह से और सोची जाती थीं बिल्कुल दूसरी तरह से।" प्रथम तीन दिन मतली और समुद्री रोग के अन्य लक्षण महसूस होते रहे। चौथे दिन स्वास्थ्य सामान्य हुआ, सिर्फ दायां और बायां पहचानने में गलती होती थी। पाँचवे दिन यह गलती भी ठीक हो गयी और वे इस असाधारण दुनिया की आदी हो गयीं। जब चश्मा उतार लिया गया, तो सामान्य दुनिया में संक्रमण आश्चर्यजनक ढंग से शीघ्र संपन्न हो गया – लगभग दो घंटे में ही। मस्तिष्क में बिंब को 'उलटने वाली प्रयुक्ति' ने मस्तिष्क के पूर्व-अभ्यास में कोई परिवर्तन नहीं लाया था।

अफसोस कि उपरोक्त प्रयोग का महत्त्व दो कारणों से घट गया था: एक तो प्रयोग की अवधि कम थी और दूसरे, दुनिया उलटने वाला चश्मा एकाक्षिक था – दूसरी आँख पर महज पर्दा डाल दिया गया था। यह विचार उत्पन्न हो रहा

था कि दोनों आँखों में दुनिया को उलटने पर अन्वीक्षक को और भी प्रभावशाली अनुभूतियां हुई होतीं।

यह विचार सही निकला, जब स्ट्रैटन के प्रयोग से 40 वर्ष बाद उन्हीं के देशवासी पीटर्सन ने उल्टा दिखाने वाला द्विनेत्री चश्मा पहना। वे लिखते हैं: "मैंने देखा कि मेरे पैर एक कालीन पर मेरी ओर बढ़े आ रहे हैं, जो मेरे सामने कहीं स्थित था। पहली बार मुझे ऐसी असाधारण दृश्य-अनुभूति हुई थी – खुद अपने को अपनी ओर आते हुए देखना। टेबुल पर तश्तरियां ऐंठ कर टीलों जैसी दिखती थीं। यह देखना बड़ा विचित्र लगता था कि चम्मच द्रव के ऊपरी भाग की ओर जाता था, उसे अपने में भरता था और कुछ भी छलकाता नहीं था। जब मैं एक लंबे गलियारे में प्रविष्ट हुआ, तो फर्श एक अंतरीप की तरह दिखा, जिसके दोनों ओर से दीवारें उतर रही थीं। यह और भी विचित्र लगता था, क्योंकि इन दीवारों को मैं हाथ से छू सकता था। गलियारे के अंत में सामने की दीवार मेरी ओर बढ़ी हुई लगती थी और पार्श्व दीवारें मानो मुझसे दूर जा रही थीं, यद्यपि मैं उन्हें छू सकता था।"

स्ट्रैटन के प्रयोग की तरह इसमें भी सारी असामंजस्यपूर्ण अनुभूतियां कुछ ही दिनों में खत्म हो गयीं। इसके बाद तो उलटने वाले चश्मे पर अन्वीक्षक का ध्यान भी नहीं जाता था, प्रयोग के अंत तक लगता था मानो उसका जन्म ही इस चश्मे के साथ हुआ है। और जब आठ महीने बाद उन्होंने चश्मे को फिर से पहना, तो पता चला कि पुराना अर्जित अनुभव गायब नहीं हुआ है: वैज्ञानिक महोदय औंधी दुनिया

में वैसे ही महसूस कर रहे थे, जैसे उन्होंने चश्मा कभी उतारा ही न हो।

तो क्या इससे सब स्पष्ट हो गया, सब हल हो गया? प्रयोगकर्त्ता यदि प्रयोगों को अनेकानेक बार नहीं संपन्न करते, तो वे वैज्ञानिक कहलाने लायक नहीं होते। प्रयोग की नयी परिस्थितियां और नयी तकनीक हमेशा कुछ नये तथ्यों को जन्म देती है, जो समस्या को किसी अप्रत्याशित पक्ष से उजागर करते हैं। जब फ्रेडेरिक स्नाइडेर ने इन प्रयोगों को दुहराने का निश्चय किया, तो वे पूरे एक महीना तक चश्मा लगा कर घुमते रहे। यह पिछले प्रयोगकर्ताओं की तुलना में काफी लंबी अवधि थी। उन्हें अब चश्मे की उपस्थिति का भान भी नहीं होता था, वे सोचते थे कि उनका मस्तिष्क औंधी दुनिया को अनुभूत करने के लिये अबतक पूरी तरह पुनर्गठित हो चुका है। तभी एक दिन किसी ने पूछ दिया: "तौ भी, आखिर वस्तुएं आपको कैसी दिखती हैं, सीधी या उल्टी?"

स्नाइडेर ने थोड़ा सोच कर बताया: "जबतक आपने यह प्रश्न नहीं पूछा था, वस्तुएं मुझे बिल्कुल सामान्य लगती थीं। लेकिन आपके प्रश्न से मुझे वे दिन याद आ गये, जब मैं यह चश्मा नहीं लगाता था; और अब मैं यह कहने को विवश हूँ कि उन दिनों की तुलना में मुझे वस्तुएं उल्टी दिखायी देती हैं। जबतक यह प्रश्न नहीं उठा था, मैं इसके प्रति बिल्कुल सचेत नहीं था।

ठीक इसी तरह का प्रभाव मास्को राजकीय विश्वविद्यालय में मनोलोचनी विभाग की छात्रा लीदिया इनोजेम्त्सेवा ने भी महसूस किया। उसने बिंब उलटने वाला चश्मा एक प्रयोग

के अंतर्गत पहना था, जिसे मनोलोचनी विज्ञान के डाक्टरों – अ. लोगवीनेन्को और वे. स्तौलिन – ने प्रस्तावित किया था। जब औंधी दुनिया उसके लिये सामान्य दुनिया जैसी हो गयी, तो कभी-कभी ध्यान से देखने पर अचानक दृश्य उलट जाया करता था – ठीक वैसे ही, जैसे चश्मा लगाने के प्रथम दिन।

इसका मतलब क्या है? सिर्फ यही कि रेटीना पर बिंब सीधा भी हो सकता है, उल्टा भी। महत्त्वपूर्ण इतना ही है कि प्रघाण-उपकरण किस तरह के संकेत देता है। रेटीना से सूचना दृष्टि-तंत्र के उच्च विभागों तक सार्विक या व्यापकीकृत रूप में पहुँचती है, जो बिंब के घुमाव के सापेक्ष अविचल रहता है। अविचलता का कारण निस्संदेह वही फुरिये और मेलिन का सूचना-रूपांतरण है, जो वल्कुट के दृष्टि-अंचलों में संपन्न होता है। वस्तुओं को देखने और पहचानने की इस रीति में इस बात से कोई बाधा नहीं पड़ती कि नेत्र-गोलक की पिछली दीवार पर बिंब का दिग्ग्रहण कैसा है। और दुनिया सीधी है या औंधी, इसकी खबर अनुभूति को प्रघाण-प्रयुक्ति से मिलती है।

इससे एक प्राचीन समस्या दूर हो जाती है: बच्चा जीवन के प्रथम दिनों अपने माता-पिता को पैर के बल खड़ा देखता है या सर के बल? वह बस देखता है, और क्या! ऊपर और नीचे की अवधारणाएँ बहुत बाद में बनती हैं। यह तथ्य प्रयोगशाला के सहकर्मियों ने पिल्लों के साथ प्रयोग द्वारा सिद्ध किया; बाद में बच्चों की दृश्य-अनुभूति के अन्वीक्षण से इस बात की पुष्टि हुई।

वयस्क आदमी में 'ऊपर – नीचे' बताने वाली प्रयुक्ति

वर्षों के जीवनानुभव से एक निश्चित ढंग से काम करने लगती है। लेकिन जो प्रयुक्ति एक खास ढंग से काम करना सीख लेती है, उसे दूसरे ढंग से भी काम करना सिखाया जा सकता है। वह 'दुनिया उलट गयी है' के संकेत को दमित भी कर सकती है, जो दृष्टि-उपकरण से प्रेषित होता है और गुरुत्व-बल की दिशा का विरोध करता है। इसीलिये जब आदमी लंबे समय से बिंब उलटने वाले चश्मे का आदी हो जाता है और अचानक अपनी इच्छा-शक्ति से पुनः दुनिया को 'औंधी' देखने लगता है, तो इसमें रहस्य की कोई बात नहीं है। जादू बहुत आसान है। ऐच्छिक स्पंद अवचेतन निषेध (प्रतिबंध) को दूर कर देता है और 'दुनिया उलट गयी है' का संकेत पुनः दृष्टि-चैनेल से आने लगता है और याद दिलाता है कि चश्मा अभी भी पूर्ववत काम कर रहा है...

ऐसी जटिल संक्रियाएं संपन्न करने की क्षमता सिर्फ मानव--मस्तिष्क में होती है, जिससे पुन: सिद्ध हो जाता है कि वह सबसे विकसित प्राणी है। बंदर को जब उलटकारी चश्मा पहनाया जाता है, उसे भयानक मनोलोचनी आघात पहुँचता है। वह लड़खड़ा कर गिर पड़ता है। उसमें मूर्छा के क्लासिकल लक्षण विकसित होने लगते हैं: प्रतिवर्त बुझ जाते है, साँस तेज और सतही हो जाती है, रक्तदाब घटने लगता है। लगता है कि वह मरणासन्न हो... वह कई दिनों तक इसी गंभीर अवस्था में पड़ा रहता है, जो नर्वतंत्र की तीव्र आक्रांति का संकेत है। बाह्य क्षोभकों पर प्रतिक्रिया करने की क्षमता उसमें बहुत धीरे-धीरे वापस लौटती है, वह भी बहुत सशक्त क्षोभकों पर ही। बंदर ज्यादातर निश्चल पड़ा रहता है, मानो परिवेशी दुनिया से उसका नाता बिल्कुल टूट गया हो। यह

सब 'किसी बीमारी से अंधे हो गये जंतु की अवस्था' से बहुत मिलता-जुलता चित्र प्रस्तुत करता है।

आदमी इससे कहीं अधिक बड़े बोझ सहन कर लेता है। अपने प्रयोग को आगे बढ़ाते हुए लोगवीनेन्को और स्तोलिन ने प्रयोगाधीन व्यक्ति को ऐसा चश्मा पहनाया कि रेटीना पर वस्तु की स्थिति और नेत्र-गोलक को गति देने वाली पेशियों के संकेतों के बीच सामंजस्य टूट गया। सामान्य सामंजस्य निम्न प्रकार का है: वस्तु जितनी ही निकट होती है, आँखों के प्रकाशिकीय अक्ष को उतना ही कस कर संसृत करना पड़ता है, ताकि दुहरा बिंब मिले। नये चश्मे से यह संबंध उलट गया। दृष्टि कहती थी कि आँखों को संसृत करना है और मस्तिष्क से आने वाले संकेत कहते थे कि उन्हें अपसृत करना है। साथ-साथ क्रिस्टलीन (आँख का लेंस) संचालित करने वाली पेशियों को स्पष्ट बिंब बनाने के लिये पहले से विपरीत आदेश देने पड़ते थे। आप देख ही रहे हैं कि मस्तिष्क के सामने कितनी कठिन पहेली प्रस्तुत की गयी थी। बंदर जैसी कोई प्रतिक्रिया तो नहीं हुई, लेकिन दृष्टि-तंत्र बुरी तरह बौखला उठा था। समान्य अवधारणाएं नष्ट होने लगीं, नये और विचित्र बिंब उत्पन्न हो आये। उदाहरणार्थ, छाया छाया नहीं रह गयी: वह कभी सतह के रंग की तरह 'अनुभूत' होती थी, कभी पारदर्शक अंश की तरह, जिसके पार अंधकारमय शून्य झलकता था, तो कभी एक विशेष अर्धपारदर्शक सतह की तरह, आदि। यह भी मजेदार चीज है—'पारदर्शक छाया', जिसे मस्तिष्क सिर्फ इसलिये रचता है कि वह दृश्य एवं पेशीय संकेतों को संबद्ध नहीं कर पाता।

ये सभी प्रयोग निर्विवाद रूप से सिद्ध करते हैं कि आँख

से दिखने वाले और वास्तविकता को प्रतिबिंबित करने वाले चित्र जगत को तभी तक सही प्रतिबिंबित करते हैं, जबतक दृष्टि-उपकरण और सभी अन्य ज्ञानेंद्रिय सामान्य और सुसामंजस्यपूर्ण रहते हैं। जब अचानक न्युरोनी प्रयुक्ति में कोई बाधा उत्पन्न हो जाती है और वयस्क आदमी में ऊपर व नीचे में अर्जित फर्क लुप्त हो जाता है, अर्थात् क्षैतिज एवं उदग्र अक्षों के गिर्द घुमाव के सापेक्ष बाल्य अविचलता वापस लौट आती है, तो यह एक त्रासदी हो जाती है। इससे कोई लाभ तो है नहीं कि रोगी सीधे और दर्पण में प्रतिबिंबित अक्षरों को समान सुगमता से पढ़ लेगा। वह 69 तथा 96, 91 तथा 61 जैसी संख्याओं को पढ़ने में गलती करेगा, IX तथा XI की संख्याएं उसके लिये समान होंगी, लिखते वक्त पंक्तियों में अक्षर आवश्यक क्रम में नहीं आ पायेंगे, आदमी कागज पर कलम चलाता रहेगा, लेकिन उसमें कुछ पढ़ पाना संभव नहीं होगा।

दर्पणी रूपांतरणों के सापेक्ष अविचलता—यह सभी संभव 'अनुभूति-स्थिरताओं' की लंबी सूची में सिर्फ एक स्थिति-विशेष है। आपके मन में शायद यह प्रश्न कभी नहीं उठा है कि दूरी चाहे तीन मीटर की हो, दस मीटर की हो या बिल्कुल सट कर पास हो, कुत्ता कुत्ता ही दिखता है और बिल्ली बिल्ली ही—ऐसा क्यों? रेटीना पर तो उनका आकार हर स्थिति में भिन्न होता है! घोड़े को आप किसी भी बिंदु से देखें, वह घोड़ा ही लगता है, समान दूरी पर स्थित बड़ा, मध्यम व छोटा छत्रक आकार की भिन्नता के बावजूद छत्रक ही दिखते हैं। दृष्टि का यह स्वयंसिद्ध गुण ही तो अनेक सदियों से वैज्ञनिकों को परेशान कर रखा है।

हर समय यही माना जाता था कि दृष्टि-तंत्र अविचल रूप

से अनुभूत करता है, सिर्फ इसलिये कि वह निरंतर सीखता रहता है। उदाहरणार्थ, आकार (परिमाप) और दूरी के सापेक्ष अनुभूति-अविचलता की निम्न व्याख्या दी जाती थी। वस्तु की दूरी के अनुसार रेटीना पर उसकी परिमाप भिन्न होती है और मस्तिष्क में 'उद्दीपन-पैटर्न' भी भिन्न होते हैं। जंतु या आदमी इस पैटर्न की तुलना दूरी के साथ करता है, जिससे एक नया, व्यापकीकृत पैटर्न उत्पन्न होता, जो दूरी पर (और इसीलिये रेटीना पर बिंब की परिमाप पर) निर्भर नहीं करता। एपिस्कोप बर्कले, जिनकी इतिहास में एक आक्रामक प्रत्ययवादी के रूप में गिनती होती है, कोई और रास्ता नहीं सुझा सके। उनका कथन था कि सिर्फ हाथ से छू कर ही छोटा बच्चा रेटीना पर बिंब की परिमाप और वस्तु की दूरी को संबद्ध कर सकता है (हम-आप तो अब जान चुके हैं कि यह सही नहीं है; दूरी मापना इतरता-न्युरोनों का काम है)। वर्ष पर वर्ष बीतते गये, सदियां गुजरती गयीं, एपिस्कोप के विचारों की वैज्ञानिक आलोचना हुई, उनका खंडन भी हो गया, लेकिन दृष्टि-उपकरण के काम के बारे में उनके विचार (जो किसी प्रयोग पर नहीं आधारित थे) पता नहीं क्यों बड़े जीवंत निकले, उनको सभी पाठ्यपुस्तकों में स्थान मिल गया और वे 'चलता-फिरता' सत्य बन गये।

भाग्यवश हमारी शती के 7-वें दशक में यह ठीक-ठीक सिद्ध किया जा सका कि स्पर्श दृष्टि का गुरू नहीं है; वास्तविकता उल्टी है। पहली बात तो यह है कि दृष्टि अन्य ज्ञानेंद्रियों के संकेतों को निःशक्त कर देती है, उन पर हावी हो जाती है। उदाहरणार्थ, यदि प्रिज्म से हो कर अपने हाथ को देखें, जिससे बिंब वास्तविक स्थान से कुछेक सेंटीमीटर हट कर बन-

ता है, तो कुछ समय बाद आपको सचमुच यही लगेगा कि हाथ वहीं है, जहां दिख रहा है, जबकि पेशियों से मिलने वाले संकेत बिल्कुल दूसरी सूचना देते हैं। उलटकारी चश्मे के साथ प्रयोग यह विशेष रूप से सिद्ध करता है, जब आदमी अभी पूरी तरह से 'औंधी दुनिया' का अभ्यस्त नहीं होता। उदाहरण के लिये दीवार पर एक उल्टा पोस्टर टांग देते हैं और पूछते हैं कि वह किस स्थिति में लटक रहा है। प्रयोगाधीन व्यक्ति कहता है कि वह सीधा लटक रहा है। वह पोस्टर का निचला भाग दिखाते हुए पूरे विश्वास के साथ कहता है: "यह सर है, यह ऊपरी भाग है।" जब उसे पोस्टर पर ऊपर से नीचे हाथ लाने को कहा जाता है, तो वह हाथ नीचे से ऊपर ले जाता है और कहता है: "ऊपर से नीचे, ऊपर से नीचे..."

तीन सप्ताह से उलटकारी चश्मा पहने आदमी के नाश्ता करने का आँखों देखा वर्णन सुनिये – लोगविनेन्को के शब्दों में: "मेज पर तशतरी, एक कप दही और रोटी की नन्ही डलिया है। प्रयोगाधीन छात्रा इन चीजों को अपनी सुविधा के अनुसार एक विशेष क्रम में रखती है: तश्तरी, जिसमें वह खायेगी, निकट रखती है; गिलास, जिससे वह बीच-बीच में पीती है, कुछ आगे रखती है; डलिया को और भी दूर रखती है (उसकी जरूरत इतनी जल्द-जल्द नहीं ही होगी)। वास्तविकता में ये वस्तुएं विपरीत क्रम में स्थित हो जाती हैं: डलिया सबसे निकट आ जाती है, तश्तरी सबसे दूर होती है, लेकिन अपने चश्मे के दृष्टि-क्षेत्र में उसे यह इच्छित क्रम लग रहा है। दिलचस्प बात यह है कि तश्तरी टेबुल की बिल्कुल दूसरी किनारी पर होने से छात्रा को जो

असुविधा हो रही है, उस पर वह बिल्कुल ध्यान नहीं दे रही है। बाह्यतः उसकी हरकतें बहुत अजीब लग रही हैं। जब एक सहायक ने उसकी सहायता के लिये तश्तरी उसके निकट खिसका दी, तो उसे लगा कि वह तश्तरी उससे दूर कर रहा है; वह बुरा मान बैठी कि उसकी निस्सहाय अवस्था में (जिसके प्रति वह पूर्णतया सचेत थी) उसका मजाक उड़ाया जा रहा है। काँटे के साथ उसका हाथ बड़ा पेंचीला रास्ता तय करता था, लेकिन वह कहती थी कि उसके चश्मे के दृष्टि-क्षेत्र में यह बिल्कुल सामान्य है।" दृष्टि आज्ञा देती है और पेशियां उसका पालन करती हैं: प्रतिकर्मता, जो हाथ को आवश्यक स्थिति में लाने के लिये बिल्कुल आवश्यक होती है, प्रकाशिकीय चैनेल से ही आती है; स्वामग्राहकों (पेशियों तथा गहराई पर स्थित अन्य ऊतकों से क्षोभ ग्रहण करने वाले न्युरोनों) के संकेत बिल्कुल उपेक्षित रह जाते हैं (अफसोस कि प्रयोग के समय निम्न जाँच नहीं की गयी: यदि प्रयोगाधीन छात्रा की आँखें बंद कर दी जातीं, तो वह किस तरह काम करती? ऐसी स्थिति में जगत का आंतरिक बिंब पूर्णतया पुनर्स्थापित हो जाना चाहिये था, जिसमें सभी स्थलाकृतिक संबंध सामान्य होते। क्या तब वह महसूस कर लेती कि उसने टेबुल पर तश्तरी बहुत असुविधाजनक स्थान पर रखा है और उसके हाथ को बहुत अटपटी गति करनी पड़ती है?)

अमरीकी मनोलोचक जेम्स जिब्सन ने 1950 में एक पुस्तक प्रकाशित की: "दृश्य जगत की अनुभूति"। उन्होंने लिखा था: यदि आप खिड़की से झाँकेंगे तो आपको जमीन, घर आदि और, यदि आपका भाग्य अच्छा रहा, तो तृण और

वृक्ष भी दिखायी देंगे। बस इसी को हम दृश्य जगत कहना तय कर लेते हैं। यह दैनंदिन जीवन के सामान्य दृश्यों को कहते हैं, जिनमें बड़ी चीज बड़ी दिखती है, वर्गाकार चीज वर्गाकार, क्षैतिज सतह क्षैतिज और कमरे के दूसरे सिरे पर स्थित किताब-वैसी, जैसी वह आपके समीप होने पर दिखती है। अब जरा अपने कमरे को कमरे की तरह नहीं, एक ऐसी चीज की तरह देखिये, जो मुक्त व्योमों और रंगीन सतहों के टुकड़ों और परस्पर विलगित परिरेखाओं से बनी है। यदि आप हठ से काम लेंगे, तो दृश्य एक चित्र से मिलता-जुलता हो जायेगा। आप देखेंगे कि अंतर्य के अनुसार भी वह पूर्व दृश्य से कुछ भिन्न है। इसे हम दृश्य क्षेत्र कहेंगे। यह कम परिचित है बनिस्बत कि दृश्य जगत, और इसे बिना प्रयत्न किये नहीं देखा जा सकता।"

वर्तमान नर्वशरीरलोचनी आँकड़े जिब्सन द्वारा वर्णित स्थिति को कुछ दूसरी तरह देखने को विवश करते हैं। दृश्य जगत क्या है? यह बाह्य यथार्थ की आंतरिक प्रस्तुती है, सभी ज्ञानेंद्रियों और विशेषकर नेत्रों के कार्यों से विरचित अनुभूतिगत प्रतिमान है। दृष्टि-उपकरण में अनेक चैनेल हैं-आकृति (अर्थात् परिरेखा) के लिये, रंग के लिये, व्योमधर्मिता के लिये, आदि। वस्तु की विरचित अनुभूति की प्रकृति जटिल और बहुचैनेली है, वह बहुपक्षीय है, बहुमुखी है; हम सिर्फ अभ्यस्त हो जाने के कारण ही (या यूं कहिये कि हममें उपस्थित जंतिकीय प्रोग्राम के कारण ही) इस बहुमुखता की प्रयुक्ति पर ध्यान नहीं देते। लेकिन मान लीजिये कि कोई आदमी व्योमधर्मिता के चैनेल को दमित करने की क्षमता रखता है, जैसे योगी लोग हृदय की धड़कन को नियंत्रित रख

सकते हैं, तब क्या होगा? यदि यह सचमुच संभव होगा, तो बाह्य जगत उसकी चेतना में व्यौम वस्तुओं का समूह न हो कर समतली आकृतियों का समूह क्यों न हो सकेगा?

यदि इस तरह सोचा जाये, तो ऐसा अति प्रतिभावान आदमी भी मिल सकता है, जो प्रधाण-उपकरण के संकेतों का चैनेल बंद करना सीख जाये और जब चाहे दुनिया को सीधा देख ले, जब चाहे उल्टा देख ले। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं होगी। चैनेल का अनैच्छिक रूप से बंद हो जाना तो संभव है; इसका प्रमाण है अल्पकालीन भारहीनता की परिस्थितियों में संपन्न किया गया उपरोक्त प्रयोग, जिसमें विमान तोप के गोले की तरह उड़ता है। एक अनुभवी विमान-चालक लिखते हैं: भारहीनता के प्रथम सेकेंड में लगता है कि विमान उलट गया है और औंधा चल रहा है... इस तरह की अनुभूति खनाविकों को भी होता है, जब वाहक राकेट का त्वरण रोक देते हैं और भारहीनता उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ, खनाविक गेर्मन तीतोव को लगा कि उपकरणों की पट्टिका (कंट्रोल-डेस्क) "खिसक गया और सर के ऊपर आ गया", और कोंस्तांतीन फेओक्तिस्तोव को उड़ान के समय काफी देर तक प्रतीत होता रहा कि उन्हें सर के बल खड़ा कर दिया गया है (भ्रम आँख बंद कर लेने पर भी बना रहता था)। निस्संदेह इन सभी उदाहरणों में चैनेल नहीं, संकेतों का जनित्र (संकेतों को उत्पन्न करने वाली प्रयुक्ति) बंद हो जाता था। लेकिन क्या पता कि चैनेल भी बंद हो सकता है? उलटकारी चश्मा पहने लोगों में तो यह हो जाता है...

जिब्सन का 'दृश्य क्षेत्र' मोटा-मोटी कहें तो वस्तुओं का

फोटो-चित्र है, जो सरलीकृत और समतली होता है, जगत के बारे में बहुत कम सूचनाएं वहन करता है। लेकिन 'दृश्य जगत' एक चित्र है, छवि है, एक पूर्ण बिंब है, जिसकी उत्पत्ति में विविध संवेदिताओं का योगदान रहता है। इसी-लिये तो अनुभवी शिक्षक बार-बार इस बात को दुहराते रहते हैं कि हममें से हरेक में एक चित्रकार छिपा होता है; उसे प्रकट करने के लिये अपने को सिर्फ संकोच से मुक्त करना चाहिये।

चित्रकला, मूर्त्तिकला, संगीत या किसी भी अन्य कला से उदासीन लोगों के सामने जगत (अर्थात् उसके मस्तिष्क में जगत का अनुभूतिक प्रतिमान; इस बात को कभी न भूलें) विकलांग एवं दरिद्र रूप में उपस्थित होता है, वास्तविकता के साथ उसका ठीक-ठीक मेल नहीं बैठता। कला ही एक ऐसी चीज है, जो हमारे ज्ञानेंद्रियों को एक पैनापन प्रदान करती है, अनुभूति की सीमाओं को, उसके परास को विस्तृत करती है। कला से दूर रहने वाले लोगों के बारे में ही कवि ने लिखा है:

> वे न देखते हैं, न सुनते हैं,
> खुद मानो अंधेरे में जीते हैं।
> उनके लिये सूर्य है निस्पंद
> और निष्प्राण है सागर-तरंग।
>
> किरणें मन आलोकित नहीं करतीं,
> बसंत हृदय पल्लवित नहीं करता;
> तारक-मंडित रातें मूक रहतीं,
> देख उन्हें कुंज-वन चुप रहता।

सरित-कुंजों को व्याकुल करती
इलेतर भाषाग्रों में बिजली
मैत्री-वार्ता में कभी उनसे
रात्रि-मंत्रणा नहीं करती!..

जो कुछ मैं कह रहा हूं, वह निश्चय ही विज्ञान की भूमिका को, जगत और उसका संचालन करने वाले नियमों के अभिज्ञान में तर्कणा की भूमिका को किसी भी प्रकार कम नहीं करता। लेकिन यही तो बात है कि महान वैज्ञानिकों को भी अपनी सैद्धांतिक खोजों के लिये कला में अपने प्रकार का एक गंभीर संबल मिलता रहा है। "...उपयोगी संमेल दरअसल सुंदरतम संमेल होते हैं, जो उस विशेष सौंदर्य--भावना को सर्वाधिक संतुष्ट करते हैं, जिससे हर गणितज्ञ परिचित होता है,"—यह फ्रांसीसी गणितज्ञ पुअ्रानकारे कहा करते थे। कार्ल मार्क्स ने और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है: "मेरी कृतियों में चाहे जो भी त्रुटियां हों, उनमें एक सद्गुण तो है ही कि वे एक कलात्मक संपूर्णता प्रस्तुत करती हैं..."

विज्ञान व्यापक 'अधिमानवीय' नियमसंगतियों का उद्घाटन करता है। कला आदमी का अध्ययन करती है, आदमी से संबंधित वस्तुओं, संवृत्तियों और खुद विज्ञान में मानवीय तत्त्वों का बोध कराती है। कलाविहीन विज्ञान एक शुष्क और आदमी के लिये शत्रुतापूर्ण संवृत्ति है, लेकिन दोनों मिल कर मानव के सुंदर यशगान में परिणत हो जाते हैं। वस्तुओं का सार समझने के लिये अपनी कल्पना में जगत का एक पर्याप्त स्पष्ट प्रतिमान बनाना आवश्यक होता है, उसी दृश्य जगत का, जिसके बारे में हम इतना कहते-सुनते आये हैं। और इस काम में कला के बिना बहुत अधिक सफलता नहीं मिलेगी।

आस्ट्रिया के गणितज्ञ कुर्ट ग्योडेल ने हमारी शती के 4-थे दशक में एक प्रमेय सिद्ध किया, जो अभिज्ञान-सिद्धांत में ग्योडेल-प्रमेय नाम से जाना जाता है। प्रमेय है: कोई भी रूपबद्ध (या विधानित) तर्क-प्रणाली * सिद्धांततः अपूर्ण होती है। मतलब कि ऐसा कथन हमेशा ही ढूंढ़ा जा सकता है, जो इस प्रणाली के आंतरिक साधनों से न तो सिद्ध हो सकेगा, न खंडित ही। उस पर मनन करने के लिये प्रणाली से बाहर निकलना होगा, अन्यथा दुश्चक्र में फँसे रह जायेंगे। अनेक दार्शनिक यह मानते हैं कि विज्ञान के सापेक्ष ग्योडेल-प्रमेय से बचने के लिये कला ही वह 'दूसरी दुनिया' है, जिसमें प्रवेश करना चाहिये। विज्ञान जगत का वास्तविक बिंब-प्रस्तुत करता है, लेकिन यह बिंब विखंडित होता है। कला उसके अलग-अलग खंडों को एक संतत पूर्णता के रूप में जोड़ती है, वैज्ञानिक जगत को व्यक्तिगत, मानवीय अर्थ संप्रेषित करती है। हमारी इच्छा है कि वह सबके लिये समृद्ध एवं सुंदर हो!

---

*ऐसी तर्क-प्रणाली जिसमें अक्षिम, कथनों के मूल्यांकन की रीतियां, उनके साथ संपन्न होने वाली संक्रियाएं आदि पूर्वनिर्धारित होती हैं।—अनु.

अध्याय 13

मानदंड और फैशन-चक्र

फैशन, दंभ की देवी,
घुटने टेकती हैं
तेरे समक्ष
महारानी और नौकरानी।
सन्यासी भी अब
शब्द-युद्ध में रत तुझसे
इजाद करते हैं
नये-नये वल्कल।

– शेबाश्तियान ग्नेकोव्स्की (1770-1847),
"फैशन की देवी"

प्रयोगशाला की इमारत कुछ दूर है। बस से उतर कर पूरा कस्बा पार करना पड़ता है, फिर शरीरलोचनी संस्थान की अनेक अन्य प्रयोगशालाओं की इमारतें आती हैं। जगह-जगह कुत्तों का भूँकना सुनायी देता है। सड़क से दायें बड़े-बड़े पिंजड़ों में नस्लहीन कुत्ते पल रहे हैं। बौद्धिक क्षमता में ये देशी कुत्ते प्रदर्शनियों में मेडल जीतने वालों से जरा भी कम नहीं होते। और यहां, जहां मस्तिष्क का अध्ययन होता है, इन्हीं देशी कुत्तों का बोलबाला है।

प्रयोग से कुछ पूर्व कुत्ते को खाना देना बंद कर देते हैं। प्रयोग में उसे काम करना पड़ता है, स्वादिष्ट गोश्त के टुकड़ों

पर अपना अधिकार सिद्ध करना पड़ता है। पिंजड़े की दिनचर्या के वे अभ्यस्त हो चुके हैं। यदि ठीक समय पर खाने की कठौती नहीं आती, तो भूख असह्य हो उठती है, रोम-रोम इंतजार में रत हो जाता है।

रिंग में निकल कर कुत्ता कई दरवाजे देखता है। हरेक पर सफेद गत्ता टंगा होता है। एक पर कोई निशान है – क्रौस, त्रिभुज या किसी अन्य सरल आकृति का। या सिर्फ एक सरल रेखा का ही। दरवाजे के पार खाने का सामान है – गोश्त का छोटा सा टुकड़ा। उसे खा ले, तो भूख की आग और तेज हो जाये। अगली बार जब कुत्ता रिंग में आता है, तो चित्र किसी अन्य दरवाजे पर टंगा होता है, उसे फिर से ढूंढ़ना होता है। जल्द ही कुत्ता चित्र पर बिल्कुल सही प्रतिक्रिया करने लगता है, जब भी आता है, दौड़ता हुआ चित्र वाले दरवाजे को नाक से धकेलता है; उस पार उसका पुरस्कार – गोश्त का टुकड़ा – रखा रहता है।

प्रयोग इसी के बाद शुरू होता है। क्षैतिज रेखा, जिसका मतलब है "गोश्त यहां है", अब कोरे गत्तों के बीच नहीं टंगा होता, बाकी गत्तों पर भी रेखाएं बनी होती हैं – एक झुकाव के साथ। एक गत्ते पर तो उदग्र रेखा भी होती है। कुत्ते से चुनने की अपेक्षा की जाती है, लेकिन वह चुनता नहीं है, वह सोचने में समय नहीं लगाता, सीधा उस दरवाजे की ओर छलांग लगाता है, जिसपर क्षैतिज रेखा वाला गत्ता टंगा होता है। गत्तों को किसी भी क्रम में लटकाया जाये, परिणाम हमेशा एक होता है, छलांगों में व्यय सेकेंडों की संख्या सदा एक रहती है। यदि अन्य शब्दों में कहें, तो 'विशाखित वृक्ष के आरेखानुसार' खोजने की आवश्यकता

नहीं पड़ती। किसी भी झुकाव की रेखा को पहचानने के लिये मस्तिष्क में जंतिकीय मानक (या मानदंड) होता है, जिसके लिये कुत्ते को और साथ-साथ हमें भी प्रकृति अर्थात् विकास--क्रम का ऋणी होना चाहिये।

आदमी भी भिन्न झुकाव वाली रेखाओं को 'वृक्ष' के आरेखानुसार नहीं, बल्कि तुरंत, सीधे पहचान लेता है; इसमें अल्पतम समय लगता है, जो सदा समान (स्थिर) होता है। यह पश्च वल्कुट के क्षेत्रों का कार्यफल है। फुरिये के रूपांतरणों के बारे में हमारा ज्ञान हमें यह कहने का अधिकार देता है कि इतनी शीघ्र पहचान के लिये संकेत इन्हीं क्षेत्रों से उत्पन्न होते हैं (रूपांतरण इन्हीं क्षेत्रों में होते हैं न!)। इसमें सीखने की कोई बात नहीं है, क्षेत्र जंतिकीय रूप से विरचित होते हैं।

प्रयोग के अगले चरण पर कुत्ता सरल आकृतियों को ठीक--ठीक पहचानना सीखता है। इसके लिये मस्तिष्क में कोई मानदंड (तुलना के लिये वैसी ही आकृति) नहीं होता। कुत्ते को दरवाजे पर आवश्यक आकृति द्विभाजक रीति से चुनना पड़ता है। दृष्टि-उपकरण जटिल लक्षणों को चुन -चुन कर देखता है; चित्रों की संख्या जितनी ही अधिक होती है, चयन में समय उतना ही अधिक लगता है (उसी लगरथी निर्भरता वाले सूत्र के अनुसार)। वैसे... प्रयोगों की एक नियत संख्या के बाद प्रयोगकर्त्ता महसूस करने लगता है मानो आकृति का भी मानदंड बन गया है। जी हां, आकृति का, यद्यपि प्रकृति द्वारा उसके लिये विशेष क्षेत्रों की कोई व्यवस्था नहीं होती। अन्वीक्षक को इसका पता कैसे चल जाता है? बहुत सरलता से: वह 'याद किये हुए' चित्र को छोड़ कर

बाकी सभी चित्रों को बदल देता है, फिर भी दरवाजे तक छलांग लगाने का समय अपरिवर्तित रहता है (यदि दृश्य--मानदंड नहीं होता, तो समय जरूर बढ़ जाता)।

आगे इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में लिखा था: "प्रयोगशाला के सहकर्मियों द्वारा स्थापित इस तथ्य से ऐसी अनेक संवृत्तियों की व्याख्या हो जाती थी, जो पहले विचित्र प्रतीत होती थीं। प्रशिक्षण काल में उत्पन्न होने वाला अभ्यासजनित मानदंड लंबे विकास-पथ पर कशेरुकी प्राणियों के दृष्टि--उपकरण की एक अमूल्य उपलब्धि है (प्रशिक्षण चेतन भी हो सकता है और अचेतन भी)। पहचान की इस रीति के उपयोग से निर्णय लेने का काम बहुत शीघ्रता से, लगभग प्रतिवर्त रूप से संपन्न होता है। इसका अर्थ है कि जिन प्राणियों में इसकी क्षमता थी वे अपने दुश्मनों के पंजों से भागने में अधिक सफल रहे; उनके लिये शिकार ढूंढ़ना भी अधिक आसान होता था।"

लेकिन दृष्टि-उपकरण के कार्य से संबंधित नवीनतम सूचनाएं, जो प्रयोगशाला में प्राप्त हुई हैं, अभ्यासजनित मानदंड की परिकल्पना पर हमें पुनर्विचार करने को विवश करती हैं, यद्यपि यह परिकल्पना कुछ ही वर्ष सबों के लिये एक आकर्षण-केंद्र बनी हुई थी। मस्तिष्क में पहचान की एक अन्य प्रयुक्ति कहीं अधिक सच लगती है: बिंब के आधार पर, अर्थात् आकृति के लंछक गुणों के आधार पर उतनी पहचान नहीं होती, जितनी उपबिंबों की व्यौम स्थिति के आधार पर होती है। जैसा कि हम जानते हैं, प्रशिक्षण काल में दृष्टि-उपकरण उपबिंबों को भी अनुभूत करता है और उनके व्यौम संबंधों को भी, जिसके बाद व्यौम लंछकों के आधार पर बिंब विर-

चित होता है। स्पष्ट है कि इसके लिये व्यौम संबंध पहले ही निर्धारित हो जाने चाहिये, वस्तु के बारे में सामान्य धारणा बनने से पहले। और पर्याप्त बड़ी संख्या बार चित्र देख चुकने पर बाहर से आये उपबिंबों की स्मृति में स्थित सभी उपबिंबों के साथ सविस्तार तुलना की आवश्यकता नहीं रह जाती। बिंब को हम इतने से ही पहचान लेते हैं कि पश्च-शीर्ष वल्कुट में व्यौम संबंधों का चित्र कैसा है। इससे हमें सिर्फ लगता है कि वहां अभ्यासजनित मानदंड बन गया है। आखिर व्योम की अनुभूति के लिये 'लक्षण-वृक्ष' के आरेखानुसार खोज करने की आवश्यकता तो होती नहीं है: बुनन संबंधी उप-बिंबों की पारस्परिक स्थिति का चित्र तुरंत पूरे दृष्टि-क्षेत्र पर उत्पन्न हो जाता है, ठीक उसी क्षण, जब दृश्य-संकेत प्रपट्टिक वल्कुट में पहुँचता है और वहां से पश्च-शीर्ष वल्कुट में प्रेषित होता है।

जो भी हो, अभ्यासजनित मानदंड विकसित करने की क्षमता बहुत ही उपयोगी है (शब्द – अभ्यासजनित मानदंड – का प्रयोग अब हम संक्षेपण के लिये ही कर रहे हैं, लेकिन यह न भूलें कि इसकी वास्तविकता कुछ और है)। उदाहरणार्थ, देखिये कि अनुभवी ड्राइवर रास्तों पर बने संकेत-चित्रों को कितनी आसानी से समझता जाता है, लेकिन नौसिखुए को कितनी परेशानी होती है। पहला ड्राइवर किसी भी संकेत-चित्र को स्वचल और प्रतिवर्त रूप से पहचान लेता है, लेकिन दूसरे को हर बार कुछ सोचना पड़ता है। लेकिन छे महीने या एक साल पूरा होते-होते दोनों की क्षमताएं एक जैसी हो जाती हैं। दूसरे में भी अभ्यासजनित मानदंड विरचित हो जाता है। अपने काम का कोई भी विशेषज्ञ

सैंकड़ों वस्तुओं को मस्तिष्क में विरचित मानदंडों की सहायता से ही पहचाना करता है, जबकि आम आदमी को इसके लिये तर्क का सहारा लेना पड़ सकता है, प्रत्यक्ष मापें लेनी पड़ सकती हैं, निदर्शिका उलटनी पड़ सकती है। यदि आप नट-बोल्टों के साथ काम नहीं करते, तो M5 और M6 नंबर के बोल्टों में शायद ही अंतर कर पायेंगे: उनके व्यासों में सिर्फ 20 प्रतिशत का अंतर होता है। लेकिन अनुभवी मिस्त्री आवश्यक बोल्ट लगभग बिना देखे निकाल लेता है, जबकि उसकी डिबिया में दसियों प्रकार के बोल्ट हो सकते हैं।

अभ्यासजनित मानदंड प्रसिद्ध गणितज्ञ अकादमीशियन आंद्रेई कोल्मोगोरोव की एक उक्ति का समर्थन करते हैं: छोटा प्रोग्राम अधिक मूल्यवान सूचनाएं प्राप्त करने में सहायक होता है। मस्तिष्क सचमुच ही बहुत शीघ्र पुनर्गठित हो जाता है, ताकि चित्र से अल्पतम समय में महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त कर सके। इससे भी दिलचस्प बात तो यह है कि अभ्यासजनित मानदंड फैशन के नखरों पर भी नया प्रकाश डालता है।

वर्ष में करीब चार बार – और मौका मिला तो अधिक भी – वस्त्रकार यह विश्वास दिलाने की कोशिश करते हैं कि नया फैशन आदमी के भले के लिये रचा गया है: जो कुछ फैशन का नखरा लगता है, वह दर-असल वस्त्रों को बेहतर बनाने का प्रयास है। वस्त्रकारों की यही इच्छा होती है कि संकरे या चौड़े पैंटों, छोटे या लंबे स्कर्टों आदि के पक्ष में कोई तर्क भी जरूर पेश करें, उनमें कोई क्रियात्मक (या फलनात्मक) अर्थ भी जरूर भरें। वस्त्रों के ही नहीं, फर्नीचर, कार आदि के डिजाइनरों के साथ भी यही बात है। कहते हैं: पिछले वर्ष का फैशन बहुत खराब था और "**नया**

फैशन हरेक को अपना व्यक्तित्व उभारने में मदद कर रहा है"। कुछ अधकचरे समाजलोचक तो यह भी कह देते हैं कि फैशन (ध्यान दें, फैशन, न कि शैली!) विचाराधीन समाज को लंछित करता है... इसका तो कोई जवाब ही नहीं है: यह तथ्य कि आज जूती की हील और स्कर्ट की लंबाई कल जैसी नहीं रही, क्या कोई सामाजिक महत्त्व का चिन्ह है? फिर इस हालत में क्या कीजियेगा, जब भिन्न सामाजिक तबकों या यहां तक कि गठनों की भी प्रतिनिधियां समान लंबाई के स्कर्ट पहनना शुरू कर देती हैं?

खैर, मजाक छोड़ें। बड़े पैमाने पर शैली में परिवर्तन युगों के साथ होता है, जबकि फैशन अपेक्षाकृत क्षणभंगुर होते हैं, वे शैली रूपी सागर पर नन्ही लहरों की तरह होते हैं। सचमुच में जब घरों की आंतरिक सजावट, वस्त्रों की शैली, लोगों के पारस्परिक संबंधों की शैली, औद्योगिक उत्पादों की अल्पना आदि में तीव्र परिवर्तन होते हैं, तो इसमें सामाजिक प्रक्रियाओं में परिवर्तनों की स्पष्ट झलक देखी जा सकती है, जो पूरे देश-महादेश को, पूरी दुनिया को झकझोर के रख देते हैं।

हम प्राचीन ग्रीक और प्राचीन रोम की शैलियों में सरलता से अंतर कर लेते हैं, 15-वीं शती के गोथिक परिधानों और 19-वीं शती के उत्तरार्ध तथा 20-वीं शती के पूर्वार्ध की आधुनिकता के वस्त्रों में भी सुगमता से अंतर कर लेते हैं। रोकोको शैली का अंत किससे हुआ था, यह भी हम अच्छी तरह जानते हैं: महान फ्रांसीसी क्रांति में जैकबवादियों के सीधे-सादे वस्त्रों से, जिनका नारा था "झोपड़ियों में शांति – महलों में युद्ध!" रूसी राज और ज़मींदार घराने के लोगों के वस्त्र ऐसे थे

कि मुश्किल से चला-फिरा जा सकता था; जार प्योत्र प्रथम के प्रवेगिक राज्यकाल में ऐसे वस्त्र पिछड़ेपन के प्रतीक हो गये। रूस में कामकाजू यूरोपीय शैली लाने में इस युवा जार के उत्साह पर जितना भी आश्चर्य किया जाये, कम ही होगा। रूस की जीवन-शैली में वास्तविक परिवर्तन अक्तूबर क्रांति के बाद ही शुरू हुआ।

वैसे, जीवन-शैली में परिवर्तन के पीछे सदा सामाजिक-राजनैतिक घटनाओं का ही हाथ नहीं होता। ऐतिहासज्ञ शैली-परिवर्तन का संबंध कपड़े बुनने की नयी रीतियों, नयी सामग्रियों और नयी मशीनों के साथ भी जोड़ते हैं। 14-15-वीं शतियों में ही पश्चिमी यूरोप में वे सभी प्रकार के वस्त्र अस्तित्व में आ चुके थे, जो आज प्रयुक्त होते हैं। 20-वीं शती में वस्त्रों के इतिहास में एक नया अध्याय रेडीमेड कपड़ों के उद्योग से शुरू हुआ, जो बड़ी संख्याओं में सिले-सिलाये वस्त्रों का उत्पादन कर सकता है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी वस्त्रकार-डिजाइनर पियेर कोर्डेन कहा करते थे: "फैशन के बदलते रहने के पीछे सबसे पहले उद्योग का हाथ है... फैशन एक इंजिन है। वह अपने साथ-साथ रंग के कारखानों, वस्त्र-उद्योग और ऊन, कपास, सिल्क आदि के उत्पादन को भी आगे की ओर खींचता रहता है, मोडेलों, पत्रकारों, मजदूरों, वस्त्रकारों, डिजाइनरों और यातायत को काम देता है... फैशन के पीछे विराट यंत्र है। और इसीलिये फैशन को नखरा नहीं कहा जा सकता।"

जीवन-गति में त्वरण और जनसंचार (अर्थात् बड़े पैमानों पर सूचना के प्रचार और प्रसार) के साधनों के विकास के साथ-साथ शैलियों में परिवर्तन की गति भी बढ़ने लगती है।

15-16-वीं शतियों में एक शैली से दूसरी में पूर्ण संक्रमण करीब ग्राधी सदी में संपन्न होता था; वर्तमान समय में कोई दसेक वर्ष इसके लिये काफी होते हैं। मोटर-कार ग्रौर घरेलू तकनीकी साधनों की बनावट में क्रमशः निम्न धाराएं ग्रायी थीं: रचनात्मकता (3-4-था दशक), सुप्रवाह-रेखित (4-5-वां दशक), जंतु-ग्रनुकरण (5-6-ठा दशक), शुद्ध क्लासिकता (6-7-वां दशक), ग्रौर ग्रंत में 'ग्रंतरिक्षी शैली' (7-8-वां दशक)। घरेलू रेडियो-एलेक्ट्रोनिक सामानों में प्रयोगशालाई उपकरणों की शैली, टिमटिमाते प्रकाश-डिग्रोडों का उपयोग, विभिन्न मापों के हत्थों, नौबों ग्रादि का उपयोग, चरम क्रियात्मकता, सममिति ग्रादि उल्लेखनीय हैं। शैली में वृहत परिवर्तनों के ग्रंतर्गत फैशन का खेल होता है – वह हर दो वर्षों में (पिछले समय से तो ग्रौर भी कम ग्रवधि पर) बदल जाती है; डिजाइनर यह विश्वास दिलाने की कोशिश करते हैं कि "इसका संबंध लोगों की निरंतर परिवर्तनशील ग्रावश्यकताग्रों के साथ है"।

किन ग्रावश्यकताग्रों के साथ? निस्संदेह ये उपयोगिता से संबंध नहीं रखतीं। ग्रब भी वस्त्रों का उपयोग नग्नता छिपाने के लिये ही होता है, कार का – यात्रा के लिये ग्रौर रेडियो का – गीत सुनने के लिये। (मैं यहां वस्तुग्रों के रचनात्मक विकास के बारे में बात नहीं कर रहा हूं: एलेक्ट्रोनी बल्बों की जगह ट्रांजिस्टरों से काम करने वाले रेडियोग्राही उपकरणों की ग्राकृति भिन्न होती है – फैशन के कारण नहीं, बल्कि उसके ग्रंतर्य ग्रर्थात् बनावट ग्रौर उसके रूप के एकत्व को बनाये रखने के लिये।)

फैशन की गति के पीछे कहीं ग्रधिक गंभीर कारण छिपे

हैं, बनिस्बत कि निर्माता की ग्रपना माल सफलतापूर्वक बेचने की इच्छा (ग्रक्सर फैशन बदलने का एकमात्र दोषी इसी को बताते हैं)। बेशक, इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि कभी-कभी कारखाने में इसलिये बुलाया जाता है कि वह वस्तु को 'खूबसूरत' बना दे, जनता की पसंद (या ग्रधिकांशतः कारखाने के मालिक की पसंद) के ग्रनुसार सजा दे। इस तरह 'स्टाइलिंग' का जन्म होता है। लेकिन जैसे-जैसे ग्रौद्योगिक सौंदर्य के क्षेत्र में प्रतिभाशाली चित्रकारों, डिजाइनरों का प्रवेश होता गया, वस्तुग्रों की उनके द्वारा विकसित ग्राकृतियां उपभोक्ता को ग्रधिक से ग्रधिक प्रभावित करती गयीं।

क्रेता ग्रनजाने ही वस्तुग्रों के सौंदर्यपरक गुणों के प्रभाव में ग्रा जाता है। ये गुण ग्रादमी में नयी सौंदर्य-पिपासा को जन्म देते हैं। "इस प्रकार ग्रनजाने में ही उद्योग ग्रौर ग्रर्थतंत्र सौंदर्य-भावना की तुष्टि की ग्रावश्यकता पर निर्भर करने लगते हैं ग्रौर उत्पादन के विवेकसंगत तंत्र में तर्केतर, ग्रंतर्दृष्टिक, वैयक्तिक, सांस्कृतिक, ग्रफलनात्मक तत्त्वों का समावेश हो जाता है; इस तरह विदित होता है कि ग्रर्थतंत्र ग्रौर उद्योग को विज्ञान की ही नहीं, कला की भी ग्रावश्यकता होती है", – ये शब्द "डिजाइन की समस्या" नामक पुस्तक से लिये गये हैं। मतलब यह है कि चंचल फैशन ग्रादमी की सौंदर्यपरक ग्रावश्यकताग्रों की ग्रधिक पूर्त्ति करता है, बनिस्बत कि उपयोगपरक ग्रावश्यकताग्रों की। 'ग्राधुनिक बनना' – यह सौंदर्यशास्त्र एवं नैतिकता की ग्रवधारणा है।

जब ग्रादमी किसी वस्तु की ग्रसाधारण ग्राकृति को ग्रनुभूत करता है ग्रौर उसपर किसी प्रकार से प्रतिक्रिया करता है,

तो प्रतिवर्त (निश्चित प्रतिक्रिया) उसके व्यक्तित्व और परि-वेशी दुनिया के बीच जटिल संबंधों पर आधारित होता है; ध्यान रखें कि यहां तात्पर्य वस्तुओं की दुनिया से नहीं, लोगों की दुनिया से है। "फैशन अंतर्व्यक्तित्व संपर्क की एक विशेष प्रणाली है"—यह लेनिनग्राद थिएटर, संगीत और सिनेमा संस्थान के प्रोफेसर एल. पेत्रोव का कहना है। सचमुच, फैश-नेबुल वस्त्र सदा ही अपने ढंग का एक संकेत होते हैं। इसका एक सरल उदाहरण है सैनिकों की बिल्कुल अफैशनेबुल पोशक: वह दूर से ही संकेत दे देती है कि मित्र है या शत्रु। विमान-परिचारिका, वेटर, मिलिशिया आदि की पोशाक भी संकेत ही है, जो हमारे और पूरे समाज के साथ उस आदमी के संबंधों को स्पष्ट कर देता है; यह संकेत बिल्कुल शुद्ध होता है और मितव्ययी भी होता है—उसमें सूचनाओं की बहुत बड़ी मात्रा दबा कर भरी होती है। तरुण-वर्ग के लोग भी (और किसी भी विशेष उम्र के लोग) अपनी विशिष्ट पोशाक, केश-विन्यास आदि के कारण तुरंत पहचान में आ जाते हैं।

"पण्य वस्तु के सौंदर्यपरक गुणों का मूल्यांकन" नामक पुस्तक के लेखक-द्वय डिजाइनर एम. फ्योदोरोव तथा यू. सोमोव का विचार है कि आदमी के मस्तिष्क में सुंदर-असुंदर वस्तुओं के मानदंड बन जाते हैं; ये निकष हैं, जो उसके, आदमी के व्यक्तिगत और सामाजिक अनुभवों से व्युत्पन्न होते हैं। हम जो देखते हैं, उसके सौंदर्य का मूल्यांकन अचेतन रूप से इन्हीं मानदंडों की सहायता से करते हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि तार्किक विश्लेषण के चरण पर प्रारंभिक छाप का पुनरावलोकन नहीं होगा। फिलहाल हमारे

लिये सौंदर्य का पुनर्मूल्यांकन नहीं, बल्कि मानदंड ही महत्त्व-पूर्ण हैं। डिजाइनर जो कुछ फैशन के बारे में कह रहे हैं, वह कुत्तों के साथ प्रयोग से प्राप्त निष्कर्षों के बहुत निकट है। मन में अनायास ही प्रश्न उठने लगता है: कहीं फैशन में परिवर्तन आदमी की चेतना में अभ्यासजनित मानदंड बनने से उत्पन्न कोई प्रतिक्रिया तो नहीं है? याद दिला दें कि ये मानदंड बहुत अक्सर दिखने वाली विचाराधीन वस्तु, अर्थात् समय के दिये हुए अंतराल में किसी फैशनेबुल वस्तु के उप-बिंबों के व्यौम संबंधों से विरचित होते हैं।

जबतक मानदंड नहीं था, हम नयी आकृति को 'लक्षण-वृक्ष' के आरेखानुसार पहचाना करते थे। यह हम अचेतन रूप से ही सही, लेकिन करते जरूर थे, फलस्वरूप मस्तिष्क काम में व्यस्त रहा करता था। लेकिन अभ्यासजनित मानदंड बन जाने पर पहचानने का काम क्षण भर में संपन्न हो जाता है, चयन का काम खत्म हो जाता है! एक ही तरह की वस्तु को देख-देख कर 'बोर' होना कहीं इसी निष्कर्मण्यता का तो प्रतिफल नहीं है? असुविधा और रागात्मक असंतुष्टि मस्तिष्क की इस निठल्ली अवस्था के कारण तो नहीं महसूस होने लगती? और कहीं ऐसा तो नहीं है कि इस बोरियत के प्रथम लक्षण कलाकार डिजाइनरों की दृष्टि में सबसे पहले पड़ जाते हैं? आखिर अपनी मानसिकता के कारण ये लोग ऐसे होते हैं, जो उत्पन्न हो रही अकुलाहट को औरों से पहले महसूस कर लेते हैं। वे महसूस करते हैं और पुरानी आकृति को विदा करने के लिये सक्रिय हो उठते हैं (यह बहुत कुछ उन्हीं पर तो निर्भर करता है)।

कहीं प्रथम दृष्टि में प्रेम भी इसी अभ्यासजनित मानदंड

पर (धनात्मक!) प्रतिक्रिया तो नहीं है? जाहिर है कि उसमें सिर्फ दृष्टि की भूमिका नहीं होती। येव्गेनी विनोकूरोव ने लिखा है:

सुंदरी!.. और हम अभिभूत
निश्चल खड़े हैं, मुंह बाये...
—देखिये, वह रही, सुंदरी!
सजीव
सुंदरी! वह—मंद्रा!
...और हम चुप हैं, मंत्रमुग्ध,
चुप हैं, स्तब्ध-मूक,
सिर्फ निगाहों से अनुसरण करते:
वह दायें—
हम भी दायें, वह बायें—और हम भी...

यहीं निकोलाई जाबोलोत्स्की की भी पंक्तियां याद आती हैं:

यदि ऐसा है, तो फिर सौंदर्य क्या है
और क्यों लोग उसे दैवी कहते हैं?
क्या घड़ा है वह, जिसके भीतर रिक्तता है,
या आग है लहकती हुई—घड़े में?

फैशन, सौंदर्य और मानदडों से संबधित बहुत सी बातें कहीं जा सकती हैं। स्ट्रास्बुर्ग विश्वविद्यालय के सामाजिक मनो-लोचन संस्थान के निदेशक अब्राहम मोल को भी उद्धृत किया जा सकता है कि "आदमी में सुंदरता या असुंदरता का संबंध शारीरिक गठन के हर तत्त्व में सामान्य आरेख से नगण्य विच-

लनों के साथ होता है"। स्पार्तानों की याद करें, जिनके लिये ऐसे कपड़े पहनना कानून से निषिद्ध था जिनके रंग 'मर्दों के लायक नहीं' होते थे। पैरेडों के प्रेमी पावेल प्रथम की ही बात लीजिये, जो हर चीज को अंकुश में रखा करते थे:

टोप की माप—डेढ़ इंच,
आगे से मनचाहा टोप कोई न पहने...

खैर, अब निष्कर्षों की बात करें। फैशन से लड़ने वाले लोगों पर तरस ही खानी चाहिये, क्योंकि वे आदमी की एक बिल्कुल नैसर्गिक अनुभूति—सौंदर्य-बोध की कुंदता और सूचना की एकरसता से विद्रोह की भावना—के विरुद्ध होते हैं। यह बात और है कि पेंडुलम को जरूरत से ज्यादा विचलित नहीं होने देना चाहिये... लेकिन यह समझना भी कठिन ही है कि 'जरूरत से ज्यादा' किसे कहते हैं।

एक समय था जब दकियानूस प्रशासक फुलपैंट पहनी लड़-कियों को रेस्त्रा में नहीं घुसने देते थे। फैशन के बारे में 1959 में प्रकाशित एक पुस्तक में सलाह दी गयी थी: "कभी-कभी सड़कों पर फुलपैंट पहने स्त्रियां या लड़कियां दिख जाती हैं। लेकिन फुलपैंट पहन कर उन्हें सड़क पर, सभाओं में, संस्थानों में नहीं जाना चाहिये। लड़कियां या स्त्रियां फुल-पैंट सिर्फ घर में पहन सकती हैं, या विशेष क्रीड़ा में भाग लेते वक्त, या काम पर, यदि उत्पादन की परिस्थितियों के लिये यह आवश्यक हो।" इसके बाद छोटे स्कर्ट की मनाही हो गयी, फिर लंबे स्कर्ट की, यह मांग करते हुए कि—भाग्य का खेल देखिये,—कम से कम जनाना सूट अवश्य होना चाहिये ("...स्त्रियों के वस्त्रों में फुलपैंटों का उपयोग तेजी

से बढ़ रहा है"—उपरोक्त पुस्तक की लेखिका ने बड़ा उदास हो कर लिखा—लेकिन 1959 के नहीं, 1974 के संस्करण में)।

पता नहीं, 'सुरुचि को चुनौती' श्रौर किस-किस चीज को कहते जायेंगे। मैं इतना ही जानता हूँ कि फैशन में कई लोग कुछ श्रागे हो जाते हैं श्रौर कुछ लोग श्रपनी जवानी की पोशाक के साथ चिपके रहते हैं... यही जीवन है, जैसा कि फ्रांसीसी लोग कहा करते है...

फ्रांस का ही एक किस्सा सुनें। "फैशन—एक सामाजिक संवृत्ति" नामक पुस्तक में प्रो. पेत्रोव निम्न उदाहरण देते हैं। राजा ल्युदोविक-XIV, जो श्रक्सर दंभ मारते थे—"राज्य मैं खुद हूं!"—पता नहीं क्यों ऊँचे जूड़े पसंद नहीं करते थे, जिसपर दरबार से संबंधित स्त्रियां लट्टू थीं। उनकी लाख कोशिश के बाद भी यह फैशन टल नहीं रही थी। एक दिन पेरिस में श्रंग्रेज दूत लार्ड सैंडविच का सपत्नीक श्रागमन हुश्रा। उनकी पत्नी सुंदर थीं श्रौर छोटा जूड़ा बांधती थीं। पेरिस की सभी रमणियों ने इस विदेशी फैशन का तुरंत श्रनुकरण शुरू कर दिया। राजा को बड़ी चिढ़ हुई। उन्होंने उदास मन से शिकायत की: "सच पूछें तो मुझे यह बहुत बुरा लगा कि जो मैं श्रपनी राज्य-शक्ति के माध्यम से नहीं कर सका, इस श्रदना-सी श्रंग्रेज श्रौरत ने कर दिया। श्रब सभी महिलाएं श्रौर यहां तक कि राजकुमारियां भी एक श्रति से दूसरे श्रति पर श्रा गयीं।"

—श्रापने जो लिखा है,—वस्त्र-डिजाइनर विचेस्लाव जाइत्सेव ने बताया,—वह बहुत श्रच्छी तरह दर्शाता है कि फैशन की दुनिया में क्या होता है... मैं सिर्फ मानव-जाति की श्रक्षुण्णता बनाये रखने में फैशन के महत्त्व की श्रोर श्रापका ध्यान श्राकर्षित करना चाहूँगा। यदि श्राप किसी को प्यार करते हैं श्रौर वह भी श्रापको प्यार करता है, तो श्राप चाहेंगे कि उस श्रादमी को श्रच्छा लगें। यदि दुर्भाग्यवश वह श्रापको प्यार नहीं करता, तो श्राप में यह इच्छा श्रौर उत्कट होने लगती है कि उसे पसंद श्रायें। इस 'पसंद श्राने', 'श्रच्छा लगने' में फैशन बहुत बड़ी भूमिका निभाता है। एक बात श्रौर है: मनुष्य प्रकृति का पुत्र है। सजीव प्रकृति में सब कुछ बदलता रहता है—सीजन-सीजन के श्रनुसार। ऐसे परिवर्तन श्रादमी में भी होते हैं। 'सीजन का फैशन' महज नखरा नहीं है, वह प्रकृति में, श्रादमी में, होने वाले परिवर्तनों को द्योतित करने की श्राकांक्षा को श्रभिव्यक्ति देता है। यह ऋतु के श्रनुकूल दिखने की इच्छा है, श्रपने पर प्रेम श्रौर सौहार्द से भरी दृष्टि श्रनुभव करने की श्रभिलाषा है। हमें लोग किन निगाहों से देख रहे हैं, इसके प्रति हम बहुत संवेदनशील होते हैं; श्रौरतें तो इस मामले में शुद्ध 'बैरोमीटर' होती हैं। सौहार्दपूर्ण दृष्टि श्रनुभव कर के हमें स्फूर्ति मिलती है, सुंदरता से जीने श्रौर काम करने की इच्छा बढ़ती है... यह सब तो स्वयंसिद्ध है... यह विचार कि फैशन के बदलाव में श्रनुभूति की थकान भी श्रपनी भूमिका निभाती है, मुझे श्रकाट्य लगता है। जब हम नये वस्त्र जमा करते हैं (श्रौर इसमें करीब छे महीने तो लग ही जाते हैं), इनमें से बहुत सी चीजें उतनी रोचक नहीं लगतीं, जितनी शुरू में लगती थीं। लेकिन यदि ऐसा नहीं होता, तो मैं डर जाता: क्या मैं दकियानूस होता जा रहा हूं? क्या मेरा विकास रुक रहा है?

यहां लेखक फैशन के बारे में बातचीत समाप्त करना चाहता

था, लेकिन पत्नी ने कहा: "और खराब फैशन? इसके बारे में क्यों चुप रहे? या ऐसी कोई चीज ही नहीं होती?"

अफसोस कि होती है... लेकिन 'क्या भला है और क्या बुरा' की समस्या फैशन में बहुत जटिल है, बनिस्बत कि किसी और चीज में। एक फ्रांसीसी कवि ने ठीक ही कहा है कि "सत्य पिरेनेएस* के एक ओर है और झूठ – दूसरी ओर"। यदि फैशन का उपयोग अपनी मिथ्या श्रेष्ठता प्रकट करने के लिये होता है, तो यह निश्चय ही बुरा फैशन है। क्योंकि यहां सौंदर्य का क्षेत्र खत्म हो जाता है और कुछ और ही शुरू होता है: नकली साइनबोर्ड, बनियापन, खराब माल को महंगा बेचने की इच्छा...

फैशन से बात चलते-चलते व्यक्तित्व पर आ ही जाती है। कुछ दिखना या सचमुच में होना? आधुनिक युग के एक प्रतिभाशाली डिजाइनर जोन नेल्सन का कहना है कि फैशन कोई विटामिन नहीं है, इसीलिये वह अधम और नीरस जीवन को खुशहाल और सुरम्य नहीं बना सकता। दिखना या होना? इस प्रश्न के उत्तर पर ही निर्भर करता है कि आपके द्वारा अपनाये गये फैशन को लोग किन नजरों से देखेंगे।

कुछ भी कहें, आसपास के लोगों के लिये हमारा फैशन अपने ही बारे में हमारे शब्द हैं।

---

*एक लंबी पर्वत-शृंखला, जो भूमध्य सागर से बिस्के की खाडी तक फैली है। – अनु.

अध्याय 14

दृश्य शब्द

सिद्धांत, जिसकी मुख्य परिकल्पनाएं सत्य हैं... यहां तक कि अपने विरोधी तथ्यों के बीच भी ऐसे संबंध दिखाता है, जो किसी दूसरे सिद्धांत के लिये सदा अज्ञात रहेंगे।

– ओ. फ्रेनेल
("प्रकाश के बारे में")

युनेस्को के आंकड़ों के अनुसार धरती पर लोग 2796 भाषाओं और 8 हजार बोलियों में बोलते हैं। इनमें से अच्छी तरह अध्ययन करीब पाँच सौ का ही हुआ है। इसमें दो आंकड़े और जोड़ लीजिये: तीन-चौथाई भाषाओं की अपनी लिपि नहीं है और पृथ्वी की दो तिहाई जनसंख्या सिर्फ 27 भाषाओं में बोलती है।

सिद्धांततः आदमी पृथ्वी की सभी भाषाएं सीख ले सकता है। लेकिन जरा अपने आसपास देखिये: क्या बहुभाषाविद ढेर सारे हैं? तीन भाषाएं जानने वाले को लोग आदर से देखते हैं, पाँच का ज्ञान रखने वाला स्थानीय पैमाने की प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है; 16 भाषाएं जानने वाले को अंतर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि मिलती है। कितना भी विश्वास दिलाया जाये कि भाषाएं सीखना हरेक के लिये सरल है, विदेशी भाषा

में बोलना एक कठिन काम है। लेकिन छोटा बच्चा बात-चीत में कोई भी भाषा सीख लेता है।

भाषा सीखने का अर्थ क्या है?

हर भाषा में एक शब्द-संकुल होता है और व्याकरण होता है। शब्दों की सहायता से हम वस्तुएं और संवृत्तियां द्योतित करते हैं—इस प्रक्रिया को नामकरण कहा जाता है। व्याकरण यह दिखाता है कि इन शब्दों को किस तरह जोड़ा जाये कि दूसरे लोगों के समझने लायक वाक्य बन सकें।

भाषाविदों की मान्यता है (यह विचार पहले-पहल अमरीका के नोम खोम्स्की ने प्रस्तुत किया था) कि आदमी में कुछ ऐसी चीज जरूर होती है, जिसे भाषाई क्षमता कहते हैं; इस एकमात्र चीज की ही सहायता से हम सही-सही और समझा कर बोल पाते हैं।

मनोलोचक कहते हैं कि आदमी का एक गुण है—भाषाई सक्रियता, अर्थात् अपनी भाषा में शब्दों व वाक्यों के उच्चारण की क्षमता। लेकिन मनोलोचक इस बात पर जोर नहीं देते कि बातचीत व्याकरण की दृष्टि से सही हो। यदि बात समझ में आ जाती है, तो यह काफी है।

लेकिन यहीं से बहुत गंभीर कठिनाइयां शुरू होने लगती हैं।

खोम्स्की (Chomsky) की 'भाषाई क्षमता' अनिवार्यतः अंतस्तल के व्याकरण से जुड़ी हुई है। अंतस्तल के व्याकरण से, क्योंकि वह कहीं अवचेतना में छिपा हुआ है। यह व्याकरण नियमों का एक संचय है, जिनके अनुसार विचाराधीन भाषा में कोई भी वाक्य बनाया जा सकता है। लेकिन क्या बोलने वाला व्यक्ति इन नियमों जानता है? शायद नहीं। इन नियमों को वैज्ञानिकगण ढूंढ़ते हैं, जो विशेष रूप से इस अवचेतन वैयाकरणिक कार्य का अध्ययन करते हैं। तो फिर बोलने वाले को इस व्याकरण के बारे में कम से कम एक अस्पष्ट सहजवृत्तिक ज्ञान अवश्य होना चाहिये? हां, होता है—भाषाविद उत्तर देते हैं।

उनको गलत सिद्ध करने के लिये मनोलोचक लोग प्रयोग शुरू करते हैं। वे भाषाई सक्रियता का अपना प्रतिरूप विकसित करते हैं और उसे सहजवृत्तिक वैयाकरणिक अवधारणाओं के अनुरूप बनाने की कोशिश करते हैं। लेकिन प्रयोगकर्त्ता लाख कोशिश के बावजूद उन वास्तविक नियमों को नहीं ढूंढ़ पाते, जिनका उपयोग आदमी बोलते वक्त करता है, अर्थात् जो मस्तिष्क-कार्य के किसी पक्ष के साथ जुड़े हों (ये नियम हुए मनोलोचनी अर्थ में; भाषाविद इन्हें संक्रियाएं कहते हैं)।

भाषा जानने का अर्थ है नियमों को जानना। नियमों को जानने का अर्थ है भाषा जानना। यह सब तो बहुत सरल है और समझ में आ जाता है। लेकिन इस द्विरुक्ति से यह समझने की कुंजी मिलती है कि वाक् की उत्पत्ति और विशेषकर अनुभूति की प्रयुक्ति कैसी है।

भाषाई क्षमता और अंतस्तलीय व्याकरण की सहायता से भाषा की उत्पत्ति की परिकल्पना पर पिछले समय से बहुत सक्रिय आक्रमण हो रहे हैं। भाषालोचनी विज्ञानों के डाक्टर अ. लेओंतेव लिखते हैं: "...खोम्स्की और उनके स्कूल की रीति से प्राप्त अलग-थलग भाषाओं का अधिकांश वर्णन और कुछ नहीं, उन भाषाओं के बारे में पहले से प्राप्त तथ्यों का ही नये तरीके से पुनर्लेखन है। पता चला कि, उदाहरणार्थ, खोम्स्की की विधि से किसी भाषा के स्वनलोचन का वर्णन

करने के लिये उस भाषा का ज्ञान होना बिल्कुल आवश्यक नहीं है।" अंतस्तलीय व्याकरण की वाक्य उत्पन्न करने की क्षमता का जहां तक सवाल है, तो "...यह क्षमता कोरी सैद्धांतिक ही रह गयी। विदेशी भाषा सीखने में खोम्स्की के प्रतिमान का उपयोग भी असफल रहा, फिर मशीन द्वारा वाक् के विश्लेषण अथवा संश्लेषण में उसके उपयोग का तो कहना ही क्या!" अमरीकी भाषाविद् आर. कैंपवेल और आर. वेल्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि असली बात व्याकरण के अनुपालन में नहीं, संदर्भ और परिस्थितियों के अनुसार शाब्दिक संरचनाएं बनाने की कुशलता में है।

उदाहरण के लिये दो वाक्य देखें: "किसान ने घर बेच दिया, क्योंकि वह गाँव छोड़ कर जा रहा था" और "किसान ने घर बेच दिया, क्योंकि वह बिल्कुल गिर चुका था"। किसी को यह समझने में कठिनाई नहीं होगी कि सर्वनाम 'वह कब किसान के लिये आया है और कब घर के लिये। लेकिन किस आधार पर? आधार यही है कि हम बहुत कुछ जानते हैं। हम जानते हैं कि गाँव छोड़ कर आदमी जाता है, न कि घर; गिरने से तात्पर्य है पुराना होकर, टूट कर गिरना और यह घर के साथ ही संभव है। कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा जानने का मतलब सिर्फ शब्दों और वैयाकरणिक नियमों को रट लेना ही नहीं होता। इससे भी अधिक बहुत कुछ चाहिये। दार्शनिक कहते हैं: भाषा के स्वच्छंद उपयोग का अर्थ है कि परिवेशी दुनिया के बारे में हमारा ज्ञान बहुत विस्तृत है।

तभी तो "कंप्युटर क्या नहीं कर सकते" नामक अपनी पुस्तक में हबर्ट ड्राइफस ने एक सारगर्भित बात लिखी है:

कंप्युटर कितना भी जटिल क्यों न होगा, – चाहे आज, चाहे सौ साल बाद, – आदमी हमेशा उससे इस मुख्य बात में भिन्न रहेगा कि वह एक सजीव, मरणशील और स्वचल शरीर का मालिक है। सिर्फ यह शरीर ही अनुभव कर सकता है कि 'गिरना', 'वेग', 'ऊँचा', 'पहाड़' तथा अन्य हजारों चीजें क्या हैं। अन्य स्थितियों में ये चीजें महज अवधारणाओं के रूप में रहती हैं, जो अन्य अवधारणाओं की सहायता से परिभाषित होती हैं, तथा ये अंतिम अवधारणाएं यथार्थ से और भी दूर होती हैं। "जाके पाँव न फटी बेवाई, ऊ का जाने पीर पराई" कहावत से यह सब चरम शुद्धता के साथ व्यक्त किया गया है। आदमी के प्रति कंप्युटर के संबंध के बारे में और क्या कहा जाये...

भाषाविदों ने इस तथ्य पर भी ध्यान दिया है कि "समझने में शुद्धता तथा सरलता वैसे-वैसे बढ़ती जाती है, जैसे-जैसे वाक्य में शाब्दिक तत्त्व घटते हैं और उसका मूक आधार बढ़ता है"। मूक! यह मूक ज्ञान कहां से आता है?

इसमें कोई संदेह नहीं कि उसे हमारा स्वचल शरीर उत्पन्न करता है: हम जीते हैं और जीने के लिये कोई न कोई काम करते हैं, वस्तुओं को हाथ में लेते हैं, उनका निरीक्षण करते हैं, उनसे कुछ करते हैं, कहीं जाते हैं, कोई मशीन संचालित करते हैं, आदि आदि। लेकिन इन संदेहातीत तथ्यों से कभी-कभी यह निष्कर्ष भी निकाला जाता है कि ज्ञान-संचय सिर्फ शारीरिक कार्यकलापों से ही होता है। उदाहरणार्थ, लिंड्से और नौर्मन लिखते हैं: "कार्यकलाप बच्चों द्वारा अर्जित प्राथमिक ज्ञान का आधार है... यथा, कुत्ते के बारे में उसकी धारणा उसकी चमड़ी से प्राप्त स्पर्श-अनुभूति पर आधारित

हो सकती है, उसे चुटकी काटने पर मजेदार आवाज पर आधारित हो सकती है... भाषा सीखने से पूर्व अनुभूति और पहचान की संरचनाएं सिर्फ उन कार्यकलापों के आधार पर उत्पन्न हो सकती हैं, जिनका बच्चे को अनुभव होता है।"

अंतिम वाक्य भाषा और यांत्रिक, पेशीय कार्य के भगवान मानने का उदाहरण है। 'सिर्फ' शब्द का अर्थ ही क्या है! यदि नेत्रहीन या नेत्रहीन-बधिर बच्चे के विकास की बात चल रही है, तो लेखकगण निश्चय ही ठीक कह रहे हैं। लेकिन नेत्रवान बच्चे में वस्तुओं की प्रथम प्रत्यक्ष धारणाएं दृष्टि के ही आधार पर बनती हैं!

नवजात बच्चे की दृष्टि में 'बेतरतीबी' की बात का विज्ञान कब के खंडन कर चुका है। यदि कुत्ते को ही लें, तो बच्चा पहले उसे देखता है (कभी-कभी तो चित्र में ही या खिलौने के रूप में), और इसके बाद ही मस्तिष्क में उसके दृश्य बिंब और रोओं की अनुभूति के बीच संबंध बन पाता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि बच्चा कभी भी यह नहीं जान पायेगा कि कुत्ते के रोएं कैसे होते हैं, यदि वह उसे स्पर्श नहीं करेगा, सहलायेगा नहीं। लेकिन यह कार्य सार्थक और सचेतन हो (कम से कम कुतुहल शांत करने के लिये ही), इसके लिये जरूरी है कि कार्य का किसी चीज से नेतृत्व हो; यह चीज सबसे पहले दृष्टि ही है। सजीव प्राणी जिन असंख्य अनुभूतियों को प्राप्त करता रहता है, उन्हें दृष्टि ही निश्चित क्रम में निश्चित संबंधों से जोड़ कर रखती है; दृष्टि की सहायता से ही अंश पूर्ण के अंगों के रूप में अभिगृहीत होते हैं और हर वस्तु के लिये आसपास की अन्य वस्तुएं पृष्ठभूमि बन जाती हैं। अंततः, पृष्ठभूमि के ही कारण वस्तुओं

और उनके बिंबों में व्यक्तिगत अर्थ आ पाता है, जो परिस्थितियों द्वारा लंछित होता है: अपनी ओर तनी हुई पिस्तौल देखना एक बात है और संग्रहालय में रखी पिस्तौल को — बिल्कुल दूसरी...

और भाषा की स्थिति क्या है? 1864 में ही ह्युलिंग जेक्सन ने पहली बार यह विचार प्रस्तुत किया था कि दृष्टि से भाषा सीखी जाती है न कि इसके विपरीत। वे मानते थे कि आदमी अचेतन रूप से बिंबों के साथ काम करता है, जिन्हें फिर वाक् में परिणत कर देता है। सचमुच, जब नेत्रहीन-बधिर बच्चों को स्पर्शवर्णमाला सिखायी जाती है, तो वे वस्तुओं तथा मूर्त्तियों को टटोल कर महसूस करते हैं और इस प्रकार उनमें बाह्य जगत के बिंब विरचित होते हैं। लेकिन इसके बावजूद भी, दृश्य बिंबों की अनुपस्थिति में उनकी दुनिया सीमित रह जाती है; इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि वे कितने सारे शब्दों का कितना विस्तृत उपयोग करना जानते हैं।

बात सचमुच ऐसी ही है, इसका प्रमाण है एक पुस्तक "परिवेशी दुनिया की मेरी अनुभूति, धारणाएं और समझ"। इसकी लेखिका ओल्गा स्कोरोखोदोवाया (पी-एच. डी.) नेत्रहीन मूक-बधिर थीं। वे लिखती हैं:

"जब मैं किसी संग्रहालय में होती हूं, तो जो मेरे साथ होता है, किसी चित्र का वर्णन करता है; मैं दिलचस्पी से सुनती हूं, लेकिन कल्पना में चित्र को वैसा नहीं देख पाती जैसा वह वास्तविकता में होता है।

यदि चित्र में ऐसी वस्तुएं अंकित होती हैं, जिन्हें मैं पहले

देखी थी* (जैसे आदमी, जंतु, वृक्ष, पगडंडी, परिचित पक्षी), तो चित्र के बारे में एक सन्निकट धारणा बना लेती हूं। यदि चित्र में सूर्योदय या सूर्यास्त अंकित होता है या विभिन्न भूदृश्य होते हैं, डुबते जहाज के साथ उफनता समुद्र होता है, तो मेरी कल्पना में चित्र बिल्कुल चिकनी सतह की तरह होता है, जैसा मैं उसे छूकर अनुभव करती हूं; सूरज और समुद्र मुझे चित्र से अलग लगते हैं, वैसे ही, जैसा मैं उन्हें प्रकृति में अनुभूत करती हूं: सूरज अपनी किरणों से मुझे गर्मी देता है, समुद्र छींटे उड़ाता हुआ मेरे पैरों पर थपेड़े मारता है; समुद्र की विशेष गंध भी महसूस होने लगती है।

संग्रहालय से निकल कर मैं चित्रों को स्मरण कर सकती हूं; वे मुझे उसी आकार के लगते हैं, जिसे मैंने अनुभूत किया था: कल्पना में शीशा आता है, यदि चित्र पर शीशा मढ़ा होता है, फ्रेम की याद आती है, जो चिकना होता है या उसपर बेल-बूटे उत्कीर्णित होते हैं, लेकिन दृश्य मानस-पटल पर कभी भी नहीं उभरता, सिर्फ उसका वर्णन ही, और कोई अस्पष्ट छाया सी... लेकिन चूँकि मैं उन लोगों की भाषा का उपयोग करती हूं, जो देख सकते हैं, सुन सकते हैं, और चूँकि मैं ललित साहित्य पढ़ा करती हूं, किसी भी चित्र का वर्णन उसी भाषा में, उन्हीं वाक्यों में कर देती हूं, और शायद यह वर्णन नेत्रवान लोगों के वर्णन से बुरा नहीं होता। मेरी बात सुनने वाला आदमी शायद यह विश्वास नहीं कर पाता कि मैंने उस चित्र को कभी भी नहीं देखा है। लेकिन मैं अपनी कृति में सिर्फ सच लिख रही हूं और अपने

*अर्थात् टटोल कर अनुभूत की थी। – वि.दे.

बारे में वह नहीं लिखना चाहती, जो मैंने नहीं देखा है, जिसकी मैं मानस-पटल पर कल्पना नहीं कर सकती हूं"।

वयस्कावस्था में दृष्टि खो देने वाला आदमी परिवेशी दुनिया की कल्पना बिल्कुल दूसरी तरह करता है। "रंग मुझे अच्छी तरह याद हैं। मैं हमेशा उनकी आभाओं के बारे में पूछती हूं – गाढ़ी हैं या हल्की, चमकदार या मलिन। मैं अक्सर अनुरोध करती हूँ कि रंग की तुलना किसी ऐसी वस्तु से करें, जो मुझे तब से याद है, जब मैं देखती थी। फिर काल्पनिक रंग सर के कहीं मध्य में उभरता है। यदि कोशिश करती हूँ, तो वह पलकों के पीछे आ जाता है। प्रूस की पुस्तक में मैंने पढ़ा था कि अंधी लड़की के लिये चेरी सिर्फ गोल और चिकना होता है। मेरे लिये वह गाढ़ा लाल और चमकदार रह गया है। यदि मैं कमरे में होती हूं, तो फर्नीचर देखती हूं, जिसके बारे में मैं जानती हूं कि वह यहां है। मैं खिड़की, दरवाजा और बैठे हुए लोगों को भी देखती हूं... जब मैं घूमने निकलती हूं और मेरा साथी बताता चलता है कि आसपास क्या है, तो मैं उसकी कल्पना कर पाती हूं, जो वह बताता है, लेकिन एकबारगी से नहीं, कुछ समय बाद। मैं किसी सुंदर दृश्य या किसी वस्तु की कल्पना कर सकती हूं, लेकिन किसी मूर्त्ति की तुरंत नहीं कर पाती: मैं उसे टटोलती हूं और इसीलिये उसे सिर्फ खंडों में देख पाती हूं। इन खंडों को जोड़ना पड़ता है। जोड़ने पर वह वास्तविक मूर्त्ति से कितनी निकट होती है, यह कहना मुश्किल होता है। परिप्रेक्ष्य क्या है, यह मैं जानती हूं। जानती हूं कि कतार में पेड़ जैसे-जैसे दूर होते हैं, वे अधिक छोटे और अधिक पास-पास दिखते हैं। इसे मैं कल्पना में

देख सकती हूं। यह मैं कर सकती हूं, लेकिन इसके लिये पहले अपने को आदेश देती हूं, फिर कल्पना करती हूं। लेकिन यदि किसी ऐसी चीज की कल्पना करने की इच्छा होती है, जिसे मैं सचमुच देखी होती हूं, तो टुकड़े जोड़कर उसे बनाने की जरूरत नहीं होती। मैं उसे सर की गहराइयों में कहीं देखती हूं। फिर उसे पलकों के नीचे लाती हुं।"

दृश्य बिंब और उनके शाब्दिक द्योतन आपस में मजबूती से जुड़े होते है, इसका प्रमाण निम्न तथ्य से मिलता है। जब मूक-बधिर बच्चों को उंगलियों से संकेतों की वर्णमाला सिखायी जाती है, तो वे शब्दों का सिर्फ वही अर्थ आत्मसात कर पाते हैं, जो वे देख कर अनुभूत करते हैं। यह देखने और याद कर लेने के बाद कि 'उठाना' का अर्थ है झुक कर फर्श से कुछ उठाना, वे 'हाथ उठाना' जैसे व्यंजन का अर्थ नहीं समझ पाते। यदि घोड़ा उन्हें दिखा दिया जाता है, तो 'बंदुक का घोड़ा' उनकी समझ से बाहर हो जाता है। अनेकार्थकता शब्दों का एक गुण है, जो सामान्य आदमी को भी परेशान कर सकता है। कठिनाई से बचने का एक ही उपाय होता है—या तो चित्र का उपयोग करें, या शब्द चित्र का।

देखिये, एक आदमी क्या बता रहा है: "पहले हम... मतलब... उधर... फिर धीरे-धीरे... और वे वहां पहले से थे... फिर... देखिये... थोड़ा-थोड़ा... ठीक... जैसेकि अभी...?" कुछ समझ पाये? आप तभी समझ पायेंगे, जब जानेंगे कि यह एक सैनिक अपनी कहानी सुना रहा है: कैसे उसे घायल किया गया, कैसे उसकी चिकित्सा हुई। उसके मस्तिष्क का बायां शंख क्षेत्र (कनपटी का क्षेत्र) आक्रांत है। इसका

विशेष तल्पिक लक्षण है: संज्ञाओं का लोप। आदमी एक भी वस्तु को किसी विविक्त प्रतीक से द्योतित नहीं कर पाता। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि बायां निम्न-शंख वल्कुट वस्तुओं के दृश्य-विविक्त बिंब बनाता है और ये निम्न कोटि की विविक्तियां शब्दों से जुड़ कर अधिक उच्च कोटि की विविक्तियों में परिणत हो जाती हैं; इस तरह, बिंब 'दौड़ता घोड़ा' और 'खड़ा घोड़ा' शाब्दिक दृश्य-विविक्ति 'घोड़ा' में परिणत हो जाते हैं, जिसमें सभी प्रकार के घोड़े, उनकी सभी प्रकार की मुद्राएं और सभी बिंदुओं से उनके दृश्य शामिल हो जाते हैं।

बायें शंख क्षेत्र की किसी भी गड़बड़ी से एक और भी लक्षण उत्पन्न होता है: शब्द 'अदृश्य' रह जाते हैं, उनसे कोई छवि नहीं बनती, लिखित या बोलित शब्द और उससे द्योतित वस्तु के दृश्य बिंब के बीच संबंध टूट जाता है (यद्यपि आदमी इन वस्तुओं को देख सकता है; कहने का मतलब यह है कि मूर्त्त, तत्कालीन धारणाएं विकृत नहीं होतीं)। उदाहरणार्थ, रोगी को कार्ड दिखाया जाता है, जिसपर शब्द 'नाक' लिखा है; यह शब्द उसे पढ़ कर सुनाया भी जाता है, फिर उससे यह वस्तु दिखाने को कहा जाता है। उत्तर मिलता है: "नाक... नाग... नास... नाल... नहीं इस शब्द का अर्थ मैं नहीं जानता...।" बायें गोलार्ध में दृश्य-विविक्तियों की अनुपस्थिति के कारण दायें में मूर्त्त बिंब की प्रस्तुति असंभव हो जाती है; यह वही बिंब है, जिसकी सिर्फ आदमी दृश्य रूप में कल्पना कर सकता है।

यह एक विशेष बात है कि अधिक हल्की आक्रांति से इस प्रकार के रोगी अधिक बड़े अंचलों की अवधारणाओं में भेद

करने की क्षमता खो बैठते हैं। इन अंचलो को अर्थपरक क्षेत्र कहते हैं। भाषाविद इस प्रकार शब्द-परिवार निर्धारित करते हैं, ऐसे शब्दों को किसी बहुत विविक्त लक्षण के आधार पर एक समूह में लाते हैं। अर्थपरक क्षेत्र 'घरेलू जानवर' में 'बिल्ली', 'गाय', 'कुत्ता', 'बकरी' आदि बिंब आ जाते हैं। दृष्टि-तंत्र में ये बिंब जटिल लक्षणों द्वारा एक समूह में बंधते हैं। इन लक्षणों के बहुविम अंचलों में प्रवेश द्विभाजक रीति से, अर्थात् 'वृक्ष' के आरेखानुसार होता है। यदि यह 'वृक्ष' क्षत हो जाता है, तो आदमी पड़ोसी 'शाखाओं' पर स्थित कुत्ते और बिल्ली में अंतर नहीं कर पाता। रोगी बताता है कि यह बिल्ली का चित्र है, जबकि उसमें कुत्ता बना होता है; 'वायोलिन' शब्द की जगह वह 'संगीतज्ञ' और 'संगीत समारोह' की जगह 'नाटक' कह बैठता है... भाषा में वैपरित्य दिखाने की प्रक्रिया को भाषाविद् परादर्शन (पैराडिग्म) कहते हैं। वैपरित्य या परादर्शनीय सिद्धांत पर ही अर्थपरक क्षेत्र बनते हैं: जंतु और अजंतु (या पौधे, पादप) घरेलू और जंगली पशु, बड़ा व छोटा, सुंदर व कुरूप...

भाषा की परादर्शनीयता आश्चर्यजनक रूप से दृष्टि-उपकरण के साथ सादृश्य रखती है। दोनों ही स्थितियों में हमें लक्षणों के आधार पर द्विभाजन देखने को मिलता है–विशाखनरत वृक्ष का सिद्धांत। और यदि जेक्सन का विचार सत्य मान लिया जाये, दृष्टि को प्राथमिक और वाक् को द्वितीयक (व्युत्पाद) मान लिया जाये, तो स्पष्ट हो जाता है कि सादृश्य का कारण क्या है: यह बायें शंख वल्कुट में दृश्य बिंब और शब्दपरक बिंब के लिये न्युरोनी उपकरण के बिल्कुल समान आरेख को प्रतिबिंबित करता है।

एक और विशेषता है, जो बहुविम व्योम में 'वृक्ष' के सिद्धांत पर कार्य संपन्न होने की साक्षी देती है। वाक् में घोष और अघोष व्यंजन होते हैं, ह्रस्व और दीर्घ स्वर होते हैं, लेकिन बायें शंख क्षेत्र की आक्रांति से यह परादर्शता (वैपरित्य) नष्ट हो जाती है, आदमी 'बात' और 'पात' में, 'कुल' और 'कूल' में फर्क नहीं कर पाता। जब इयर फोन में उसे 'दा-ता, दा-ता' सुनायी देता है, तो वह 'दा-दा, दा-दा' दुहराता है, लेकिन कहता है कि ध्वनियों में अंतर है। कैसा–यह नहीं बता पाता।

इसीलिये ऐसे रोगियों की चिकित्सा में डाक्टर सबसे पहले दृष्टि-तंत्र पर अभिक्रिया करने की कोशिश करते हैं। यदि वस्तुओं का चित्र बनाने की क्षमता पुनर्स्थापित करने में सफलता मिल जाती है, तो नियमतः शब्द भी पुनर्स्थापित हो जाते हैं, जो यूं लगते हैं कि हमेशा के लिये विस्मृत हो चुके हैं।

लेकिन (यह आगे की बातों के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है!) शंख-क्षेत्रों की आक्रांति में बिंबों के व्यौम लंछक और साथ ही घटनाओं का कालानुक्रम (जिसे समय के दिशाक्ष पर व्यौम क्रम के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है) सुरक्षित रहते हैं। घायल की कहानी स्मरण करें: उसकी असंबद्ध बातों में संज्ञाओं को रखना और घटना-क्रम को समझना कठिन नहीं है। परिस्थितियों के साथ बायां पश्च शीर्ष वल्कुट काम करता है, वह बाह्य जगत के उस प्रतिमान में वस्तुओं की स्थिति प्रतिबिंबित करता है, जो हर आदमी में होता है; उसमें परमाणु से लेकर ब्रह्मांड तक के लिये जगह होती है।

इसीलिये बायें पश्च शीर्ष क्षेत्र की आक्रांति का बहुत विशिष्ट रूप होता है–बायें निम्न शंख वल्कुट की आक्रांति

से ठीक उल्टा। शब्द रह जाते हैं, लेकिन उनके बीच के संबंध लुप्त हो जाते हैं। रोगी को वाक्य पढ़ कर सुनाया जाता है: "वृक्ष की डाली पर चिड़िया का घोसला है।" वह जवाब देता है: "यह क्या है... वृक्ष है, डाली है, चिड़िया है, घोसला है, लेकिन उनमें संबंध क्या है?" उससे पूछा जाता है कि इस तरह के शब्द-समूह वह समझता है या नहीं: "पिता का भाई", "भाई का पिता"। वह जवाब देता है: "भाई... समझता हूं, पिता भी, लेकिन दोनों के बीच 'का' डालने से क्या बनता है, यह समझ में नहीं आ रहा है। उससे कमरे का नक्शा बनाने को कहा जाता है, जिसमें उसकी खाट है। यह एक बहुत ही सरल काम है, स्वस्थ आदमी इसे बहुत आसानी से कर लेता है, लेकिन रोगी के लिये यह बहुत ही कठिन होता है। भौगोलिक मानचित्र को समझने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

बात क्या है? हर भाषा में कारक और उसके चिन्ह होते हैं, विभिन्न प्रकार के अव्यय होते हैं (कभी-कभी वे किसी शब्द के साथ जुड़ जाते हैं), शब्द-क्रम तथा अन्य प्रकार के आपरेटर होते हैं, जिनका काम है सुनने वाले को वस्तुओं के बीच दिक्कालिक (व्योम और कालक्रम-संबंधी) संबंध दर्शाना। 'वृक्ष की डाली' में 'की' निजित्व का भाव दर्शाता है; 'डाली पर' का अर्थ है—घोसला इसी डाली पर है; 'चिड़िया का घोसला' का अर्थ है इस घोसले को चिड़िया ने बनाया है या वह उसमें रह रही है... हमारे-आपके लिये तो यह स्वयंसिद्ध है कि बायां दायां एक नहीं हैं (वैसे, बिना क्षण भर सोचे 'बायें घूम' आदेश का पालन करना कई लोग सिर्फ सैनिक-सेवा में ही सीखते हैं), हम ऊपर-नीचे, पीछे, आदि में भी सरलता से अंतर कर लेते हैं, 'भाई को सौ रूबल दिये' 'कात्या का रंग सोन्या से साफ है' जैसे वाक्यों से कभी चकराते नहीं हैं। लेकिन बायें शीर्ष क्षेत्र की आक्रांति वाले रोगी के लिये यह सब समझ से बाहर हो जाता है: उसमें विविक्त व्यौम आपरेटर निष्क्रिय हो जाते हैं...

लेकिन बायां निम्न शंख वल्कुट पहले की तरह वस्तुओं के बिंबों की विविक्ति प्राप्त करता रहता है, 'लक्षण-वृक्ष' के आरेख पर खोज का तंत्र काम करता रहता है। इसीलिये डाक्टर द्वारा दिखाये चित्रों की वस्तुओं का नाम बताने में रोगी कोई गलती नहीं करता। आक्रांत पश्च क्षेत्र वाला रोगी वृत्त और वर्ग को अच्छी तरह समझता है, चित्रों के ढेर में से उन्हें अलग भी कर लेता है, लेकिन यह नहीं बता पाता कि वृत्त वर्ग पर है या उसके नीचे। इसका मतलब है कि आपरेटर-लक्षण क्षत हैं। घड़ी देख कर समय बता पाना भी असंभव हो जाता है: सूइयों की पारस्परिक स्थिति समझ में नहीं आती। संख्याएं 1012 और 2110 एक जैसी लगती हैं, क्योंकि इकाई, दहाई आदि श्रेणियों की समझ नहीं रह जाती। जटिल व्याकरणिक रचना (वाक्य), जिसमें व्योम में वस्तुओं के क्रम का विश्लेषण करना पड़ता है (जैसे "जंगल में उगे पेड़ को लकड़हारा जिस कुल्हाड़ी से काटता है, भोथा हो गया है"), रोगी महसूस नहीं कर पाता, लेकिन उन्हीं शब्दों से बना सरल वाक्य—"लकड़हारा वृक्ष काटता है"—वह समझ लेता है। उससे कहिये: "पेंसिल और कलम दीजिये", वह तुरंत दे देगा। लेकिन "पेंसिल से कलम दिखाइये" जैसा आदेश वह पूरा नहीं कर पाता।

दायें गोलार्ध का शीर्ष वल्कुट आक्रांत होने पर मूर्त उप-

बिंबों के बीच व्यौम संबंधों की प्रयुक्ति के अनुपस्थित होने के कारण आँख जो वस्तु देखती है, उसका पूर्ण बिंब नहीं बन पाता। खंड दिखते हैं, लेकिन बायें गोलार्ध में जटिल लक्षणों की विरचना क्षत हो जाती है (मेलिन के कथनानुसार, जैसाकि आपको याद होगा, मूर्त्त बिंब को दायें से बायें गोलार्ध में आना चाहिये), शब्दों में प्राप्त उत्तर सांयोगिक और अंदाजी-टक्कर का लगता है। पैर ऊपर किये हुए बाजीगर की तस्वीर देख कर रोगी कहता है: "यह बत्तख है!" लंबी डंठल से लटका हुआ सेब उसे हत्थे वाला तसला लगता है। वाक् अपने-आप में क्षत नहीं होता है: दृश्य रूप में किसी चीज की कल्पना करने का हर प्रयास बिल्कुल असफल रहता है। "जो रोगिणी बहुत अच्छी तरह समझा सकती थी कि वार्ड से प्रयोगशाला में कैसे जाया जाता है, उस गलियारे को याद नहीं कर पाती थी, जिसे वह कई बार पार कर चुकी थी। कमरे को वह मूर्त्त व्यौम बिंब के आधार पर नहीं, शब्दों में वर्णनीय अलग-थलग लक्षणों के ही आधार पर पहचान पाती थी (जैसे, प्रयोगशाला को काँच की आलमारी में रखे लाल फाइल के आधार पर, अपने वार्ड को—उसके नंबर के आधार पर, आदि)।" खंड जुड़ कर पूर्ण बिंब नहीं बना पाते थे।

दायें निम्न शंख वल्कुट की क्षति से, जैसाकि बताया जा चुका है (खंडों को पहचानने की क्षमता खत्म होने के कारण) दायें गोलार्ध में पूर्ण मूर्त्त दृश्य बिंब बनना बंद हो जाता है। वस्तुओं के प्रति गंभीर अज्ञानक्लेश से ग्रस्त रोगी जगत के अभिज्ञान का काम व्यौम संबंधों के चैनेल की सहायता से शुरू कर देता है। इसका मतलब है कि वह पहचानने का काम

भारी गलतियों के साथ, सन्निकट रूप से करने लगता है। लेकिन चूँकि इस तरह की गड़बड़ी अक्सर अधेड़ अवस्था में उत्पन्न होती है, आदमी धीरे-धीरे कई वर्षों के दौरान अपनी इस असाधारण अनुभूति के प्रति इतनी सूक्ष्मता से अपने को अनुकूलित कर लेता है कि उसकी प्रयोग के वक्त दिखी गलतियां विशेषज्ञों को भी बहानेबाजी लगती है।

यह विचार कि दायां गोलार्ध मुख्यत: जगत को मूर्त्त रूप में अभिग्रहण करता है और बायां गोलार्ध विविक्त रूप में, कई बार प्रस्तावित हो चुका है। लेकिन ये बातें एक सर्वसामान्य रूप में ही कही जाती थीं। हर गोलार्ध के पश्च शीर्ष तथा निम्न शंख वल्कुटों और उनके पारस्परिक संबंधों की भूमिका के बारे में ग्लेजेर की परिकल्पना को मस्तिष्क के कार्य को समझने में एक नया कदम माना जा सकता है। सबसे मुख्य बात तो यह है कि यह परिकल्पना निम्न तथ्य को पहली बार दर्शा रही है: दृष्टि और वाक् के आपसी संबंध दो भिन्न कार्यों के सांयोगिक संपातन को नहीं, वरन् दो मस्तिष्कीय प्रयुक्तियों के गहरे एकत्व को प्रतिबिंबित करते हैं।

और किसी भी सुस्थापित परिकल्पना की भाँति वह अन्वीक्षकों को प्रयोगों की नयी दिशाएं दिखाती है, पहले समझ में न आने वाले तथ्यों की व्याख्या प्रस्तुत करती है।

एक समय था, जब दृष्टि और वाक् को परस्पर विपरीत माना जाता था (इसकी गूंज अब भी सुनने को मिल जाती है); दृष्टि को भोली-भाली चीज मानते थे, जिसमें वस्तुओं के गहन सार को 'समझने' की क्षमता नहीं होती (उसके प्रति हंबोल्ट के विचारों को ही स्मरण कर लीजिये), और वाक् को अतुलनीय उच्च स्थान दिया जाता था। अब यह

बात दार्शनिक लोग उतने विश्वास के साथ नहीं कह पाते। वे शब्दपरक तार्किक चिंतन को तो आवश्यक महत्त्व देते ही हैं, साथ-साथ दृश्यसुगम बिंबात्मक चिंतन की भी उपेक्षा नहीं करते; इसी तरह वे अब सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक, अंतर्दृष्टिक एवं वैश्लेषिक, बहिर्मुखी (बाह्य जगत को निर्दिष्ट) एवं अंतर्मुखी (अपने ही व्यक्तित्व को निर्दिष्ट), फलप्रद एवं फलहीन, ऐच्छिक एवं अनैच्छिक ज्ञान को भी उचित श्रेय देने लगे हैं। हमारी दिलचस्पी दृश्यसुगम बिंबपरक चिंतन और उसके साथ शब्दपरक तार्किक चिंतन के संबंधों में है। देखिये कि प्रयोग क्या निष्कर्ष देता है। यदि हमें मन में हल करने के लिये एक प्रश्न दिया जायेगा: "एलिस मेरी से ऊँची है, एल्सी मेरी से नीची है, तो क्या एलिस एल्सी से ऊँची है?"—तो हम मानस-पटल पर इन बच्चियों का चित्र अंकित कर के देखने लगेंगे कि उत्तर कैसा हो।

दृश्य बिंबों के प्रति उन वैज्ञानिकों का रुख और भी दिलचस्प है, जिनका काम बाह्यतः सिर्फ शब्दों और प्रतीकों के साथ होता है। मेरा तात्पर्य है सैद्धांतिक भौतिकविदों से। वे ऐसे जगत का अध्ययन करते हैं, जो ऐसी विविक्तियों का संकुल बन कर रह गया है, जिन्हें ज्ञानेंद्रियों से अनुभूत नहीं किया जा सकता। अकादमीशियन व्लादीमिर फोक ने 1936 में ही लिखा था: "नये सिद्धांत (क्वांटमी यांत्रिकी —वि. दे.) को दृश्यसुगमता की अनुपस्थिति का उलाहना दिया जाता है। लेकिन वास्तव में होना भी यही चाहिये। दृश्यसुगम हम उसे कहते हैं, जो हमारे दैनंदिन अनुभवों से प्राप्त धारणाओं के अनुरूप होता है; सच पूछें तो वह ऐसी वस्तुओं

से संबंधित होता है, जो बहुत छोटा न हो, जिसे हाथ में लिया जा सके... जाहिर है कि यदि हम अधिक सूक्ष्म पैमाने पर पहुँचेंगे या परमाणुओं की दुनिया में प्रवेश करेंगे, तो हमें वहां दूसरे नियम मिलेंगे, जो दूसरे पैमाने की दुनिया के लिये सही होंगे।" लगता था कि दृश्यसुगमता के सिद्धांत का निषेध कर के गणितीय विविक्तियों के साथ काम करने के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं है। बात ठीक भी है: प्राथमिक कणों की दुनिया की दृश्य-कल्पना कैसे की जा सकती है, जिसमें हरेक कण साथ-साथ तरंग भी है?

लेकिन आशा के विपरीत भौतिकविद अदृश्य संवृत्तियों और वस्तुओं का दृश्यसुगम प्रतिमान ढूंढ़ते ही जाते हैं, जिन्हें हाथ से भी छूआ जा सकता है। इसके बिना, जैसा कि बाद में स्पष्ट हुआ, विशेषज्ञों के बीच आपसी समझ नहीं पैदा हो सकती, उनकी बुद्धिमत्ता समान होने पर भी नहीं; छात्रों की तो बात ही छोड़ दीजिये। जब मैक्सवेल विद्युचुंबकीय क्षेत्र का अपना सिद्धांत रच रहे थे, तो उन्होंने उसे निम्न तुलना से अधिक दृश्यसुगम बनाया था: उन्होंने कल्पना की कि सारा ब्रह्मांड आपस में फँसे हुए दंतिचक्रों से भरा हुआ है, जैसा कि घड़ी में होता है। इससे यह समझाया जा सकता था कि पिंडों के बीच शून्य माध्यम से कैसे व्यतिक्रिया (आपसी क्रिया) हो सकती है। यह स्थूल, लेकिन दृश्यसुगम प्रतिमान नयी असामान्य वस्तुओं की अनुभूति के लिये चिंतन-क्रिया को पुनर्गठित करने में सहायक हुआ। सोवियत भौतिकविद दार्शनिक और अकादमीशियन मोइसेई मार्कोव ने लिखा है कि आधुनिक भौतिकी के प्रतिमान पुराने 'यांत्रिक' भौतिकी से इस बात में भिन्न हैं कि पुराने प्रतिमान वास्तविकता के

लघु रूप हुआ करते थे, एक तरह से 'काजकर प्रतिमान' हुआ करते थे। आज के दृश्यसुगम प्रतिमान 'काजकर' नहीं होते, फिर भी अपना काम कर जाते हैं। वे सूक्ष्म जगत नामक जटिल संवृत्ति के किसी एक पक्ष के लिये दृष्टांत की भूमिका निभाते हैं, क्योंकि स्थूल जगत की सामग्रियों से इस सूक्ष्म जगत का निर्माण सिद्धांततः असंभव है, जिसे हम न देख सकते हैं, न छू सकते हैं। इसीलिये भौतिकविद कई प्रतिमान रचता है, जो सूक्ष्म जगत के किसी एक पक्ष को उजागर करता है, फिर उन्हें एक में मिलाता है।

इसीलिये यदि वाक् को विविक्त चिंतन का औजार कहते हैं (जो सही भी है), तो दृष्टि को 'वस्तुपरक मूर्त्त चिंतन' कहना गलत न होगा – यह ग्लेजेर का निष्कर्ष है, जिसे उन्होंने अपनी अंतिम पुस्तक "दृष्टि और चिंतन" में व्यक्त किया है। अधिकांश विचार मैंने इसी पुस्तक से ग्रहण किये हैं। सचमुच, आँख से किसी दृश्य की अनुभूति करने और कान से उसका वर्णन सुनकर उसे अनुभूत करने के बीच कई साम्यताएं हैं। मस्तिष्क में दृश्य बिंब के लिये उपबिंबों के आपसी व्यौम संबंधों के विकल्प बहुत ही कम होते हैं (देखने में यदा-कदा ही सही, लेकिन गलती तो हम कर ही बैठते हैं और यही विकल्पों की विविधता का प्रमाण है)। ठीक इसी तरह वाक् के लिये भी शब्दों के क्रम को व्याकरण, संदर्भ और बात करने वाले साथी के इरादे से मेल खिलाने वाले रास्तों की संख्या बहुत सीमित है (व्याकरण आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना वाक्य का सार नहीं समझा जा सकता; साथी के इरादे से तात्पर्य है – जगत का कैसा चित्र उसे चाहिये)।

लेकिन किसी दृश्य की मानसिक कल्पना करना और कोई वाक्य लिखना (या बोलना) बिल्कुल दूसरी प्रक्रियाए हैं (यद्यपि आपस में साम्यता रखती हैं)। चेतना में किसी परिस्थिति को दृश्य रूप में पुनर्स्थापित करते वक्त हम उसके (परिस्थिति के) तत्त्वों को चुन-चुन कर जोड़ते हैं। ये तत्त्व बिल्कुल गाल्पनिक (कल्पनातीत) भी हो सकते हैं; इतना ही काफी है कि वे हमारे उद्देश्य की पूर्त्ति करें। ठीक इसी तरह वाक्य बनाते समय हमारे सामने शब्दों तथा व्याकरणिक साधनों को चुनने के लिये अत्यंत विस्तृत क्षेत्र होता है। आर्नहाइम इसी के बारे में लिखते हैं: "चूँकि लेखक की सामग्री कोई यथार्थ वस्तु नहीं होती, जिसे ज्ञानेंद्रिय अनुभूत कर सके, चूँकि वह सिर्फ इस अवधारणा का नाम है, इसलिये लेखक बिल्कुल भिन्न स्रोतों से प्राप्त तत्त्वों के मेल से अपने बिंब बना सकता है। उसे इस बात की चिंता नहीं होती कि यह मेल भौतिक जगत में संभव है या नहीं, कम से कम कल्पना में ही।" उदाहरण ढूंढ़ने के लिये दूर जाने की जरूरत नहीं है, परिकथाओं से सभी परिचित होंगे। "सोने की मछली" ही ले लीजिये – वह आदमी की तरह बोलती है, कोई भी इच्छा पूरी करने की सामर्थ्य रखती है...

परिकथा जैसी कृतियों की रचना के लिये लक्षणों के स्वैच्छिक संमेल की रीति अपनायी जाती है, यद्यपि इसमें भी स्वैच्छिक संमेल अंतिम उद्देश्यों और उद्दीपित होने वाले दृश्य बिंबों व शाब्दिक अनुसृतियों की ही सीमा में संभव है।

यहां एक परिकल्पना प्रस्तुत करने की इच्छा होती है: कहीं दृश्य बिंबों की सहायता से चिंतन और 'आंतरिक वाक्' की सहायता से चिंतन आपस में संबद्ध तो नहीं हैं? आंत-

रिक वाक् की अवधारणा 4-थे दशक में लेव विगोत्स्की ने प्रस्तुत की थी, जिन्हें अनेक आधुनिक वैज्ञानिक 'मनोलोचन का मोट्सार्ट' कहते हैं।* उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द 'वाक्' के कारण कुछ लोग यह समझ बैठे कि आंतरिक वाक् ध्वनि-हीन बोली है, जो हम मन ही मन अपने से बोलते रहते हैं। व्याख्या का खंडन विगोत्स्की के निकटतम मित्र और समर्थक अलेक्सांद्र लूरिया ने किया। उन्होंने भाषाविदों और मनोलोचकों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि इस तरह का वाक् "विचार से भी भिन्न होता है और बाह्य वाक् से भी"।

सचमुच, प्रयोगाधीन लोग अपना चिंतन-क्रम प्रकट करने के लिये जो भी शब्द उच्चरित करते हैं, वे सामान्य बात-चीत से बहुत भिन्न होते हैं। शतरंज का प्रश्न हल करने वाला आदमी इस तरह नहीं बोलता: "मैं देख रहा हूं कि घर c3 का हाथी घर b6 पर जा सकता है और इसके बाद..." वास्तविक टेप-रिकार्ड यूं है: "हुंह! यदि हाथी चला जाये... b6 पर, हाथी b6 पर... मजा आ गया, घर c7 घिर गया... मात किससे दें... मात किससे दें... यह रहा! यदि ऐसा किया जाये...", इत्यादि। ये शब्द क्या प्रतिबिंबित करते हैं? निश्चय ही चिंतन-प्रक्रिया को। लेकिन वे आंतरिक वाक् नहीं हैं, क्योंकि उच्चरित हैं; संभव है कि वे बाह्य

---

*मोट्सार्ट (Mozart 1756-91) आस्ट्रिया के एक बहुमुखी प्रतिभाशाली संगीतकार थे, जिनकी मृत्यु बहुत कम उम्र में हो गयी थी। उनकी सभी कृतियां अमर हो चुकी हैं। – अनु.

वाक् ही हैं, "व्याकरण की दृष्टि से रूपहीन" ही सही (लूरिया के शब्दों में)। लेकिन विचार कहां है? विगोत्स्की ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात की ओर ध्यान दिलायी थी: विचार किसी अन्य विचार से नहीं उत्पन्न होता, वह हमारी चेतना के अभिप्रेरक मंडल से उत्पन्न होता है, जिसमें हमारी रुझानें और आवश्यकताएं, हमारे हित और अभिलाषाएं, हमारे रागानुराग और हमारी भावनाएं शामिल होती हैं।" मतलब कि विचार कार्यकलापों से उत्पन्न होता है, किसी न किसी हद तक वास्तविकता के साथ टक्कर और इस वास्त-विकता को हमारी अपनी आवश्यकताओं, इच्छाओं और हितों के अनुसार बदलने की अनिवार्यता से उत्पन्न होता है। और इस वास्तविकता का 90 प्रतिशत अंश हमारे मस्तिष्क में दृष्टि-उपकरण से प्रेषित सूचनाओं द्वारा प्रतिबिंबित होता है। जब प्रयोगाधीन व्यक्ति शतरंज का प्रश्न मन ही मन हल करता है, मन ही मन गोटियों को खिसकाता है, तो इसका क्या अर्थ है? वह प्रश्न-चित्र पर प्रस्तुत प्रतिमान (शतरंज पर गोटियों की दी हुई स्थिति) को एक अन्य प्रतिमान में परिणत करता है, जो उतना ही दृश्य प्रतिरूप है; लेकिन इस नये प्रतिमान में नये गुण हैं: वह शत्रु राजा के लिये मात की स्थिति है। ऐसी स्थिति की आवश्यकता मस्तिष्क पर उद्दीपक प्रभाव डालता है, उसे चिंतन-कार्य के लिये विवश करता है, और वह शतरंज पर मोहरों की स्थिति रूपांतरित करने लगता है (समय-समय पर मस्तिष्क में नये-नये फोटोग्राफिक चित्र उत्पन्न होने लगते हैं; यह बात दूसरी है कि वे हमेशा स्पष्ट और चेतन नहीं होते)। रूपांतरण की यही प्रक्रिया 'व्याकरणिक रूपहीन' वाक् बनकर बाहर

निकलती रहती है, जो वर्त्तमान दृश्य प्रतिमान के भावी वांछित प्रतिमान में रूपांतरण को प्रतिबिंबित करता है। यहां संबद्ध कथनों की आवश्यकता नहीं पड़ती: शब्द के नक्शे पर चंद झंडे हैं, जिन्हें समर-योजना बनाने वाले ने चंद केंद्रीय स्थलों को दर्शाने के लिये रख रखा है, ताकि सोचने में उसे अधिक शक्ति नहीं व्यय करनी पड़े। (सोचने में शक्ति-व्यय को लेकर जब जंतिकीविद एवं मनोलोचक फ्रेंसिस हाल्टन से पूछा गया कि उनके विचारों में गति कैसे आती है, तो उन्होंने निम्न उत्तर दिया: "अक्सर ऐसा होता है कि कठोर श्रम से कोई स्पष्ट और संतोषजनक परिणाम प्राप्त करता हूं और उसे शब्दों में व्यक्त करना चाहता हूं, लेकिन तब मुझे अपने को बिल्कुल किसी दूसरे प्रकार के बौद्धिक कार्य के लिये समंजित करना पड़ता है... मेरे जीवन के सबसे बुरे क्षण ये ही हैं।")

आदमी अक्सर दृश्य स्थितियों (अर्थात् दृश्य बिंबों से बनी स्थितियों) के माध्यम से सोचता है और सिर्फ बाद में उन्हें शब्दों का रूप देता है—यह एक तथ्य है जिससे अनुवादकों के कार्य के अनेक विरोधाभास समझाये जा सकते हैं, जिनमें इन चालिकीविदों की असफलता भी आती है, जो दो दशक पूर्व सचमुच यही सोचते थे कि अनुवाद करने वाले कंप्यूटर बहुत शीघ्र बन जायेंगे। मुझे पता है कि ऐसे प्रोग्राम रचे जा जुके हैं, जिनकी सहायता से कंप्यूटर "एक घंटे में हजार शब्द 92 प्रतिशत की शुद्धता से अनुवाद कर लेता है" (यह अंग्रेजी पत्रिका "इंटरनेशनल मैनेजमेंट", अक्टूबर 1984 की खबर है)। लेकिन ऐसे अनुवाद पर बाद में 'पालिश चढ़ाना' पड़ता है: करीब हर पाँचवे शब्द को या उसके व्याकरणिक

रूप को बदल देना पड़ता है। और यह भी ललित साहित्य नहीं, शुद्ध तकनीकी साहिय के अनुवाद में, जिनमें विषय, शब्द भंडार, व्याकरणिक सरचनायें, अर्थात वाक्य के प्रकार बहुत ही सीमित होते हैं। इसके अतिरिक्त, पालिश करने वाले व्यक्ति को विषय का बहुत अच्छा ज्ञान होना चाहिये, अन्यथा अनेक भूलें रह जा सकती हैं।

कारण क्या है? एलेक्ट्रोनी मस्तिष्क के पास अभी दृश्य कल्पना नहीं है, वह विविक्त शब्दों को मूर्त्त चित्रों में नहीं बदल पाता और फिर उन्हें वापस विविक्त रूप में, दूसरी भाषा के शब्दों में परिणत नहीं कर पाता। अनुभवी दुभाषिये यही करते हैं, फिर भी उनके बारे में अक्सर लोग चुटकी लेते हैं: वे यह नहीं समझते कि बात किस चीज के बारे में हो रही है। अनुवादक क्या, अपने किसी परिचित से ही पूछ कर देख लीजिये: "निर्जन द्वीप पर दो सप्ताह बिताने के लिये अपने साथ क्या क्या ले जाओगे?" मैं दावा करता हूं कि उसकी आँखों के सामने घर के सामान नाचने लगेंगे... जापानी नर्वमनोलोचकों ने प्रयोगाधीन व्यक्तियों से जापान के बड़े शहरों का नाम गिनाने को कहा। शुरू में तो वे फटाफट बताते गये, लेकिन बाद में चाल धीमी पड़ गयी, नाम अटक-अटक कर निकलने लगे। उन्हें सलाह दी गयी कि वे "मान-चित्र की कल्पना करें"। इसके बाद उत्तरों की गति ठीक हो गयी, क्योंकि खोज को व्यौम आरेख सरल और स्पष्ट कर देता है।

खैर, अनुवादकों की ओर लौटें। उन्हें प्राकृतिक भाषाओं का एक मुख्य गुण पता होता है। यह गुण है लचीलापन: शब्द 'विवृत' (खुले) संचियों को द्योतित करते है, जिनके

अर्थ स्थिर नहीं होते। प्राकृतिक भाषाएं पूर्णतया तर्कसंगत कृत्रिम भाषाओं से इसी बात में भिन्न होती हैं, जो कठोरता से विधानित संवृत्तियों और प्रक्रियाओं के वर्णन में प्रयुक्त होती हैं। आदर्श कृत्रिम भाषा निम्न सिद्धांत पर बनायी जाती है: "हर संवृत्ति के लिये एक प्रतीक (या संकेत चिन्ह, या द्योतन) और हर प्रतीक के लिये एक संवृत्ति"। ऐसी भाषाओं के रचेता इस सिद्धांत के पालन में अपनी सारी शक्ति व्यय कर देते हैं, जिससे उनकी रचना बहुत ही विधानित (कठोर नियमों में बंधी) तथा बोरिंग हो जाती है। प्राकृतिक भाषाएं शब्दों का प्रयोग अधिक स्वच्छंदता से करती हैं। शब्द 'व्यवस्था' के करीब दसियों अर्थ हो सकते हैं, शब्द 'बनाना' के – इससे भी अधिक। भाषाविद ऐसी स्थिति में कहते हैं कि शब्द का अर्थ संदर्भ से प्रभावित होता है: 'कारखाने की व्यवस्था' और 'यह भी अच्छी व्यवस्था है कारखाने की' – इन दो व्यंजनों में 'व्यवस्था' का अर्थ एक जैसा नहीं है। कारण यह है कि कोई भी शब्द अन्य शब्दों के ही नहीं, बल्कि इनसे द्योतित दृश्य-बिंबों के भी विस्तृत चित्र के साथ जुड़ जाता है (इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि ये बिंब अक्सर बहुत अस्पष्ट महसूस होते हैं)।

लेकिन साथ-साथ वाक् और दृश्य बिंब के पारस्परिक संबंध बहुत निकट के हैं और बहुविध हैं (यह याद दिलाना व्यर्थ नहीं होगा कि आधुनिक मनोलोचन बिंब का प्रयोग निम्न अर्थ में करते हैं: "जीव द्वारा अपने और जगत के बारे में, जिसमें वे जीते हैं, सारा संचित और सुसंगठित ज्ञान"; "यह ज्ञान कोरे चित्र से कहीं अधिक विस्तृत होता है")। विगोत्स्की ने लिखा है: वाक् बच्चे को प्रत्यक्ष मनोछाप से

मुक्त करता है, वस्तु के बारे में उसकी धारणा के विरचन में सहायक होता है, जिस वस्तु को बच्चा कभी देखा नहीं होता है, उसकी कल्पना करने और उसके बारे में सोचने की क्षमता प्रदान करता है।" तब एक प्रश्न रखें: यदि बच्चा या बड़ा कोई ऐसा शब्द सुने, जिसका उसके दृश्य अनुभवों के साथ अबतक कोई संबंध नहीं बन पाया है, तो क्या होगा?

ज्ञात होता है कि ऐसी स्थिति में आदमी सिर्फ ध्वनि के आधार पर स्वच्छंद कल्पना शुरू कर देता है, वह उन बिंबों और रागों (भावनाओं) की खोज करने लगता है, जो प्रदत्त शब्द में ध्वनियों से प्राप्त होते हैं (स्वन-अनुसृति)। उदाहरणार्थ, जो लोग शब्दकोश उलटना अक्सर पसंद नहीं करते (अफसोस कि ऐसे लोगों की कमी नहीं है...) वे पूरी ईमानदारी से यह सोच बैठते हैं कि 'लिबरल' कुछ लिबलिबा-सा होता है; 'लाबुकी'* लंगड़ी है, लबार है, लबालब है, या लबेद-सी कोई चीज है... इसीलिये भाषा सीखने का अर्थ होता है नये बिंबों, नये रूपों, नयी व्यौम धारणाओं की दृश्य-शिक्षा ग्रहण करना। इससे इन्कार करने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार की शिक्षा शब्दों के माध्यम से भी प्राप्त की जा सकती है, यदि ये शब्द ललित साहित्य की कृति के रूप में किसी अनुभवी लेखक द्वारा क्रमबद्ध किये गये हैं।

यह प्रश्न का एक पक्ष है। दूसरा पक्ष है कि दृश्य बिंब से संबंधित शब्द उसके साथ एक अत्यंत महत्वपूर्ण संक्रिया करता है – उसे गौण विशिष्टताओं और छोटे, गौण विवरणों

---

*लाबुकी (संस्कृत): एक प्रकार की सारंगी। – अनु.

से मुक्त कर देता है। शब्द 'घर' में सभी घर समाविष्ट हो जाते हैं – जो पहले कभी हुए थे, जो हैं और जो होंगे। लेकिन इस तरह का व्यापकीकरण क्षण भर में नहीं वरन् समय के लंबे अंतरालों में संपन्न होता है। कभी-कभी तो सहस्राब्दियां बीत जाती हैं। यूरोपवासियों से भाषाई विविक्ति के कुछ भिन्न स्तर पर स्थित चंद जनजातियों की भाषाओं में गणवाचक (समूहवाचक; एक, दो, तीन आदि) संख्याओं के तीस से अधिक प्रकार हैं (यह नृलोचक ये. क्रेइनोविच ने साखालीन और अमूर नदी के निचले भाग पर रहने वाली जनजाति निव्ख के अध्ययन से निर्धारित किया है)। एक प्रकार की संख्याएं गोल नन्ही वस्तुओं – गोलियों, छर्रों, अंडों, बूंदों आदि – को गिनने में प्रयुक्त होती हैं, दूसरे प्रकार की – लंबी वस्तुओं को (जैसे पेड़, बाल, सड़कें आदि) तीसरे प्रकार की – पतली चौरस वस्तुओं को, जैसे कागज, कंबल, चादर आदि। चौथे प्रकार की संख्याएं जोड़ियों में आने वाली वस्तुओं को गिनने में प्रयुक्त होती हैं, जैसे – जूते, चप्पू, आँखें। जाल गिनने के लिये अलग प्रकार की संख्याएं हैं, नौकाओं के लिये अलग, झोपड़ियों के लिये अलग...

लेकिन विचित्र बात तो यह है कि अंडों और बूंदों को गिनने के लिये इकाइयों का काम कुल्हाड़ियां करती हैं! अंडों की ऐसी गिनती की कल्पना करें – एक कुल्हाड़ी, दो कुल्हाड़ी, आदि। ऐसा क्यों? वैज्ञानिकों का मत है कि ये आधुनिक कुल्हाड़ियां नहीं, बल्कि 'प्रस्तर-युग' की 'अंडाकार कुल्हाड़ियां' हैं; नीव्खों की गणवाचक संख्याओं में 'प्रस्तर-युग के लोगों द्वारा बनाया हुआ वस्तुओं का एक प्राचीनतम वर्गीकरण' अंकित रह गया है। यदि यह सत्य है, तो निम्न

मान्यता को एक और प्रमाण मिल जाता है: गणवाचक संख्याएं चरम विविक्त अवधारणाएं हैं, जो बिल्कुल मूर्त्त दृश्य वस्तुओं के आधार पर उत्पन्न हुई हैं।

मानव-जाति ने सहस्राब्दियों के दौरान शब्द की विराट अनेकार्थकता को आत्मसात किया है। हमारे युग में पृथ्वी दूरदर्शन-केंद्रों के सघन जाल से ढक गयी है, जिनका प्रसारण करोड़ों-करोड़ लोग देखते हैं। इनमें लाखों विडिओ टेपरिकार्डरों को भी शामिल कर लें। इसीलिये कुछ लोगों के मन में एक विचित्र विचार उत्पन्न होने लगा है: क्या सूचना के प्रेषण और संरक्षण के लिये शब्दों की जगह अब दृश्य चित्रों के उपयोग का समय नहीं आ गया है?..

एक बार "लितेरातुर्नाया गाजेता" (साहित्य-समाचार) नामक साप्ताहिक अखबार ने सार्वजनिक विवाद के लिये एक उन्नीस वर्षीय छात्र का पत्र छापा। (विवाद पता नहीं क्यों, चला नहीं।)

पत्र-लेखक के लिये किताबें 'गुजरे जमाने की चीज' हो चुकी थीं, वे आधुनिक नहीं रह गयी थीं: "सूचनाओं के नये साधन उत्पन्न हो चुके हैं, जो किताबों से बेहतर हैं...." इत्यादि। इसीलिये निम्न प्रस्ताव दिये गये थे: सारे उत्कृष्ट साहित्य की फिल्में बना ली जायें, "क्योंकि ये अधिक याद रहती हैं और अधिक प्रभावशाली होती हैं – चित्रों, ध्वनि और रंगों के कारण। पुस्तक के प्रति इस नापसंदगी का कारण है अधिक समय बचाने की इच्छा: "मेरे पास तो पढ़ने के लिये समय होता ही नहीं है, और किसके पास है, मैं नहीं जानता", "पढ़ने में पाँच गुना अधिक समय लगता है, बनिस्बत कि टेलीवीजन पर देखने में", "शामों को किताबें लेकर

बैठना आज के युग में किसके वश की बात है" – ये सारे उद्धरण उसी पत्र से लिये गये हैं। (सच पूछिये, तो यहां एक पुरानी फ्रांसीसी फिल्म "वे पाँचों" के पात्र मार्क्विस की याद आती है, जो युद्ध में अपने साथियों के यह पूछने पर कि वह युद्धपूर्व क्या करता था, जवाब देता था : "कुछ नहीं; लेकिन इसमें बहुत समय लगता था ...")

यदि अतिरिक्त समय की बात छोड़ दें, क्योंकि विडिओ-फिल्म देखने में भी समय लगता है, तो हमारे जीवन में सूचनाओं के इस शक्तिशाली दृश्य-चैनेल की लाभ-हानी के बारे में तो बात करनी ही पड़ेगी। इससे लाभ तो सभी जानते हैं : अनुभूति, रागों और स्मृति पर बहुघटकीय अभिक्रिया; घटनाओं को आँखों से देखना; कम समय में अधिक सूचनाएं.. लेओनार्दो दे वींची साहित्यकारों से कहा करते थे : "चित्रकार जो तुलिका से तुम्हारे सामने प्रस्तुत करेगा, उसका वर्णन करते-करते तुम्हारी कलम घिस जायेगी।" टेलीवीजन के बारे में वे न जाने क्या कहते ? फिर भी ...

नौसिखुआ पटकथा-लेखक भी जानता है कि नन्ही-सी कथा में भी लेखक जो कुछ दिखाता है उसे पर्दे पर पूर्णतया नहीं उतारा जा सकता। उपन्यास की तो बात ही दूर है। ऐसी कृतियां भी हैं, जिनका सिनेकरण बिल्कुल संभव नहीं होता। इसीलिये सिनेकरण सदा एक नयी कृति की सृष्टि है, जिसमें 'स्वराघात' सदा ही बदल जाता है या विचलित हो जाता है। कभी-कभी तो पटकथा-लेखक पर्दे पर से अपना नाम भी हटा लेते हैं, जब उन्हें लगता है कि निदेशक ने मूल पाठ का बहुत ज्यादा उल्लंघन कर दिया है। इन सब का कारण यह है कि शब्द और बिंब तुल्य नहीं होते।

कथा या कविता पढ़ते समय बच्चा एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण काम सीखता है : अन्य व्यक्ति के शब्दों का बिंबों में अनुवाद करना; ये बिंब दृश्य हो सकते हैं, रागात्मक हो सकते हैं, इत्यादि। पढ़ने से बायें गोलार्ध में वाक् द्वारा निर्धारित विविक्ति की क्षमता पूरी सक्रियता के साथ विरचित होती है। इसके अतिरिक्त, पढ़ा या सुना हुआ शब्द एक और क्षमता विकसित करता है – शब्दों के अनुसार मन ही मन बिंबों को देखना, अर्थात् विविक्ति को मूर्त्तता में पुनर्कोडित करना। यह दूसरी प्रक्रिया पर्दे पर देखते समय बिल्कुल अनुपस्थित रहती है। फल यह होता है कि पढ़ना पसंद करने वाला आदमी अधिक बुद्धिप्रधान व्यक्तित्व विकसित कर लेता है, बनिस्बत कि उस आदमी के, जो शब्दों के माध्यम से विवाद (अर्थात् विविक्ति के स्तर पर विवाद) और चिंतन के बिना ही दृष्टि-अनुभूतियों को ग्रहण करता रहता है। टेलीवीजन देखने में संयम न बरतने पर आदमी के विकास को बड़ा नुक्सान पहुँचता है, बच्चों की व्यक्तित्व-रचना और भी क्षतिग्रस्त हो जाती है।

पिछले समय पत्र-पत्रिकाओं में ऐसे अनेक निबंध आ रहे हैं : "टेलीवीजन कैसे देखना चाहिये", "टेलीवीजन के खतरे" "टेलीवीजन से हानिकर विकिरण", "बच्चे और टेलीवीजन" आदि। एक सीमा से बाहर टेलीवीजन देखने के आनंद से वंचित रहना कहीं अच्छी बात होगी। सिनेमा या थिएटर में हमें दृश्य सूचनाओं की एक निश्चित खुराक मिलती है, फिर घर आकर हम उनके बारे में बातें करते हैं, उन पर मनन करते हैं (मन में ही सही!)। टेलीवीजन के घोड़े रुकते

नहीं है और इसीलिये ठीक समय पर उसे ऑफ करने के लिये बहुत बड़ी इच्छा-शक्ति चाहिये।

2700 अमरीकियों से पूछताछ करने पर निम्न आंकड़े मिले: 90 प्रतिशत लोग सरल विज्ञापनों और धारावाही जासूसी फिल्मों को गलत ढंग से समझते हैं। प्रोग्राम देखने के कुछ ही मिनटों बाद उसका अंतर्य पूछने पर 23-36 प्रतिशत लोग ठीक-ठीक जवाब नहीं दे सके। दक्षिणी कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के अन्वीक्षकों ने प्रारंभिक कक्षाओं के 250 प्रतिभाशाली बच्चों को तीन सप्ताह तक टेलीवीजन के सामने अधिक से अधिक समय तक बैठा कर रखा। "रीडर्स डाइजेस्ट" पत्रिका के अनुसार, "परीक्षण से पता चला कि सभी की सृजनात्मक क्षमता में गिरावट आयी है"। फ्रांसीसी शिक्षाविदों ने निर्धारित किया कि स्कूली बच्चों के शब्द-भंडार घटते जा रहे हैं, वे अनेक किताबी साहित्यिक शब्दों का अर्थ नहीं बता पाते। उनका निष्कर्ष था: "शिक्षण में सफलता टेलीवीजन के सामने बिताये गये समय के साथ व्युत्क्रमानुपाती है।"

इसीलिये टेलीवीजन देखने का एक ढंग होना चाहिये, क्योंकि आखिर उसे अपने जीवन से बिल्कुल निकाल तो सकते नहीं हैं। और यह विवेकसंगत भी नहीं होगा। अनेक वस्तुओं से गठित अनेकानेक प्रकार की स्थितियां हम टेलीवीजन से ही जान पाते हैं। इससे हम शब्दों के पैमाने को भी विस्तृत करते हैं (पहली दृष्टि में यह बात कुछ विचित्र लगती है)। बात यह है कि जब कृत्रिम भाषा शब्द 'कुर्सी' की परिभाषा देने की चेष्टा करती है, तो वह इस वस्तु के सभी औपचारिक लक्षणों को गिनाने में लग जाती है। प्राकृतिक

भाषा सबसे पहले उसे उसके कार्य के माध्यम से परिभाषित करती है: "लकड़ी की बनी एक वस्तु, जिसपर आदमी बैठ सकता है, उसमें उठंगने के लिये पीठ भी लगी होती है।" यह स्थिति का ही एक उदाहरण है।

किसी-किसी को इस तरह की परिभाषाएं बहुत बचकाना लग सकती हैं: "कुर्सी ऐसी चीज है, जिस पर बैठा जाता है", "टेबुल ऐसी चीज है, जिसपर खाना खाया जाता है"... लेकिन भाषाविद किसी भी यथार्थ या काल्पनिक वस्तु को, जिसे विचाराधीन भाषा के किसी शब्द से द्योतित किया जा सके, द्योत्य कहते हैं; और "द्योत्य... कोई ठोस मूर्त्त वस्तु नहीं है, उसके (वस्तु के) बारे में स्थितिपरक धारणा है"। इसीलिये प्राकृतिक भाषा में कुर्सी हम असली कुर्सी को भी कह सकते हैं, जिसे बढ़ई बनाता है, और पत्थर, बक्से आदि वस्तुओं या किसी स्थल को भी कह सकते हैं, जिसपर दृश्य स्थिति (अर्थात् दिक्काल में प्रसार रखने वाली स्थिति) के अनुसार बैठा जा सकता है।

लेकिन आप आपत्ति उठायेंगे: "ऐसे अनेक शब्द हैं, जिनका कोई दृश्य बिंब नहीं बनता, जैसे – 'प्लांक का स्थिरांक', 'डिफरेंशियल', 'एलेक्ट्रोन का स्पिन'; विज्ञानों में ऐसे हजारों शब्द भरे पड़े हैं।" लेकिन हम बता चुके हैं कि विविक्त सूत्रों की भाषा में अपने को व्यक्त करने वाले सैद्धांतिक भौतिकविद भी अपनी 'काजकर' विविक्तियों का 'अकाजकर' दृश्य में, अनुभूतिगत प्रतिमानों में अनुवाद करने की चेष्टा अवश्य करते हैं। सहायक दृश्य बिंब पठन-पाठन में बिल्कुल अनिवार्य होता है और इसीलिये एलेक्ट्रोन के 'स्पिन' को समझाने के लिये नाचते लट्टू का उदाहरण (दृष्टांत) दिया

जाता है। यही कारण है कि शुरुआत के लिये उच्च गणित की भी पाठ्यपुस्तकों में अनेकानेक ज्यामितिक चित्र, आरेख आदि दिये रहते हैं, जिसका एकमात्र उद्देश्य यही रहता है कि वे विविक्ति और अनुभूति के बीच सेतु का काम करें।

विविक्त चिंतन-मनन शब्दों के बिना असंभव है। "मस्तिष्क" नामक पुस्तक में निम्न पंक्ति पढ़ सकते हैं: बायें गोलार्ध की भाषालोचनी उत्कृष्टता शायद अनाटोमिक आधार रखती है। सचमुच, गाने वाले अधिकांश पक्षियों के लिये मस्तिष्क का बायां अर्ध गाने के लिये अधिक महत्त्वपूर्ण होता है; जापान में पठारी बर्फीले इलाकों के मकाका नामक बंदरों के लिये एक दूसरे की चीख-पुकार समझने में बायां गोलार्ध महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है (ये बंदर दिन भर चिल्ल-पों करते रहते हैं)। अन्य तथ्य भी हैं, जो प्रमाणित करते हैं कि ध्वनि को अनुभूत एवं उत्पन्न करने की क्षमता और इस क्षमता की प्रयुक्ति – बायें गोलार्ध – के बीच घना संबंध है। इसीलिये कोई आश्चर्य नहीं कि जब "छलांग के रूप में एकबारगी से गुणात्मक परिवर्तन हुआ और तार्किक चिंतन के उच्चतर, शुद्ध मानवीय रूप में विविक्त चिंतन का उदय हुआ", तो उसका बसेरा बायें गोलार्ध में ही नजर आया। क्योंकि छलांग के रूप में एकबारगी से परिवर्तन किसी भौतिक आधार में किन्हीं मात्रात्मक परिवर्तनों से ही संभव होते हैं। इसके बारे में फ्रीड्रिख एंजेल्स ने लिखा है: "हममें और जंतुओं में सभी प्रकार के चिंतन-कार्य उभयनिष्ठ हैं: आगमन, निगमन और इसीलिये विविक्ति भी... अनजान वस्तुओं का विश्लेषण (बादाम फोड़ना विश्लेषण की ही शुरुआत है), संश्लेषण

(जंतुओं के अनेक चालाकी भरे कार्य), और दोनों के मेल के रूप में प्रयोग (नयी बाधाओं और परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर)। प्रकार के अनुसार ये सभी रीतियां – जिन्हें सामान्य तर्कशास्त्र अन्वीक्षण के साधन करार करता है – आदमी और उच्च जंतुओं में समान हैं। सिर्फ उनके स्तर (तदनुरूप रीति के विकासानुसार) भिन्न होते हैं।" और वर्तमान नर्वशरीरलोचक लिखते हैं: "मस्तिष्क की मुख्य संरचनाएं बिल्ली और आदमी में भी (उदाहरणतया) इतनी साम्यता रखती है कि अक्सर इस बात का कोई महत्त्व नहीं रह जाता कि किसके मस्तिष्क का अध्ययन किया जाये।"

मस्तिष्क का बायां गोलार्ध, जो पूरे विकास-क्रम में विविक्त दृश्य-बिंबों के उपकरण के रूप में विरचित हुआ (स्वाभाविक है कि हम सिर्फ उच्च जंतुओं की बात कर रहे हैं), वाक् की नर्वशरीरलोचनी प्रयुक्ति को भी जन्म देने के लिये तैयार सिद्ध हुआ। वाक्-क्षति और दृष्टि-अज्ञानक्लेशों के बीच घने संबंध इस अनुमान पर गंभीरता से सोचने को विवश करते हैं कि मस्तिष्क के उच्च विभागों – पश्च शीर्ष तथा निम्न शंख वल्कुटों – में दृश्य एवं वाक् संकेतों के संसाधन में रत न्युरोनी संरचनाएं एक जैसी हो सकती हैं। इस संबंध में हार्वार्ड विश्वविद्यालय के सहकर्मियों माइकेल मैकोबी और नैंसी मोडिआनो द्वारा प्राप्त आँकड़े अत्यंत रोचक हैं, जो यह दिखाते हैं कि वाक् का प्रभाव दृष्टि क्षमता पर कैसे पड़ता है। उन्होंने ग्रीनलैंड और संयुक्त राज्य अमरीका में अध्ययन किया कि बच्चे दृश्य रूप में जगत को कैसे ग्रहण करते हैं, उनमें शब्द और बिंब कैसे संबद्ध होते हैं। प्रयोग में स्कूल जाने और नहीं जाने वाले समान उम्र के बच्चों ने भाग लिया था। पता चला कि

ये दो समूह सामान्य ज्ञान में ही नहीं, देखने की कुशलता में भी भिन्न होते हैं: "स्कूल न जाने वाले काफी बड़े बच्चे भी चित्र को उतनी अच्छी तरह नहीं पहचान पाते थे, जितना कि शहर और गाँव दोनों ही के पहली क्लास के बच्चे यह काम कर सकते थे। परिचित वस्तुओं को भी पहचानना न आना अपने-आप में एक दिलचस्प तथ्य है।" इसके आधार पर अन्वीक्षकों ने निम्न परिकल्पना प्रस्तुत की: शिक्षा (और इससे संबंधित वाक् का सक्रियकरण) "अनुभूतिगत जगत के नैसर्गिक एकत्व को नष्ट करती है या कम से कम उस पर अन्य संरचना लाद देती है", अर्थात् वास्तविकता का विश्लेषण करने और वस्तु को एक अन्य प्रकार से अनुभूत करने को विवश करती है। मैकोबी और मोडिग्रानो के अनुसार वाक् दृश्य-विविक्तियों पर और देखने की कुशलता पर प्रभाव डालता है। यूं तो वाक् और दष्टि के संबंध का साक्षी पूरा मानव-इतिहास ही है, लेकिन एटिएन जिलसन जैसे दार्शनिक लोग भी हुए हैं, जिनके मतानुसार "शब्दों से चित्र बनाना उतना ही कठिन है, जितना चित्रों के माध्यम से बात कहना"। लेकिन लेखक हमारी चेतना में इतने सशक्त और सुंदर चित्र शब्दों की ही सहायता से उत्पन्न करते हैं। दूसरी ओर, चित्र-लिपि से बात करने की रीति तो सुविदित है ही। एक भी भावना, मस्तिष्क का एक भी अंचल अन्य अंचलों की सहायता और प्रभाव के बिना काम नहीं करता। इसीलिये तो, दृष्टि और वाक् के संभव संबंधों की बात करते समय हमने दोनों को परस्पर विरोधी या किसी को उत्कृष्ट-निकृष्ट बताने की चेष्टा नहीं की।

इस आधार पर कि दृष्टि हमारे वाक् पर (और इसीलिये शब्दपरक तार्किक चिंतन पर भी) सक्रिय प्रभाव डालती है, यह विश्वास किया जा सकता है कि मस्तिष्क की बनावट और उसके कार्य के पूर्ण सिद्धांत को लोग तभी जान सकेंगे जब वे बोलने और सुनने की ही नहीं, देखने की भी क्रिया का अध्ययन करेंगे। हम जो कुछ देखते हैं, वह किस प्रकार देखते हैं, इसका अध्ययन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसी से हमारी तरह देखने वाले कृत्रिम तंत्रों के निर्माण को भी दिशा मिल सकती है। 1985 के अंत में विलन्युस में एक सिंपोजिउम संगठित हुआ था, जिसका विषय था: "जीवों और रोबटों की दृष्टि"। यहां कई ऐसे शोध-कार्य प्रस्तुत किये गये, जो ग्लेजेर और सहकर्मियों द्वारा प्रस्तुत परिकल्पना की पुष्टि करते हैं। एक प्रयोग भौतिकीय एवं गणितीय विज्ञानों के डाक्टर इलिया वूल तथा मारीना पाव्लोव्स्काया द्वारा संपन्न किया गया था। उन्होंने सिद्ध किया कि यदि कंप्यूटर को खंड-मिथ्याहोलोग्राफिक सिद्धांत पर चित्र ग्रहण करना सिखाया जाये, तो मशीन 'सदृश-असदृश' जैसी अवधारणाओं के साथ लगभग उतने ही विश्वास से काम कर सकेगी, जितना आदमी करता है: दोनों के मूल्यांकन दस में से आठ स्थितियों में संपात करेंगे। यह परिणाम अबतक कोई भी प्राप्त नहीं कर पाया है। ऐसे ही निष्कर्ष किएव विश्वविद्यालय के सहकर्मी ल. वाइनेर्वान, से. माखोवा तथा वे. जीमा ने प्रस्तुत किये, यद्यपि उनकी प्रयोग-रीति कुछ भिन्न निकली। विश्वास करें, न करें, लेकिन यह सच है कि अन्वीक्षकों ने हृदयहीन मशीन को लगभग हमारी तरह ही देखना सिखा दिया है। लगभग... लेकिन अगले कदमों की भी अब देर नहीं है...

* • •

"प्रकृति में कुछ भी सरल नहीं है, उसमें सब उलझा हुआ है, परस्पर जुड़ा हुआ है। लेकिन हमारी उत्कंठा की मांग है उसमें सरलता ढूंढ़ना, उसके समक्ष प्रश्न रखना, वस्तुओं का सार ढूंढ़ना, अपेक्षाकृत अल्प संख्या में प्रक्रियाओं और बलों के विभिन्न मेलों से उत्पन्न बहुरूपता को समझने की कोशिश करना" – विख्यात भौतिकविद् रिचार्ड फेइमान के ये शब्द वैज्ञानिक अन्वीक्षण का अर्थ बहुत अच्छी तरह समझाते हैं। इन्हीं शब्दों से मैं एक नवोदित विज्ञान – दृष्टि के नर्वशरीरलोचन – की कहानी समाप्त करना चाहूंगा, जो कहीं-कहीं अनचाहे ही सतही रह गयी है। फिर भी इस नये विज्ञान का सत्कार बढ़ता जा रहा है और अपनी स्थिति के कारण वह 5-6-ठे दशक की नाभिकीय भौतिकी की याद दिलाता है।

प्रथम संस्करण का उपसंहार

यह पुस्तक सिर्फ इसलिये लिखी जा सकी है कि कोल्तुशी में स्थित शरीरलोचन संस्थान के दृष्टि-शरीरलोचनी प्रयोगशाला के सहकर्मी मुझे निरंतर अपनी खोजों से अवगत कराते रहे, अपने प्रयोगों को दिखाते और उनमें शामिल भी कराते रहे। वैज्ञानिकों और विशेषकर प्रोफेसर ग्लेजेर से बातचीत वह मुख्य आधार बनी, जिसपर परत दर परत अन्य विचारों का विस्तार होता गया। इसीलिये मैं पूरे हृदय से, अपने काम में तल्लीन इन लोगों को धन्यवाद देता हूं कि उन्होंने मुझे एक नयी परिकल्पना का, एक नये सिद्धांत का वर्ष-प्रतिवर्ष विकास-क्रम अवलोकित करने का सुअवसर दिया।

प्रस्तुत कृति के लिये दृश्य अनुभूति के अन्य पक्षों का अध्ययन करने वाले निम्न वैज्ञानिकों के भी परामर्श और व्याख्याएं बहुमूल्य रहीं हैं: प्रोफेसर अ. यार्बुस तथा ग्. रोश्कोवा (पी-एच. डी., जीवलोचन), ए. आवेतीसोव (डा., आयुर विज्ञान) यू. रोजेनब्ल्यूम (डा., आयुर विज्ञान), ल्. मोस्कोवीचते (पी-एच. डी., आयुर विज्ञान)। सोवियत विज्ञान अकादमी के पत्र-सदस्य अ. स्पीर्किन के साथ भेंट-वार्त्ताएं जगत के अनुभवपरक प्रतिमान की विरचना से संबंधित समस्याओं पर दार्शनिक मनन में सहायता मिली। मैं उन सबों के प्रति कृतज्ञता

ज्ञापन करता हूं, जिन्होंने हस्तलिपि पढ़कर मैत्री और सौहार्द से पूर्ण मंतव्य व्यक्त किये।

— लेखक

द्वितीय संस्करण का उपसंहार

प्रथम संस्करण की हस्तलिपि तैयार करने के बाद दृष्टि से संबंधित अनेक परिकल्पनाओं की बारंबार जाँच होती रही। इसीलिये कृति में संसाधन और संशोधन उन्हीं पक्षों का हुआ है, जिनके बारे में आठ वर्ष पूर्व यह कहना कठिन था कि वे सही हैं या गलत। इसी के कारण पूरी रचना में परिवर्तन करना पड़ा। चंद तथ्यों को त्यागना पड़ा, ताकि नये तथ्यों को स्थान मिल सके। प्रोफेसर ग्लेजेर और उनकी प्रयोगशाला के सहकर्मियों के साथ भेंट-वार्त्ताएं पूर्ववत पुस्तक का आधार बनी रहीं, जिसके लिये मैं उनका चिर आभारी हूं।

— लेखक

अनुक्रमणिका/शब्दावली

चेतना consciousness
चैनेल channel
छड़, रेटीना के retinal rods
छन्ना filter
छवि image
छेविम six-dimensional 240
जंतिकी genetics
जंतिकीय genetic 283
जंतिकीविद genetician 374
जनित्र generator
जानुल पिंड geniculated body 3ϵ, 163
जीवभौतिकी biophysics 37
जीवरसायनिक biochemical 25
जीवलोचक biology
जीवलोचन biologist
ज्ञान knowledge 368
—, अंतर्दृष्टिक intuitive k.
—, अंतर्मुखी autistic k.
—, मूक 355
—, यथार्थवादी (बहिर्मुखी) realistic (external) k.
—, वैश्लेषिक analytical k.
—, व्यावहारिक practical k.
—, सैद्धांतिक theoretical k.
ज्यावक्र sinusoid 176

टेलीवीजन से लाभ-हानि 380-1
ठामलोचन topology 97
डाल्टनता daltonism 223
तरंग का गर्त्त wave trough
— — शिखर w. hump.
तलाकृति relief 189
तल्पिक लक्षण clinical symptom 361
तानता tone
तारता pitch 239
तीछ acute 166
— कोण (न्यून कोण) a. angle 287
तीव्रता, प्रकाश की light intensity
त्रिविम three-eimensional 125
थैलम thalamus 44
दमनकारी प्रकृति inhibiting nature 73
दमित inhibited
दिग्ग्रह(ण); दिशाभिमुखन orientation 11
दिशांक coordinate 312
— -मूल origin of coordinates
दिशाक्ष coordinate axis
दुविध (द्विभाजक) रीति dichotomic method 82
दुविम two-dimensional 125
दृष्टि-कुंदता amblyopia 297
दृष्टि-वल्कुट (प्रमस्तिष्क वल्कुट में दृष्टि से संबंधित क्षेत्र) 64, 238
दोलन oscillation 177
दोलनलेखी (दे. कंपलेखी) 222
द्विदृष्टि diplopia 302
द्विध्रुवक कोशिकाएं bipolar cells 157
नर्कोलोचक narcologist
नर्व-अनाटोमिक neuro-anatomic 193
नर्वक्लेश neurosis 57
नर्वतंतु nerve fibres 189
नर्वतंत्र nervous system
नर्वशरीरलोचन neurophysiology 6
निकष criterion 136
निदान diagnosis 303
नियमसंगति law conformity
नृलोचक anthropologist
नेत्रकोया (नेत्र-गोलक) eye-ball 51

नेत्रलोचन ophthalmology 11
न्युरोन neuron 23
परमाणु atom
परवर्ती following; later
परादर्शन paradigm 362
पराभौतिकविद paraphysician 170
परामितक parameter 183
परिकल्पना hypothesis 7, 90-1
परिग्रह postulate
परितारिका iris 27, 45
परिपथ circuit 222
परिप्रेक्ष्य perspective 290
—, रैखिक linear p. 127, 133
परिमाप size
परिसरीय peripheral 162
परिरेखा; पर्याकृति contour
पुनर्गठन restruction 18
पृष्ठभूमि background
पेनरोज का त्रिभुज 155
पेशियां muscles
पोस्ट-इंप्रेसियनिस्ट post-impressionist 125
प्रकाशिकी optics
प्रकाशिकीय optical
प्रकाशिता illuminance 157

प्रकृतिविद naturalist
प्रक्रिया process 9
प्रक्षिप्त projected 66
प्रगतिशील progressive
प्रतिकर्मी संपर्क feedback 227
प्रतिक्रिया reaction
--काल r. time (time lag)
प्रतिक्रियाशील reactionary
प्रतिबिंब reflection
प्रतिबिंबित क. reflect
प्रतिमान (प्रतिरूप) model 6
प्रतिवर्त reflex 23
–, परिस्थितिज conditional r. 64
प्रत्त (प्रदत्त) given 194
प्रत्यभिज्ञान-उपकरण (recognitive) identifying apparatus 136
प्रत्ययवाद idealist 326
प्रपट्टिक (प्ररेखित) वल्कुट prestriated cortex
प्रबुद्ध क. awake 298
प्रमेय theorem
प्रयुक्त device
प्रवणता predisposition 302

प्रवर्धक केंद्र amplifying centre 166
प्रवेगिक dynamic
प्रवेशी 158
प्राग्वाक स्तर 123
प्रिमात primates 26
प्रेक्षण observation
फलक face 100
फलनक संगुणक functional coefficient 206
फलन, भारिक (तौल-) weighting function 205-6
फिसलन (पु.–एक प्रक्रिया) –(स्त्रि.–फिसलाने वाली चीज, जगह) 232
फैशन 334-350
बहुविम व्योम multidimentional space 253
बिंब image 6, 376
बिम्रोनिकी bionics 125
बुनन, अवजनित degenerated texture 236
बुनावट texture 91, 94
भाषा, कृत्रिम 376
–, प्राकृतिक 376
–सीखना 351-2

भाषालोचन philology
भाषाविद linguist
भूकेंद्रिकता geocentricism
--सिद्धांत geocentric theory
भेंगापन heterotropia 297-9
भौतिकवाद materialism 9
भौतिकवादी materialist
भ्रम illusion 103
मनोछाप impression 377
मनोलोचन psychology 6
मनोशरीरलोचन psychophysiology 6
महत्तम वक्रता maximum curvature 151
महाफ्रेम superframe 259
मातृक्स matrix 174
मानदंड standard 334
माप measurement
–, कोणिक angular dimension
–, रैखिक linear d.
मूर्त्त (संभूत) concrete form 16
मोडुल module 199
मोडुली गठन modular organisation 198

युक्ति mechanism 21
यथार्थवाद realism
रंग का त्रिघटकीय सिद्धांत three-componental theory of colour 218
रंग, शून्य 234-5
रश्मिभौतिकविद radiophysicist 184
रश्मिभौतिकी radiophisics
रहस्यवादी mystic
रागात्मक emotional
रूप और सार (अंतर्य) form and content
रूपबद्ध तर्कशास्त्र formal logic 135, 335
रेटीनो-प्रकाशिकी retino-optics 215
रोबट-चित्र robot-portrait 172
लंछक characteristic(s) 26
लंछित क. characterise
लंबन (-दोष) parallax 291
लुंड-विच्छेदन lobotomy 65
लुंडिका lobule
वमहत्था 56-59
वल्कुट cortex
–, (प्र)मस्तिष्क cerebral c.